हमें अलविदा ना कहें

(संस्मरणात्मक निबंध-संग्रह)

भाग-1

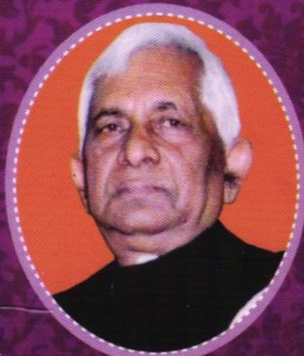

लेखक - सिद्धेश्वर

हमें अलविदा ना कहें

लेखक - सिद्धेश्वर

हमें अलविदा ना कहें

(संस्मरणात्मक निबंध-संग्रह)

भाग-१

लेखक

सिद्धेश्वर

प्रकाशक

सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन

दिल्ली-९२

हमें अलविदा ना कहें

(संस्मरणात्मक निबंध-संग्रह)

भाग-1

ISBN NO. 81- 904100-9-1

लेखक : **सिद्धेश्वर**

प्रकाशक : सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन,
'दृष्टि', यू॰ 207, शकरपुर, विकास मार्ग,
दिल्ली-110092
दूरभाष सं॰- 011- 22530652
E_mail : sidheshwar 66 @ yahoo.com.

@ : प्रकाशक

प्रथम संस्करण : वर्ष 2018

शब्द-संयोजन : गंगा यमुना प्रकाशन, रहमान हाऊस, ग्राउण्ड फ्लोर,
278, रोड नं॰-11डी, पाटलिपुत्र कॉलोनी,
पटना-800013, मो.: 9430559161

मुद्रक : लोकवाणी प्रिंटिंग प्रेस, पटना
29, शशि पैलेस, नाला रोड, पटना
मोबाईल : 9801772460

पृष्ठ संख्या : 400

मूल्य : 1000/- रुपये मात्र (Rs. One Thousand Only)

Hamein Alvida Naa kahein : A Memoir Written by Sidheshwar

Rs 1000/-

सिद्धेश्वर : एक नज़र

पूरा नाम : सिद्धेश्वर प्रसाद

संक्षिप्त नाम : सिद्धेश्वर

पिता का नाम : स्व. इन्द्रदेव प्रसाद

माता का नाम : स्व. फूलझार प्रसाद

पत्नी का नाम : श्रीमति बच्ची प्रसाद

जन्म तिथि : 18 मई, 1941 ई॰

जन्म स्थान : ग्राम+पत्रा. -बसनियावाँ, भाया- हरनौत, जिला- नालंदा, बिहार (भारत)

शैक्षिक योग्यता : सन् 1962 में पटना विश्वविद्यालय से श्रम एवं समाज कल्याण विषय में स्नातकोत्तर

तकनीकी शिक्षा : सन् 1973 में भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग से एस.ए.एस. (Subordinate Accounts Service)

सरकारी सेवा : भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के कार्यालय महालेखाकार, राँची एवं पटना में लेखा परीक्षक से प्रोन्नति प्राप्त करते हुए वरिष्ठ लेखा परीक्षा अधिकारी के पद पर छतीस वर्षों तक सेवा प्रदान करने के पश्चात् सन् 2000 के 31 मई से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेकर वृहतर एवं व्यापक समाज व राष्ट्रहित में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश।

सार्वजनिक सेवा : 1. भारतीय रेलवे के रेलवे हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य
2. अध्यक्ष, बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड, पटना (राज्यमंत्री का दर्जा प्राप्त) इस पद पर 15 सितंबर, 2008 से 14 सितंबर, 2011 तक आसीन।

अभिरुचि : समाज व साहित्य सेवा तथा पत्रकारिता, राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए संघर्षशील तथा रचनात्मक लेखन से जुड़ाव।

रचनाएँ प्रकाशित : 1.'सामाजिक-आरक्षण', 'कल हमारा है', 'समता के सपने', 'आत्ममंथन', बिहार के कुर्मी (निबंध संग्रह) एवं बिहार के कुर्मी (निर्देशिका)

2.स्मृति-'यादें'(भोला प्र. सिंह 'तोमर' की स्मृति में)3.हाइकु

काव्य संग्रह-'पतझड़ की सांझ', 'सुर नहीं सुरीले', 'कवि और कविता'
4. सेन्र्यु काव्य संग्रह-'जागरण के स्वर', 'बुजुर्गो की जिंदगी'
5. काव्य संग्रह-'यह सच है'
6. 'एक स्वप्नद्रष्टा की अंतर्कथा' (जीवनी),
7. 'डॉ. मोहन सिंह : एक तपस्वी मन'
8. शैक्षिक -'समकालीन यथार्थबोध' 9. 'समकालीन संपादकीय'

जीवनी-साहित्य : 1. 'सिद्धेश्वर : व्यक्तित्व और विचार'- प्रो. रामबुझावन सिंह
2. 'सिद्धेश्वर : अंकों से अक्षर तक' डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार

प्रकाश्य पुस्तकें : साक्षात्कार- 1. 'हिंदी के जीवंत हस्ताक्षर', संपादक, डॉ. बलराम तिवारी
2. 'इंसानियत की धुँआती आँखें' 3. 'राष्ट्रीय राजनीति'
4. 'उम्मीद जताते न्यायिक एवं आर्थिक फैसले'
5. 'वैश्विक कूटनीति' 6. यात्रा-संस्मरण : 'मेरी यादगार यात्राएँ' 7. आत्मकथा-'जीवन-रागिनी' 8. 'मेरी जीवन-यात्रा' (हाइकु में आत्मकथा) 1. 'हमें अलविदा ना कहें' 2.'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' (दोनों संस्मरण) 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम'

सम्मान : देश के विभिन्न सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संगठनों द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित।

विदेश यात्रा : 13-15 जुलाई, 2007 को अमेरिका के न्यूयॉर्क में आयोजित 8वें विश्व हिंदी सम्मेलन में बिहार सरकार की ओर से भारतीय प्रतिनिधिमंडल में शामिल होकर सम्मेलन के शैक्षिक सत्र में 'वैश्वीकरण, मीडिया और हिंदी' विषय पर आलेख पाठ एवं परिचर्या में सक्रिय भागीदारी।

संप्रति : राष्ट्रीय महासचिव, राष्ट्रीय विचार मंच, दिल्ली
संस्थापक संपादक, 'विचार दृष्टि', दिल्ली

संपर्क सूत्र : 'दृष्टि', यू. 207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली- 92
दूरभाष: 011-22530652, मो.-9431037221
एवं 'संस्कृति' ए-164, पार्क रोड, ए.जी. कॉलोनी,
शेखपुरा, पत्रा.-आशियाना नगर, पटना-800025,
मो.-9431037221 एवं 9472243949

अनुक्रम पृष्ठ सं.

सिद्धेश्वर : एक नजर.. 3
अनुक्रम 5
समर्पण 12
प्राक्कथन 13
अभिमत 1. डॉ. हरि सिंह पाल 19
2. प्रो.(डॉ.) साधु शरण..................................... 23
3. आचार्य रामविलास मेहता............................ 25
4. प्रो.(डॉ.) पी. लता 27
5. डॉ. शाहिद जमील..29
शुभाशंसा डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'.................................31
पूरोवाक् डॉ. बालशौरि रेड्डी..34
प्रकाशकीय श्री सुधीर रंजन 38

खंड - एक

साहित्यकार

1. प्रेमचंद :
जिनकी व्यापक वरेण्यता आज भी बनी हुई है.....................42
2. डॉ॰ रामविलास शमा :
जो हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष थे.................................47
3. डॉ॰ शिवमंगल सिंह 'सुमन' :
जो ग्रामीण सौंदर्य के कुशल चितेरा थे...............................52
4. डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र :
जो भारतीय संस्कृति की संवेदना से भरपूर थे काव्यात्मका के आख्याता थे..55
5. प्रो॰ रामशरण शर्मा :
जो इतिहास लेखन के शिखर पुरुष थे।.................................59

पृष्ठ सं.

6. डॉ॰ निर्मल वर्मा :
जिन्हें महारत हासिल थी संवेदनाओं को उकेरने में....................64
7. डॉ॰ फ़ादर कामिल बुल्क :
विदेशी जिसे हिंदी ने अपना बना लिया..................................68
8. आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री :
जिनके काव्य का प्रयोजन है सत्यं शिवं सुंदरम्........................72
9. अमृता प्रीतम :
जिनके शैली की प्रतिध्वनि गूँजती रहेगी...............................77
10. डॉ. जगदीश गुप्त :
जो नई कविता के सशक्त हस्ताक्षर थ..............................81
11. प्रो॰ नेमिचंद्र जैन :
जिन्होंने परंपरा को आधुनिक संदर्भों में व्याख्यायित किया.........84
12. शंकर दयाल सिंह :
जो भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि थे....................................89
13. राही मासूम रज़ा :
जिन्होंने अपनी रचनाओं में सांप्रदायिक सद्भावना का संतूर बजाया..93
14. देवेन्द्र सत्याथी :
जो 'भारतीय साहित्य के विलक्षण लोकयात्री थ.........................96
15. फक्कड़ जनकवि बाबा नागार्जुन :
जिनका रचनासंसार छोटों के जीवन संघर्ष की अभिव्यक्ति से भरा था....99
16. डॉ॰ शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव :
जिनकी साहित्य और राजनीति में वरेण्यता सदैव बनी रही......102
17. प्रफुल्ल चंद्र ओझा 'मुक्त' :
जिन्होंने आरंभिक यौवन छाया बनकर बिता दिया.............108
18. प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री :
जो युग-चेतना को प्रतिभा करने वाले साहित्य-शिल्पी थे.........111
19. कवि सुब्रह्मण्यम भारती :
जो राष्ट्रीय चेतना के शिखर कवि थ..................................115
20. राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' :
जो भारतीय संस्कृति के महान योद्धा थे.................................118

21. **कवि त्रिलोचन शास्त्री :**
जो अपनी शर्तों पर जीने वाले अद्वितीय कवि थे......................121
22. **कुर्रतुल ऐन हैदर :**
जो खुद आग का एक दरिया थीं...127
23. **रामवृक्ष 'बेनीपुरी' :**
जिसने सोने की मूरतें बनाकर माटी के मोल बेचा.................132
24. **विष्णु प्रभाकर :**
'आवारा-मसीहा' जिनका पर्याय बना......................................137
25. **अमीर खुसरो :**
जो खड़ी बोली हिंदी के प्रथम महाकवि थे..........................142
26. **डॉ. मणिशंकर प्रसाद :**
जो सामाजिक दायित्व और मानवीय सरोकारों के हिमायती थ.............147
27. **डॉ॰ लक्ष्मी नारायण दुब :**
जो भारतीय संस्कृति के समर्थ व्याख्याता थे...........................151
28. **कवि गोपी वल्लभ सहाय :**
जिनके निधन से टूट गई गीत-परंपरा की एक और
मज़बूत कड़ी...153
29. **कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' :**
जो निश्छल स्वभाव के कवि थे...156
30. **डॉ॰ सहदेव सिंह 'पाचर' :**
जिनकी कविताएँ ही उनके होने का अर्थ प्रतिपादित करती हैं...160
31. **रजनी कांत सिन्हा :**
जिन्होंने बाल साहित्य को समृद्ध किया..................................166
32. **गोपाल सिंह 'नेपाली' :**
जो हिंदी साहित्य में स्वाधीन क़लम के अकेले सिपाही थे.........172
33. **सोहन लाल द्विवेदी :**
जिन्होंने 'वंदना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला दो' लिखा 185
34. **शैल चतुर्वेदी :**
जिनकी हास्य कविता 'चलगयी' के चाहने वाले पूरी दुनिया में फैले है..190
35. **हास्य सम्राट काका हाथरसी :**
जिन्होंने हास्य को हिंदी काव्य में आदर-सत्कार दिलाया...........193

36. <u>सआदत हसन मंटो</u> :
जो साहित्य जगत में आज भी जिंदा हैं अपने लेखन के दमखम के साथ..200

37. <u>फणीश्वरनाथ रेणु</u> :
जिन्होंने कलम और क्रांति के माध्यम से प्रेरणा पाकर सामाजिक यथार्थ से सीधे साक्षात्कार किया..........................203

38. <u>महाकवि आरसी प्रसाद सिंह</u> :
जो छायावादोत्तर हिंदी कविता की स्वच्छंद धारा के जीवन और यौवन के कवि थे 213

39. <u>डॉ. वैद्यनाथ शर्मा</u> :
जो निहायत सीधे-सादे और नेक इंसान थ..........................220

खंड - दो
पत्रकार

40. <u>जयप्रकाश भारती</u> :
जिन्होंने बाल पत्रकारिता को नए-नए आयाम दिए................225

41. <u>नरेन्द्र मोहन</u> :
जो हिंदी पत्रकारिता कें प्रकाश पुँज थ..................................227

42. <u>भानुप्रताप शुक्ल</u> :
जो संघ और राजनीति में चकाचौंध के विरोधी थे.................232

43. <u>रघुवीर सहाय</u> :
पत्रकारिता के माध्यम से वैकल्पिक समाज का निर्माण ही जिनका उद्धेश्य था...235

44. <u>वरिष्ठ पत्रकार शामलाल</u> :
जिनकी ख्याती एक स्वतंत्र और मजबूत विचार के रूप में रही..238.

45. <u>प्रभाष जोशी</u> :
जिन्होंने हिंदी पत्रकारिता को भाषा और तेवर की एक दिशा दी..240

खंड - तीन
कलाकार

46. बिस्मिल्लाह ख़ां : पृष्ठ
जो आज भी ज़िंदा हैं संघर्षशील जीवन में......246
47. नौशाद अली :
जिसने आज की आँखों से गुज़र हुए कल देखने की कोशिश की...253
48. गीतकार शैलेन्द्र :
जो आज भी ज़िंदा हैं संघर्षशील जीवन मं......257
49. मनोहर श्याम जोशी :
जिन्होंने धारावाहिक लिखकर अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया...262
50. मकबूल फिदा हुसैन :
जो सौंदर्य, लोकप्रिय विषय और अद्‌भुत कला के महान चित्रकार थे......265
51. विंध्यवासिनी देवी :
जिनके निधन से लोकगायिकी के एक युग का अवसान हो गया..271
52. वासुदेव नारायण :
जिनका सान्निध्य सदैव स्मरणीय रहेगा......274
53. पं॰ श्यामदास मिश्र :
अभाव के बीच भी जिन्होंने संगीत की दुनिया में अपनी एक अलग पहचान बनाई......277

खंड- चार
राजनीतिज्ञ

54. देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद :
जिन्होंने देश के सर्वोच्च पद पर रहकर ऐसे मानक प्रस्तुत किए जो भारतीय राजनीति के लिए निकष भी है और प्रेरणा के श्रोत भी......280
55. लौहपुरुष सरदार पटेल :
जो भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीय एकता व अखंडता के प्रतीक थे......291

56. लाल बहादुर शास्त्री :
जो गरीबी में पलकर, भारतीयता में ढलकर प्रधानमंत्री के पद पर आसीन हो राष्ट्र के जन मानस मं रेखांकित हो गए............300
57. बाबा साहब डॉ॰ भीमराव रामजी आम्बेडकर :
कब बनेगा जिनके सपनों का भारत?....................................303
58. बाबू जगजीवन राम :
जो राजनीति के एक गतिशील यात्री थे.................................308
59. के॰आर॰ नारायणन :
जिनका राष्ट्रपति काल स्मरणीय रहेगा...................................314
60. प्रो. मधु दंडवते :
जिनके जीवन में अंतिम घड़ी तक समाजवाद प्रतिबिंबित होता रहा..316
61. लोकनायक जयप्रकाश नारायण :
संपूर्ण क्रांति का जिनका सपना आज भी अधूरा ह.................318
62. सर गणेश दत्त :
जिन्होंने राजनीति को साधन नहीं साध्य माना........................321
63. वीरचन्द पटेल :
जो राजनीति में रहकर भी राजनेताओं की कमजोरियों से अलिप्त थे 325
64. सत्येंद्र नारायण सिंह :
जिनकी आत्मकथा अतीत में झाँकने का एक साधन बनेगी...333
65. जगदेव प्रसाद :
जो अनवरत अनथक संघर्ष के यात्री थे...............................336

खंड - पाँच
समाज-सेवी

66. देवेन्द्र कुमार कर्णावट :
जिनके चिंतन में युगबोध का प्रभाव था.............................340

67. <u>पोप जॉन पॉल द्वितीय</u> :
जिनके निधन से जनता का एक और पोप विदा हो गया.........345
68. <u>डॉ. लक्ष्मीमल सिंधवी</u> :
जो परम स्वाध्यायी और ज्ञान यज्ञ के पुरोधा थे.....................348
69. <u>डॉ॰ रंगी प्रसाद सिंह 'रंगम'</u> :
जिनका परवर्ती जीवन साहित्य को समर्पित था.......................351
70. <u>डॉ. पी. एन. सिन्हा</u> :
जो राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना के संवाहक थे..................354
71. <u>आर पी सिन्हा</u> :
जो हमारी आस्था के अग्रज थे...358
72. <u>कृष्णनन्दन सहाय</u> :
जो सामाजिक सरोकारों से सदैव जुड़े रड़े...........................361
73. <u>डॉ. मोहन सिंह</u> :
जो गहरे सामाजिक सरोकारोंवाले अंतर्मुखी चिकित्सक थे.........364
74. <u>राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज</u> :
जो सामाजिक क्रांति के सूत्रधार थे.....................................369
75. <u>बाबा आम्टे</u> :
जो कुष्ठ रोगियों के लिए वरदान थे..................................372
76. <u>फील्ड मार्शल मानेक शा</u> :
जिसने पाक सेना को घुटने के बल ला दिया.......................377
77. <u>सीताशरण शर्मा</u> :
जिन्होंने जीवन को तराशा नहीं, बल्कि उसकी अनगढ़ता
में जीवन देखा...382
78. <u>अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी</u> :
जिन्होंने सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग कर भौतिक
विकास के साथ नैतिक मूल्यों के विकास पर जोर दिया.......386
79. <u>पं. ओम प्रकाश कौशिक</u> :
जो अणुव्रत आंदोलन से जुड़े एक तपे-तपाए अणुव्रती थे.......393
80. <u>वीरांगना झलकारी बाइ</u> :
जो लक्ष्मीबाई का वेषधारण कर रणचंडी बन
अँग्रेजों पर टूट पड़ी 399

समर्पण

देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

आजाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, जिन्होंने
देश के सर्वोच्च पद पर रहकर ऐसे मानक प्रस्तुत किए जो
भारतीय राजनीति के लिए निकष भी हैं और प्रेरणास्रोत
भी, जिनमें एक साथ प्राचीन की सुगंध और नया
आलोक दोनों समेकित रूप से विद्यमान रहे,
बोलने की बजाय सुनना जिन्हें अधिक
पसंद था, जिनका ऋषितुल्य
व्यक्तित्व, संस्कृति, सभ्यता,
समाज और राजनीति
का एक त्वरित
ज्योतिपूँज है,
परंपरा और आधुनिकता के बीच एक सेतु की भूमिका निभाते हुए
जिन्होंने दोनों में अद्‌भुत समन्वय स्थापित किया और
शास्त्र की अपेक्षा लोक को अधिक महत्व दिया,
जिनके मन में नारी की गरिमा और वंचित
वर्ग के प्रति सम्मान का गहरा
स्थान था, को यह कृति
सादर समर्पित।

(सिद्धेश्वर)

प्राक्कथन

जीवन और मरण किसी इंसान के हाथ की बात तो होती नहीं, यह तो ऊपरवाले के हाथों में है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि मनुष्य का इस पृथ्वी पर आना और उसका यहाँ से परलोक चले जाना भी निश्चित होता है। इस तरह लोगों का आना-जाना लगा रहता है, फिर भी किसी के निधन का हादसा परिवार के लिए असहनीय तो होता ही है, मित्रों, शुभेच्छुओं, सगे-संबंधियों, हितैषियों तथा आम जनों के लिए भी यह दुःखद होता है। यह बात ठीक है कि किसी के निधन के बाद समय के साथ-साथ घाव अवश्य भर जाते हैं, पर उनकी टीस नहीं जाती। वह तो स्मृतियों के पंख पर बैठकर, निराशा के नीड़ में घुसकर, रह-रहकर अपनी चोंच मारती रहती है।

जब कोई इस संसार से विदा होता है, तो उसके साथ बिताया गया समय, गुज़रे पल-क्षण, उसकी बातें, उसके कार्यकलाप और उसके द्वारा किए गए समाज व देश हित में योगदान चलचित्र की रील की तरह मानस-पटल की आँखों के समक्ष घूमने लगते हैं। आदमी अतीत के गर्भ में पहुँच जाता है और मरण दुःख देता रहता है। किंतु जैसा कि मैंने पूर्व में कहा कि कोई भी अमर तो रहता नहीं, जन्म जीवन, मृत्यु में परिणत होता रहता है। फिर भी मृत्यु होने पर दुःख होता है और जन्म लेने पर सुख। दरअसल दुःख अधिक संग्रह और सुख केवल सुख के केंद्रीकरण के विरुद्ध एक चेतावनी है। इसीलिए अतीत का वर्तमान में पुनः स्मरण करने से हममें हिम्मत आती है और स्मृति हमें नीति-मार्ग पर चलने की सत्प्रेरणा देती है। भारतीय चिंतन में भी ज्ञान के प्रतिकल्प 'स्मृति' को विशेष मूल्य इसलिए प्रदान किया गया है कि इससे अनिष्टकारी तत्त्वों का अभिज्ञान होता है जिसके परिमाणस्वरूप व्यक्ति अनिष्ट छोड़कर इष्ट की ओर प्रवृत्त होता है। यही नहीं, संस्मरणीय व्यक्तित्व के स्वस्थ निरूपण, उनकी कृतियों के आकलन, उनके पुनर्मूल्याँकन से हमारा दृष्टिकोण भी स्पष्ट होता है और तब हमें वर्त्तमान से जूझते हुए अपने भविष्य का रास्ता तय कर पाने में आसानी होती है।

इसी के मद्दनज़र मौत से विचलित होकर परिवारवाले उनकी याद और प्यार को चिरस्थाई बनाने के लिए कोई न कोई उपाय करते हैं। कोई मृत व्यक्ति की प्रतिमा बनाता है, तो कोई वृक्ष भी लगाता है। राष्ट्र के कर्णधारों तथा महापुरुषों के निधन के बाद उनके स्मारक बनाए जाते हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के चले जाने के बाद कृतज्ञ राष्ट्र द्वारा नई दिल्ली के राजघाट पर बापू की समाधि बनाई गई, जिस पर हम अपना शीश झुकाकर उनकी स्मृति को नमन करते हैं। इसी

प्रकार राजघाट के पास ही नेहरू जी, शास्त्री जी, जगजीवन बाबू तथा चौधरी चरण सिंह के स्मारक-स्थल भी बने हैं, जिनसे उनकी याद को देशवासी ताजा रखते हैं।

इसी ख़्याल से अपने हितैषी, शुभेच्छु, समानधर्मी, मार्गदर्शक तथा देश व समाज के हितचिंतक आदि की स्मृति को ताज़ा रखने और उनके साथ अपने संबंधों को चिरस्थाई बनाने के लिए मैंने भी एक उपाय ढूँढ़ा और 'हमें अलविदा ना कहें' नाम्नी इस पुस्तक रूपी स्मृति का हमने एक पेड़ लगाया। इस पुस्तक में हमने अनेक साहित्यकार, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, संगीतकार एवं कला के मर्मज्ञ, चिकित्सक तथा समाज-सेवी के अनेक हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी संस्मरण संजोए हैं। एक ओर इन संस्मरणों में हमने लोगों से जुड़े अपने नितांत निजी अनुभवों की सरल एवं सहज रूप में अभिव्यक्ति दी है, तो दूसरी ओर सामूहिक अनुभवों और सरोकारों का भी समावेश किया है जो अपनी सरलता और सहजता में बड़ा अर्थ-व्यंजना से भरे हुए हैं। कई संस्मरणों में अत्यंत सहज भाव से साधारण में साधारण की अंतःछवि को दर्शाते हुए प्रस्तुत किया गया है। कई संस्मरणीय लोगों की ज़िंदगी को, उनके संघर्षों को, उनकी ज़िंदादिली को और उनके समर्पण को रेखांकित करने का मैंने प्रयत्न किया है, ताकि पाठक अपने अंदर एक नई ऊर्जा महसूस कर सकें। नेपोलियन ने कहा है, "क़ानून, संस्थाएँ, स्मारक चिह्न, राष्ट्र सभी अदृश्य हो जाते हैं, परंतु उनकी प्रतिध्वनि होती है।" इस पुस्तक के सभी संस्मरणीय व्यक्तित्वों ने अपने अस्तित्व के चिह्नों को छोड़ा है। इसीलिए उनके जीवन ऊर्जस्वी और स्मरणीय हैं। "यदि कोई अपने अस्तित्व के चिह्नों को नहीं छोड़ता, तो बेहतर है कि वह व्यक्ति जीवनहीन रहे।"

स्मृति रूपी पेड़ लगाने की हमारी कल्पना एक संस्मरणात्मक पुस्तक की सूरत में आपके हाथों में है। संस्मरणीय व्यक्तित्व की हमारी यह जानकारी आप पाठकों के लिए शायद विस्मयकारी होगी। यह बात ठीक है कि संस्मरणीय व्यक्तित्व अब हमारे बीच नहीं हैं, मगर हमारे स्मृति-पटल पर वे सदा-सर्वदा अंकित रहेंगे। ऐसे ही चित्रों का रेखांकन किया गया है इस पुस्तक में। सच कहा जाए तो संस्मरण लिखना तलवार की धार पर चलने के समान है, क्योंकि हम वास्तव में जो हैं वह दिखने के आदी नहीं हैं, तथापि हमने यथासंभव उनके वास्तविक रूप को शब्द देने का प्रयत्न किया है, लेकिन पूरी संवेदना के साथ। आक्रामक होना मेरे स्वभाव के प्रतिकूल है। वैसे भी व्यक्ति का सही अध्ययन दोनों पक्षों को लेकर ही हो सकता है, लेकिन अपने को दूसरों की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति हममें नहीं है। यह भूल जाते हैं कि कमज़ोरियों से कटकर कोई महान नहीं हो सकता। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अतिरिक्त दोष-दर्शन या

अतिरिक्त प्रशंसा को व्यक्ति की पहचान मान लें।

आत्मकथा के पश्चात् संस्मरण एक ऐसी विधा है, जो लेखन के समक्ष चुनौती प्रस्तुत करती है पहली तो पाठक को साथ लेकर चलने की यानी वे संस्मरण जिसमें पाठकों की दिलचस्पी से वह वर्णन और ब्योरों में रम सके। दूसरी यह कि संस्मरण के लेखक दूसरों के बारे में वर्णन करते वक्त प्रायः अतिरंजना से काम लेते हैं। इसलिए अपनी कमजोरियों का वर्णन करने से प्रायः वह गुरेज करता है।

सच कहा जाए तो संस्मरण, पत्र, डायरी अपनी तरह की विशिष्ट विधाएँ हैं, जो कई मायनों में कविता, कहानी तथा उपन्यास आदि से अधिक कठिन भी है। कठिन इस अर्थ में कि कविता अथवा कहानी में तथ्य और संदर्भों की प्राथमिकता की बंदिश नहीं होती, जबकि संस्मरण, पत्र या डायरी में तथ्यों और संदर्भों के आलोक में कविता और कथा का आस्वाद संभव करना होता है।

संस्मरण में सिर्फ़ जीवन से जुड़ी घटनाओं और क्रियाकलापों को क्रम से लाया ही नहीं जाता, बल्कि अनेक चित्रों, रीति-रिवाजों, मध्यवर्गीय जीवन की मान्यताओं, जीविका से जुड़े प्रश्नों को पार करते हुए एक ख़ास तरह से जीवन के उतार-चढ़ाव को संस्मरण के रूप में प्रस्तुत करना होता है। पाठक अगर किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं है या स्वयं अपनी महान प्रतिभा से आक्रांत नहीं है, तो कहा जा सकता है कि संस्मरण का एक-एक पृष्ठ आत्मीयता का कुछ इस प्रकार परिचय देता है कि मन अपनत्व से भर जाता है।

इस संस्मरणात्मक कृति के माध्यम से रचनात्मक व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू सामने आए हैं। हो सकता है इनमें से किसी व्यक्तित्व का जिस तरह मूल्याँकन किया जाना चाहिए उस तरह हमने नहीं किया। बेशक उनकी कमज़ोरियों पर चर्चा होनी चाहिए, लेकिन निश्चय ही उनकी ताक़त कमज़ोरियों से कई-कई गुणा अधिक है। फिर भी यह कहना चाहूँगा कि जिस तीव्र संवेदनशीलता के साथ हमने उनके जीवन को खंगाला है उससे निश्चित रूप से पाठकों की समझ विकसित होगी और संस्मरणीय व्यक्तित्व के बारे में जो संशय और विभ्रम की स्थिति रही है वह भी साफ़ होगी, क्योंकि यह संस्मरण उनको असली रूप में देखने की तलाश है।

प्रस्तुत पुस्तक में सम्मिलित संस्मरणों को मैंने इस ढंग से पेश करने का प्रयास किया है कि ये व्यक्ति के भाव-संस्मरण को उकेरने के साथ-साथ आधुनिकता बोध की चेतना से भी संबंधित हैं। संस्मरण को पंक्ति-दर-पंक्ति में उनके जीवन की कहानी छिपी है। साथ ही संस्मरणों के माध्यम से इस पुस्तक

में हमारी अनेक अंतरंग छवियाँ तो उभरकर आई ही हैं, हमारे रचनात्मक व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू भी पाठक के सामने आए हैं। इन संस्मरणों में एक ओर वर्णन, विवरण एवं चिंतात्मक टिप्पणियाँ हैं, तो दूसरी ओर भविष्य की चिंता। नायकों के व्यक्तित्व और उनके प्रति मेरी भावना और विचार इनमें खुलकर आए हैं। इन संस्मरणात्मक निबंधों में कहीं मेरे अपने सुख-दुःख व्यक्त हुए हैं, तो कहीं संस्मरणीय व्यक्ति के जीवन और व्यक्तित्व के अपने विशिष्ट पक्ष। इन संस्मरणों के प्रसंग से उनके शीर्षकों की सार्थकता प्रदान करने का मेरा प्रयास रहा है। जिन तथ्यों को मैंने इनमें कहा है उनमें बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं जो मुझे भावपूर्ण और विचारमग्न भी करती हैं। इसीलिए इनमें निश्छलता, आत्मीयता और भावप्रणता हैं- पूर्णतः निष्कपट। मुझे ऐसा लगता है कि जो भी पाठक इन संस्मरणों को पढ़ेंगे वे उनके व्यक्तित्व व कृतित्व से प्रभावित होकर मानसिक स्तर पर संस्मरणीय व्यक्ति के साथ आत्मीयता भी स्थापित कर लेंगे।

इन संस्मरणों के माध्यम से मैंने जो कुछ स्मृतियाँ संजोकर रखी हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। दरअसल किसी चीज़ की प्राप्ति उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि उसे स्थाई रूप से सुरक्षित रखना। सच तो यह है कि संस्मरण लिखने के पीछे मेरा जो मानना ह वह यह कि संस्मरणीय व्यक्तित्व से जुड़े अपने अनुभवों और पूर्व-मिलन की स्मृतियों को कहीं पीछे छोड़ आना मैं नहीं चाहता था। इसी का प्रतिफल है यह पुस्तक। सच कहा जाए, तो प्रारंभ से ही हमारा यह प्रयास रहा है कि पत्रकारिता को साहित्य से जोड़ा जाए। संस्मरण और डायरी जैसी विधाएँ अपनी यथार्थता के चलते साहित्य में ऊँचा स्थान पा सकती हैं, क्योंकि इनमें यथार्थ का भ्रम नहीं, बल्कि यथार्थ का क्रम होता है, जो पाठकों को रचनाकार से तादात्म्य स्थापित कर दता है। इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि स्मृतियाँ सहेजकर रखी जाती हैं, पर जब तक उन्हें लिपिबद्ध कर किसी संग्रह में सम्मिलित न कर लिया जाए, तो ये मानस-पटल से खिसक भी सकती हैं। कुछ इसी ख़्याल से संस्मरणीय व्यक्तित्व से जुड़ी स्मृतियों को शब्दबद्ध किया गया है।

यह बात ठीक है कि अतीत में वापस नहीं लौटा जा सकता, किंतु झाँका तो जा ही सकता है और झरोखे से झाँकती अतीत की गाथा को पुनः पाठकों तक पहुँचाया जा सकता है। यह पुस्तक अपने सही और स्वस्थ रूप में पाठकों को अतीत में झाँकने का अवसर देती है वरना विस्मरण हावी रहता है, जो बुद्धि का विनाश करता है और अंतःकरण को धूमिल करता है। इसी से बचने के लिए इस पुस्तक की रचना की गई है। यूँ तो अतीत के आदर्शों पर वर्तमान पग-पग पर मुँह चिढ़ाता है, मगर वर्तमान का शंकास्पद होना स्वाभाविक है। पुरातन की गुहार में

कितना कुछ प्रामाणिक आत्मालोचन और संस्मरणीय व्यक्तित्व का कितना खुला और बारीक विश्लेषण हो पाया है, साथ ही भविष्य की दृष्टि से यह कितना हितकर होगा, यह तो पाठक ही बता पाएँगे या फिर आलोचक जिनके हाथ में यह पुस्तक है, पर इतना अवश्य है कि इस पुस्तक में जो विश्लेषण किए गए हैं, वे संश्लिष्ट, भावपूर्ण और विचारपूर्ण हैं। इस लिहाज़ से इसकी संश्लिष्टता ही यह माँग करती है कि उनके अतीत का वर्तमान के झरोखे से बारीक तौर पर देखा-परखा जाए।

इस पुस्तक में सम्मिलित संस्मरण छिट-पुट ढंग से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं, किंतु इसके अधिकांश संस्मरण दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हैं, जिनकी देश भर के सुधी पाठकों ने मुक्त कंठ से सराहना की है, क्योंकि हमारे ये संस्मरण सृजनशीलता का सौष्ठव विश्लेषण करते हैं और संस्मरणीय व्यक्तित्व के निश्छल पक्ष को बेबाकी से रेखांकित करते हैं। उनके बारे में हमने जो देखा-जाना और समझा है उसे सामने लाकर फिर रूबरू उनसे होने का अवसर प्रदान करता है।

यह पुस्तक दिवगंत साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों, राजनीतिज्ञों और समाजसेवियों की स्मृतियों के गवाक्षों में झाँक उनकी यादों को पुन: ताजा करने का मैं दम नहीं भरता, पर एक प्रयास है उनके प्रति एक याद, एक श्रद्धांजलि, उनके व्यक्तित्व व कृतित्व के तमाम तथ्य पर जानकारी प्रस्तुत कर इसे एक दस्तावेज बनाने की मेरी कोशिश रही है। भावी पीढ़ी को इन संस्मरणों से एक नई दृष्टि मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

'मुझे अलविदा ना कहें' नाम्नी संस्मरणात्मक निबंध संग्रह में संस्मरणात्मक व्यक्तित्वों की संख्या में वृद्धि हो जाने की वजह से निबंध संग्रह को दो भागों में किया गया है। 'मुझे अलविदा ना कहें' नाम्नी संस्मरणात्मक निबंध संग्रह के भाग-1 में जहाँ कुल 80 संस्मरण हैं, वहीं 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' नाम्नी संस्मरणात्मक निबंध संग्रह भाग-2 में कुल 74 संस्मरण हैं। वो तमाम नामवर लोग, जिन्होंने साहित्य, समाज, राजनीति और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा, मौलिकता और मिजाज़ से राज किया, कैसे अपने दुर्दिनों में हताश, बेचैन और तन्हा छूट गए, कैसे उनका राज-पाट खंडहर की मानिंद यहीं रह गया, किस तरह वे खुद एक ध्वस्त इमारत में बदल गए, इन सबका मार्मिक रेखांकन इस पुस्तकों में है। उनके व्यक्तित्व, कृतित्व, जीवन जीने के अंदाज़ और अपने समय से उनके सरोकारों की झलक पेश करने का मेरा प्रयास रहा है। पुस्तक

में कुछ व्यक्तित्व ऐसे हैं, जिनके ज़रिए उस दौर का पूरा सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक यथार्थ उसकी संपूर्ण जटिलता, विरोधाभासों और अचरजों के साथ प्रस्तुत किया गया है। वक़्त की बेरहम आँधी में कितने उजड़कर चले गए, मगर समय की शिला पर दर्ज व्यक्तियों पर केंद्रित इन संस्मरणात्मक निबंधों में हमने अपनी आलोचकीय टिप्पणियाँ भी दर्ज की हैं, जो संभवत: हमारे पाठकों को पसंद आएँ।

जिन मित्रों, शुभेच्छुओं, लेखकों, सहयोगियों एवं साहित्यकारों का अपेक्षित सहयोग इसके संकलन और प्रकाशन में मिला है, उनमें डॉ॰ शाहिद जमील, अखिलेश्वर प्रसाद, मनोज कुमार, सुरेश कुमार सिन्हा आदि के नाम उल्लेखनीय है। मैं हृदय से इन सभी शुभेच्छुओं के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। शब्द-संयोजन में गंगा-यमुना प्रकाशन, पटना के साथ भाई अमित कुमार का योगदान रहा है, व धन्यवाद क हक़दार हैं।

हम कृतज्ञ हैं उन सभी सहृदय साहित्यकारों के जिन्होंने इस कृति पर अपना अभिमत, शुभाशंसा तथा पुरोवाक् लिखने की कृपा प्रदान कर हमें कृतार्थ किया है।

(सिद्धेश्वर)

संपर्क: 'दृष्टि', यू॰ 207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली-92
दूरभाष संख्या: 011-22530652, 22059410

पूर्व अध्यक्ष, बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड
'संस्कृति', ए-164, ए.जी.कॉलोनी, शेखपुरा, पटना-25
मो. 9431037221, 9472243949

E_mail : sidheshwar 66 @ yahoo.com.

अभिमत

बहुत क़रीने से संजोयी जीवन से जुड़ी कथा-स्मृतियाँ

डॉ. हरि सिंह पाल

बीते दिनों की यादें इंसान का पीछा नहीं छोड़तीं और फिर जब यादें जाने-माने शख़्सियत से जुड़ी हों, तो उन्हें भुलाना आसान नहीं होता। 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' इन दो पुस्तकों के माध्यम से देश के कुछ चुनिंदे साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों, राजनेताओं तथा समाज सेवियों से जुड़ी अपनी यादें पाठकों के समक्ष ताज़ा की हैं लेखक सिद्धेश्वर ने अपने नए अंदाज़ और ओजपूर्ण शैली में। संस्मरण लेखक के रूप में अपनी अलग पहचान बनाने वाले चर्चित पत्रकार सिद्धेश्वर ने उन व्यक्तित्वों से जुड़ी ऐसी आपबीती घटनाओं की चर्चा की है इन संस्मरणात्मक निबंधों में, जो पाठकों के मानसिक पटल पर सहसा रेखांकित हो आते हैं इनसे गुज़रने के बाद।

प्रत्येक मनुष्य का जीवन इंद्रधनुषी है। यह रंगों से सजा हुआ एक पुष्प-गुच्छ है। यह मुरझाता है और फिर टूटकर गिर जाता है। फिर भी हवाओं में अपनी रंग-स्मृति और गंधमयता विसर्जित कर जाता है और उसके जीवन से जुड़ी कथा-स्मृतियाँ रह जाती हैं। इन्हीं स्मृतियों को बहुत क़रीने से संजोया है संस्मरणात्मक निबंध संग्रह के इन दोनों पुस्तकों के माध्यम से लेखक ने इन संस्मरणों में। ये कथा स्मृतियाँ उस चुंबकत्व को जागृत करती हैं जिससे पाठकों के जीवन-जगत में प्रेम और ज्ञान की प्रवृत्ति का संचार होता है। आज के भौतिकवादी समय में तनाव और कुंठा के मूल कारण हमारे अंतरंग का धूमिल होना है। इसे खोजना होगा। संस्मरणात्मक निबंधों के इन दोनों पुस्तकों से हमारे भीतर के सूखते रसों और रंगों को चटख किया जा सकता है और मनुष्य उत्सवोन्मुखी हो सकता है बशर्ते कि पाठक इसकी गहराई में जाकर इसका रसास्वादन करें।

विगत कई दशकों में साहित्यकार, पत्रकार एवं सामाजिक चिंतक के रूप में अपना विशिष्ट स्थान बनाने वाले सिद्धेश्वर जी के द्वारा विरचित इन दोनों पुस्तकों के संस्मरणात्मक निबंधों में मानव-मन तथा आपसी संबंधों के ऐसे आयाम दिखाई देते हैं, जो पाठक को मात्र पढ़ने का ही सुख नहीं देते, अपितु बहुत कुछ सोचने-समझने के लिए भी विवश करते हैं। संस्मरणात्मक निबंधों के ये दोनों नवीनतम संग्रह 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे

जेहन में' एक अद्भुत बोन्साई गाथा है। बरगद का पेड़ देखने के हम कितने ही अभ्यस्त क्यों न हों, उसका बोन्साई रूप हमें चमत्कृत किए बिना नहीं रहता। हमें दाद देनी होगी लेखक द्वारा की गई किसी बड़े से बड़े हस्ताक्षर के जीवन-आयामों की संक्षिप्तता का जिसमें गागर में सागर भरने का साहित्यिक कौशल उन्होंने दिखाया है और जो मानवीय समीकरणों और संवेदनाओं को न्यूनतम शब्दों में समेटकर पाठकों के हृदय तक पहुँचने की सामर्थ्य रखते हैं। यह संस्मरण पाठकों के मन में कौतूहल जगाते हुए आह्लादित करते हैं। यह बात ठीक है कि आर्थिक उपलब्धियों के पीछे दीवानगी की हद तक भागते आदमी के पास साहित्य के लिए वक़्त घटता जा रहा है। अधिकांश पाठकों की रुचि सिमटकर फ़िल्मी गप्पों, दूरदर्शन धारावाहिकों तथा अख़बार की सुर्ख़ियों तक सीमित हो गई हैं, किसी भी क्षेत्र में लोग हल्का-फुल्का मनोरंजन ही चाहते हैं, लेखक की इन नवीनतम कृतियों में कुछ ऐसी सामग्री है, जो पाठकों को कुछ सोचने-समझने के लिए विवश तो करती ही है, मानवीय संबंधों के कई नए आयाम भी खोलती है। ये सभी संस्मरण अलग-अलग मूड में लिखे गए हैं, लेकिन इनका केंद्रीय स्वर एक ही है और वह है अपने पाठकों से सीधा संवाद स्थापित करना। इसमें लेखक को जबर्दस्त कामयाबी हासिल हुई है। संस्मरण-लेखक के रूप में निश्चित रूप से इसके लेखक की एक अलग पहचान बनती है।

संस्मरणात्मक निबंध की इन दोनों पुस्तकों के लेखक की यह विशेषता है कि न केवल ये अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सतर्क हैं, बल्कि अपने लेखन से ये दूसरों को भी सहभागी बना लेते हैं और कुछ आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं को महत्त्व देते हैं। भले ही वे पूरी तरह साकार नहीं हो पाते, लेकिन उनकी प्राप्ति के लिए हर क़दम पर नए-नए उपाय खोजते रहते हैं। इनकी पुस्तक 'मुझे अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' के माध्यम से पाठकों को दिवंगत साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों, राजनेताओं तथा समाजसेवियों के जीवन के ऐसे पक्षों को भी निकट से देखने-पढ़ने का अवसर मिलता है, जो अपने आप में प्रेरक और उत्साहवर्द्धक हैं। इसी प्रकार उनके संस्मरणों में कई प्रसंग ऐसे भी आए हैं, जो उन व्यक्तित्वों के बदरंग पहलुओं को उजागर करते हैं। कहीं-कहीं उन विभूतियों के जीवन के एक खंड का सजीव और प्रामाणिक चित्रण भी किया गया है जिससे पता चलता है कि उन्हें प्रस्तुत करने का कौशल भी संस्मरण-लेखक के पास है। इसलिए लेखक के ये संस्मरण पठनीयता से परिपूर्ण हैं; हमें बाँधते हैं और काफ़ी हद तक प्रभावित भी करते हैं।

संस्मरणीय व्यक्तित्वों के जीवन का इतना व्यापक रूप प्रस्तुत किया गया है कि हमें अभिभूत करते हैं। इनके संस्मरणों में व्यक्ति केंद्रस्थ है। इसीलिए वे व्यक्ति की मनोवृत्तियों का जितना उद्घाटन करते हैं, उतना ही उनकी सामाजिक क्रियाओं और सरोकारों का भी। मानव जीवन के बड़े सरोकारों की अभिव्यक्ति के चलते ही इनके संस्मरण के आस्वादन में दरार नहीं पड़ता है। लेखक संस्मरणीय व्यक्तित्वों के जीवन की मार्मिक घटनाओं का चित्रण करने में सफल हुआ है। ये प्रभावशाली चित्रों का निर्माण करने में भी सफल रहे हैं।

सच तो यह है कि लेखक ने स्वयं भी अपनी ज़िंदगी की अनेक चुनौतियों का जोशोख़रोश से मुक़ाबला कर व्यक्तित्व के विभिन्न गुणों का सहजता से अपनी शानदार ज़िंदगी में समाविष्ट किया है। इनकी खुद की ज़िंदगी का सफ़रनामा इस बात का साक्षी है। आज भी ये जिस तरह से ज़िंदगी बसर कर रहे हैं, उस पर गर्व किया जा सकता है। जब हम इन दोनों पुस्तकों के संस्मरणों से गुज़रते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन संस्मरणीय व्यक्तित्वों ने लेखक को समाज और साहित्य सेवा करने के लिए इनके मन में मानवीय भावों को जाग्रत किया। यही नहीं, उन्होंने न केवल उन्हें संस्कार दिए, बल्कि इनके मन में उपलब्धियों को साकार करने का जज़्बा भी जगाया, जिसे आज भी ये भुलाए नहीं भूलते। उनकी सक्रियता का राज़ यह भी है कि इनकी राय में समाज उन व्यक्तियों का सम्मान करता है, जो शारीरिक व मानसिक रूप से सक्रिय रहते हैं। मैं लेखक की इसी सोच का सम्मान करता हूँ। पुस्तक के संस्मरणीय व्यक्तित्व के साथ-साथ जब मैं लेखक के व्यक्तित्व पर एक नज़र डालता हूँ, तो पाता हूँ कि समझदार और हर स्थति में साथ निभाने वाले मनमाफिक इन्हें बच्ची प्रसाद जैसी जीवन-संगिनी भी मिली हैं, जिनके सहयोग के बल पर बग़ैर किसी दबाव के सिद्धेश्वर जी अपने कार्य करते आ रहे हैं। जिस तरह से इनकी अर्द्धांगिनी घर-गृहस्थी की देखभाल करती रही हैं, उससे इनके मन में परिवार को लेकर कभी भी असुविधा नहीं जाग्रत हुई। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इनकी कामयाबी का श्रेय इनकी जीवन-संगिनी को जाता है। आख़िर तभी तो वर्ष 2006 में प्रो॰ राम बुझावन सिंह जी प्रणीत पुस्तक 'सिद्धेश्वर : व्यक्तित्व और विचार' में इसके संपादक डॉ॰ शाहिद जमील ने भी अपने संपादकीय में इसी बात पर अपनी सहमति जताते हुए लिखा है कि "यहाँ इस राज़ को फ़ाश करना यथोचित होगा कि भाई सिद्धेश्वर जी के समस्त क्रियाकलापों के भव्य महल की बुनियाद की ईंट भाभी जी हैं। हर सफल पुरुष के पीछे नारी होती

है इसे इन्होंने सिद्धेश्वर जी के साथ पूर्णरूपेण चरितार्थ किया है।''

उक्त पुस्तक के लेखक प्रो॰ राम बुझावन सिंह जी ने स्वयं भी अपने प्राक्कथन में लिखा है, ''यद्यपि इनके लेखन के संदर्भ में पत्नी की प्रत्यक्ष भूमिका नहीं रही है, लेकिन इनकी पत्नी ने इन्हें ऐसे अनेक पारिवारिक दायित्वों से मुक्त कर रखा है, जो गृहस्थ जीवन में सामान्यतया पति के हिस्से में आते हैं।'' इसी बात को सिद्धेश्वर जी ख़ुद स्वीकार करते हैं और अपनी कृति 'समकालीन यथार्थबोध' अपनी जीवन संगिनी को समर्पित करते हुए कहते हैं, ''अर्द्धांगिनी श्रीमति बच्ची प्रसाद को, जिन्होंने एकाकी वार्धक्य एवं सुदृढ़ आर्थिक संबल के अभाव में व्यवधान-व्याघातों के बीच पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों का कुशलतापूर्वक निर्वह्ण करते हुए मुझे घर-परिवार की चिंता से मुक्त रखकर मेरी सृजन-साधना को सहज बनाए रखा।'' सिद्धेश्वर जी की ये दोनों पुस्तकें एक और मायने में उल्लेखनीय हैं और वह यह कि ये संस्मरण अपने आप में संपूर्ण हैं, क्योंकि जिस किसी व्यक्तित्व की स्मृतियों को इन्होंने संजोया है उनमें उनके व्यक्तित्व व कृतित्व के प्राय: सभी आयामों को इन्होंने समेटने का प्रयास किया है। जहाँ इन्होंने कृतियों की चर्चा की है, वहाँ साहित्य की अलग-अलग विधाओं में उन व्यक्तित्वों द्वारा की गई समग्र रचनाओं को गिनाया है और वह भी वर्षवार। इस प्रकार ये दोनों संकलन शोध -ग्रंथ-सा बन पड़े हैं जो शोधार्थियों के लिए काफ़ी उपयोगी साबित होंगे, क्योंकि एक ही पुस्तक में समग्र रूप से उन्हें सारे तथ्य मिल जाएँगे। इस दृष्टि से देखा जाए, तो लेखक सिद्धेश्वर जी ने इस पुस्तक की रचना कर छात्र-छात्राओं तथा शोधार्थियों का बड़ा कल्याण किया है, जिसके लिए उन्हें हार्दिक बधाई।

कुल मिलाकर यह संस्मरण काल-विशिष्ट है, ऐतिहासिक संस्मरण ही नहीं, वरन् अन्य अनेक दृष्टियों से भी विशिष्ट संस्मरण हैं। संस्मरण-लेखक के रूप में सिद्धेश्वर जी की प्रतिष्ठा को ये दोनों पुस्तक बढ़ाएँगी, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कारण कि इन संस्मरणों में सिद्धेश्वर जी का नया रूप और नया अंदाज़ मिलता है, जो अपनी विशिष्ट शैली की वजह से पाठकों को नई ताज़गी का एहसास कराता है। हिंदी साहित्य जगत में इस पुस्तक का खुले दिल से स्वागत किया जा सकेगा, इसी विश्वास के साथ लेखक को एक बार पुन: बधाई देता हूँ।

संपर्क सूत्र :
684, इन्द्रा पार्क, पालम मार्ग
नई दिल्ली - 110045

डॉ॰ हरि सिंह पाल
अकाशवाणी, दिल्ली

अभिमत

यशस्वी शख्सियत के प्रति लेखक की गहरी आत्मीयता की झलक

प्रो.(डॉ.) साधु शरण

'हमें अलविदा ना कहें' भाग-1 और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' भाग-2 'विचार दृष्टि' के संस्थापक-संपादक एवं साहित्यकार सिद्धेश्वर जी के संस्मरणात्मक निबंधों के दो विशिष्ट और संग्रहणीय संकलन हैं। कलेवर और साज-सज्जा में नयनाभिराम तथा तथ्यों से भरपूर यह दोनों किताब एक महत्त्वपूर्ण लेखक की संस्मरण-यात्रा की दास्तान मात्र नहीं, अपितु हिंदी साहित्य के विशिष्ट काल-खंड का विश्वसनीय ऐतिहासिक दस्तावेज भी हैं।

सिद्धेश्वर जी मूलत: एक संपादक और लेखक हैं, इसलिए आलेखों के विचार-प्रधान बाड़े में यादों को समेटे ये संस्मरण सरल और सरस हैं, जो पाठकों को उपन्यास और कहानी की तरह शुरू से अंत तक पढ़ने के लिए विवश करते हैं। पटना विश्वविद्यालय से इंटरमेडियट, स्नातक तथा स्नातकोत्तर करने के पश्चात् लगभग एक दशक तक राँची के महालेखाकार कार्यालय में इन्होंने अपनी सेवाएँ दीं और फिर पटना में तबादला होने पर अभी अपनी सेवा पूरी भी नहीं कर पाए थे कि सन् 2000 के एक जून से इन्होंने व्यापक एवं वृहतर राष्ट्र व समाज हित में स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति ले ली और फिर हिंदी साहित्य की सेवा और पत्रकारिता में ये अपना सारा समय दे रहे हैं।

हिंदी के प्रख्यात लेखक-कवियों के सानिन्ध्य में रहकर इन्होंने बहुत-कुछ सीखा और पाया। प्रो०(डॉ०) शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव, रजनीकांत सिन्हा, डॉ० मोहन सिंह, मनोहर श्याम जोशी, बिसमिल्ला खाँ, आर.पी. सिन्हा, किशन पटनायक, सीताशरण शर्मा, बाबूराम सिंह लमगोड़ा, प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त', रामकृष्ण मेहता, परमानंद दोषी, डॉ. पी.एन. सिन्हा, डॉ. रंगी प्र. सिंह 'रंगम', डॉ. लक्ष्मीमल सिंधवी, न्यायमूर्ति बी.एल. यादव, बासुदेव नारायण, सरदार पटेल, जयप्रकाश नारायण, आत्माराम फोन्दणी 'कमल' आदि इनकी आत्मीय स्मृतियों के अंग हैं। इनके अतिरिक्त भी शायद ही कोई रचनाकार, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, कलाकार अथवा समाजसेवी ऐसा होगा, जो इनकी आत्मीय यादों से अछूता रहा हो। इन सब हस्ताक्षरों के प्रति इनमें गहरी

आत्मीयता झलकती है। जिस प्रकार हिमालय शानदार ऊँचाई के बावजूद अपने विनम्र झुकाव में पंजाब, बंगाल, बीच के मैदान सबको जोड़ता है, वैसे ही सिद्धेश्वर भी संस्मरणीय व्यक्तित्वों के अनेक कारनामों को याद करके वे खुद को तरोताजा महसूस करते हैं और अनगिनत संस्मरणों को जीवंतता प्रदान करते हैं।

सिद्धेश्वर जी लेखक की असली ताकत जनता को मानते हैं और विशिष्ट में सामान्य की तलाश को ही रचना मानते हैं। इन्हीं मानदंडों को सामने रखकर वे इतने सारे संस्मरण एक साथ लिख गए। दरअसल, इनकी पीढ़ी में जितने भी लोग हैं उनमें सिद्धेश्वर जी का नाम आए बगैर नहीं रह सकता, क्योंकि इनकी वैयक्तिक और बौद्धिक सरोकारों की आश्चर्यजनक विविधता तो काबिलेतारीफ है ही, वह एक अत्यंत सक्रिय, प्रतिबद्ध और कर्मठ प्रबुद्धजन भी हैं। सिद्धेश्वर जी की शख्सियत यह है कि जिन जगहों पर भी वह कुछ अरसे के लिए मौजूद होते हैं, वे जगह बाद में इनके बगैर सूनी और प्रकाशहीन लगती हैं। इनके सोचने, बोलने और लिखने के पीछे हमेशा वर्तमान की कोई चिंता एक लौ की तरह मौजूद होती है। वह किसी भी ज्ञानात्मक चर्चा को वर्तमान समाज या राजनीति के संदर्भ में प्रासंगिक बनाने और हमारे वर्तमान को समझने के लिए उसकी अनिवार्यता सिद्ध करने की अद्‌भुत क्षमता रखते हैं। सिद्धेश्वर जी ज्ञान और कर्म के जैसे प्रतीक हो गए हैं। आखिर तभी तो समाज के प्राय: कई क्षेत्र के जाने-माने व्यक्तित्वों के उन्होंने संस्मरण लिख डाले, यह अपने आप में एक अदभुत उपलब्धि है साहित्य की संस्मरण विधा के क्षेत्र में।

इसके अलावा हाल ही इनकी दो किताबें आई हैं- 'यह सच है' इनकी इक्कावन कविताओं का संग्रह और 'समकालीन संपादकीय' इनके अबतक लिखे संपादकीयों का संकलन। सिद्धेश्वर की जिन विशिष्टताओं का हमने ऊपर जिक्र किया, वे तमाम इनकी इन किताबों में देखने को मिलती हैं। लेखक को इतनी अच्छी कृतियों के लिए हार्दिक बधाई।

'गीतिका', आदित्य नगर
पो॰-केसरीनगर, पटना-800024
मो.-8800672508

प्रो॰ (डॉ.) साधुशरण
पूर्व विभागाध्यक्ष,राजनीति शास्त्र
जैंतपुर कॉलेज, मुजफ्फरपुर(बिहार)

अभिमत

संस्मरणात्मक निबंधों में घिसे-पिटे ढर्रे को तोड़ने का प्रयास

आचार्य रामविलास मेहता

समाज में बदलाव लाने के लिए निरंतर प्रयासरत सिद्धेश्वर जी मामूली सुविधाओं के होते हुए भी 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' जैसी संस्मरण विधा की दो किताबे लिखकर घिसे-पिटे ढर्रे को उन्होंने तोड़ने की कोशिश की है और उन तमाम लोगों को यह उम्मीद दिला सके हैं कि बदलाव का सपना उसके लिए भी सच हो सकता है। मुश्किलों के बाद भी लगातार हिंदी-लेखन तथा पत्रकारिता की राह पर ईमानदारी से ये चल रहे हैं और इनके मन में यह दृढ़ विश्वास है कि आज न कल शायद शुभेच्छु इनके दर्द को समझेंगे, जिसे वह अपने सीने में छिपा रखे हैं। ये खुद को खुशनसीब इसलिए मानते हैं कि समाज के सभी तबकों के लोग इन्हें समुचित सम्मान देते हैं जिसे वे संबल समझ सदैव आगे बढ़ते जाते हैं और कठिनाईयाँ खुद-ब-खुद दूर होती जाती हैं। इनकी साहित्य-साधना का हम इसलिए मनन करते हैं कि आजकल हिंदी को जिस प्रकार लोग अर्थ का साधन मात्र मानकर चल रहे हैं, सिद्धेश्वर जी, वैसे लोगों की पंक्ति में नहीं हैं, बल्कि सच तो यह है कि लोक-कल्याण, देश-प्रेम और भाषा-सेवा का भाव रखते हुए ये अपने आचरण में भी आत्मगत करने में रुचि रखते हैं और साहित्य, संस्कृति, कला, पत्रकारिता, संगठन एवं सामाजिक स्तर के हर आयाम को अपने में समेटने का प्रयास इनके जेहन में है।

संस्मरणात्मक निबंध संग्रह के इन दोनों पुस्तकों के संस्मरणों के माध्यम से इसके लेखक ने अपनी दरियादिली और अपनापन का परिचय तो दिया ही है, दिल खोलकर अपनी लेखनी का इस्तेमाल भी किया है और इस प्रकार ये सारस्वत क्षेत्र में ठोस कदम रखते हुए निरंतर आगे बढ़ते जा रहे हैं। सभा-संगोष्ठियों में इनकी भागीदारी अवश्यंभावी आकर्षण बन जाती है।

इन संस्मरणों से गुजरने के बाद मैंने पाया है कि इसके लेखक की दृष्टि संस्मरणीय व्यक्तित्वों के अनुभव, जुगुप्सा और उनके स्वाभाविक मानवीय सोच पर तो गई ही है, उनकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों को बड़े सहज और सरल ढंग से प्रस्तुत करने की उन्होंने कोशिश की है। भाषा, संवेदना,

तेवर आदि सभी स्तरों पर सिद्धेश्वर जी की इस कृति में ताजगी देखने को मिलती है। निश्चित रूप से इसके संस्मरण समयनिष्ठ के साथ-साथ आत्मनिष्ठ संवेदनाओं एवं समाजनिष्ठ आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। संस्मरण के रचनात्मक रूप पाठकों पर गहरे असर डालने में समर्थ होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। संस्मरणीय व्यक्तित्वों ने जिस प्रकार जीवन की विसंगतियों से जूझते हुए समाज, साहित्य और राजनीति के समक्ष जो आदर्श प्रस्तुत किए हैं उससे प्रेरित एवं प्रभावित हुए बिना पाठक नहीं रह सकते। इसमें कतई संदेह नहीं कि इस संकलन का हर संस्मरण मानव जीवन की एक समस्या से टकराता है और उसका सामना करते हुए पाठकों को एक महान संदेश देता है, जो अपने-आप में अद्‌भुत है। इसलिए इस संग्रह का विशेष महत्त्व है खासकर छात्रों एवं शोधार्थिओं के लिए यह विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगा। कहा गया है कि - Personality is to man that perfume is to the flower. मानव में व्यक्तित्व फूल की तरह सुगन्ध के समान है। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि A man is known by the works he does. Good deeds are neither burnt nor burried. सिद्धेश्वर जी निश्चित रूप से समाज, साहित्य और राजनीति में नैतिकता के प्रतीक के रूप में तथा उदाहरण के तौर पर जाने जाते रहेंगे। आपने अपने सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक श्रोतों में पल रही विकृत्तियों का समय-समय पर समाज और राष्ट्र का ध्यान अपने लेखन के माध्यम से किया है। यह पुस्तक उसी अभिव्यक्ति का प्रतिफल है। सफल कृति के लिए लेखक को बधाई तथा उनके दीर्घायु होने की मंगलकामना।

आचार्य रामविलास मेहता
ग्राम-बचन चकला
पत्रालय-रेतनपुर, जिला-सुपौल
मो॰9801772413

अभिमत

रचनात्मकता की नई उर्वराभूमि की तलाश

प्रो.(डॉ.) पी. लता

संस्मरणात्मक निबंध संग्रह की ये दोनों पुस्तकें 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' समय-समय पर लेखक सिद्धेश्वर जी द्वारा 'विचार दृष्टि' पत्रिका में लिखे गए संस्मरणों के संकलन हैं। उपन्यास सरीखी रोचक शैली में लिखे गए संस्मरणात्मक निबंधों से जहाँ साहित्यिकता का स्वाद मिलता है, वहीं साहित्य, समाज, राजनीति, शिक्षा तथा कला-संस्कृति की राह से गुज़रे अनेक जाने-माने हस्ताक्षरों के व्यक्तित्व से ये संग्रह परिचित भी कराते हैं। संग्रह बहुश्रुत और बहुप्रचारित रचनात्मकता की सतही तार्किकता के साथ प्रस्तुत नहीं, बल्कि तेज़ी से बदलती हुई दुनिया में नए शिल्प का वह आवरण लिए हुए हैं, जो न केवल रचनात्मकता की नई उर्वरा भूमि की तलाश करते हैं, अपितु एक गंभीर पाठक की कल्पनाशीलता को परिमार्जित करने का दुस्साहस भी।

इन संस्मरणात्मक निबंधों से गुज़रने पर ऐसा लगता है कि सिद्धेश्वर जी के पास यादों का सरमाया है और वर्तमान से जूझने की कुव्वत भी। उनमें एक ओर जहाँ मुड़-मुड़कर अतीत की ओर देखने वाला एक संवेदनशील शख़्स है, तो दूसरी ओर उनक शख़्सियतों से संबंधित अनुभव भी। ये संकलन अपनी सहजता और सरलता की वजह से प्रभावित करत हं, क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों के नामी-गिरामी हस्ताक्षरों से जुड़ी स्मृतियाँ, जो इनकी सोच और संवेदना को कचोटती रहीं उनकी अभिव्यक्ति इन्होंने बड़े सरल और सहज ढंग से की है। इन संस्मरणों में विभिन्न व्यक्तित्व की परतें जैसे-जैसे खुलती हैं वैसे-वैसे पूरा परिवेश प्याज़ के छिलकों की तरह उतरने लगता है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि परिवेश के महानद प्रवाह में सिद्धेश्वर जी डूबकर जब उतारते हैं, तो उनके व्यक्तित्व को एक नई परिभाषा प्रस्तुत कर जाते हैं और उनका यही दृष्टिकोण संकलन की सार्थकता को भी सिद्ध करता है।

यह विभिन्न क्षेत्रों के महत्त्वपूर्ण लोगों की वही स्मृतियाँ हैं, जो किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को बेचैन कर देती हैं, उनकी धड़कनों को बढ़ा देती हैं और उन्हें आंदोलित करने की प्रेरणा देती हैं। इन्हीं संस्मरणों को पढ़कर वे ज़िंदा रह सकते हैं, कारण कि संस्मरणों के लेखक सिद्धेश्वर जी संस्मरणीय

व्यक्तित्व और विचार को महज़ किताबी जामा पहनाने की बजाय उसे संघर्ष और विकास का प्रतीक बनाना चाहते हैं। उनका गहरा सरोकार उन व्यक्तित्वों से जुड़े तरह-तरह के सवाल खड़े करते हैं, उनसे उलझते हैं और उनका पर्दाफ़ाश करते हैं। कहीं-कहीं पुरानी ग़लत परंपरा तोड़ते हुए स्वाधीनताबोध को आधुनिकता के आइने में रखकर अपने राष्ट्र को अन्य विकसित मुल्कों के समक्ष खड़ा करना चाहते हैं। कहीं-कहीं तो उन व्यक्तित्वों के जीवन के माध्यम से बुद्धिजीवियों को भी कठघरे में खड़ा करते हैं, जो तटस्थता तथा यथास्थितिवाद के चलते देश की धार्मिक बर्बरता की ओर धकेलने में मदद करते हैं जिससे 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामया' की अवधारणा उनके आचरण और व्यवहार से धूमिल न हो पाए, क्योंकि इन्हीं मान्यताओं और मूल्यों के आधार पर हमारी भारतीय संस्कृति और सभ्यता विश्व स्तर पर सराही गई है और जिसे आज भी लोग सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। सच तो यह है कि जिन महानुभावों के संस्मरण सिद्धेश्वर जी ने लिखे हैं, उन्होंने सदैव मानव मूल्यों का संरक्षण किया है जिससे हमारा गौरव बढ़ा है। लेखक ने संस्मरणीय व्यक्तित्वों को बड़ी गहराई और ईमानदारी से देखा है और उनके साथ उनके संबंधों की निकटता रही है। यह निकटता इनके विश्वास से हुई है, कारण कि अहंकार रहित होकर वे विनम्र भाव से उनके सुख-दुःख में शामिल होते रहे हैं। सिद्धेश्वर जी ने इन पुस्तकों के संस्मरणों में सदाचार, श्रद्धा, विश्वास, समर्पण आदि उनके व्यक्तित्व के आभूषणों को बहुत मार्मिक ढंग से चित्रित किया है जिनकी बराबरी धन से नहीं की जा सकती।

सिद्धेश्वर जी को हार्दिक बधाई!

'आरती' टी.सी., 14/1592
पो. लेन, ई-28 बबन्कट
तिरूवनतपुरम-14
फोन: 0471-2332468

प्रो॰ (डॉ.) पी. लता
प्रध्यापक, हिंदी विभाग
राजकीय महाविद्यालय
तिरूवनंतपुरम, केरल

अभिमत

संस्मरणों में खुदरेपन के साथ खूबसूरत मानवीय भावबोध

डॉ. शाहिद जमील

सिद्धेश्वर जी ने अपने संस्मरणात्मक निबंधों में नायकों के जीवन-संघर्ष को बड़ी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है जिनमें समय की धड़कन सुनी जा सकती है। लेखक ने संस्मरणों की अभिव्यक्ति में दृष्टिकोण के स्तर पर भी जो ईमानदारी बरती है, वह काबिलेतारीफ है। लेखक की दृष्टि बहुत दूर तक तक गई है। इसलिए यह सिर्फ नायकों की जीवन गाथा के दृश्यों का संग्रह भर नहीं है, बल्कि पूरा समाज उनसे अपनी धड़कने पाता है। भविष्य की कोई भी कल्पना अतीत और वर्तमान से निरपेक्ष होकर नहीं की जा सकती। इसलिए 'हमें अलविदा ना कहे' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' संस्मरणात्मक निबंध जितन अतीत के संबंध में मूल्यवान ह, उससे कहीं अधिक भविष्य निर्माण के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण भी। बचपन की स्मृतियों से लेकर एक उम्र पहुँचने तक लेखक का लगाव सामाजिक सजगता और राष्ट्रीय चेतना उनकी संस्मरण-भाषा के संदर्भ में बेहद आकृष्ट करते हैं।

इन दोनों पुस्तकों में सम्मिलित संस्मरणात्मक निबंधों के पीछे लेखक के चिंतन में सामाजिक भावना के साथ-साथ प्रबल राष्ट्रीय भावना छिपी है। आज जीवन की आपाधापी में संबंधों की गरिमा का जिस तेज़ी से ह्रास होता जा रहा है, ऐसी स्थिति में सिद्धेश्वर जी ने हमें अपने साथ-साथ सामाजिकता को भी विस्तार दिया है और इन्होंने इन संस्मरणों के माध्यम से यह साबित किया है कि केवल धन-दौलत, रुपया-पैसा, यश-कीर्ति, प्रतिष्ठा एवं सुख-सुविधाओं के संसाधन एकत्र करना ही जीवन का उद्देश्य नहीं, बल्कि हमारी संवेदना ही हमारे जीवन की पहचान है। बिना संवेदना के जीवन का कोई महत्त्व नहीं। सिद्धेश्वर जी अत्यंत प्रतिबद्ध और निरंतर विचारमग्न लेखक व संपादक हैं। इनके संस्मरणों में देशज का जीवन-ठाठ बेहद संभव संशिलिष्टता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इन संस्मरणों में उनकी क़लम अपनी कलात्मक सजगता का विकास करती हुई दिखती है। चूंकि सिद्धेश्वर जी एक रचनाकार के साथ-साथ पत्रकार भी हैं, तो इन्होंने संस्मरणों में अपने इन दोनों रूपों की प्रतिभाओं का समुचित इस्तेमाल किया है। इनके संस्मरण अपनी सादगी की

वजह से अलग और उल्लेखनीय हैं। कहीं-कहीं संस्मरण उन चुस्त बिंबों से निर्मित हैं जिनका प्रभाव हमारी आत्मा को बेचैन कर देती है। इसमें साधारण का विराट जद्दोजहद साँस लेता हुआ और आवाज़ देता हुआ उभरा है। इसके साथ ही उनके सरोकारों के विस्तार का साक्ष्य भी प्रकट करता है। इन संस्मरणों में अपने खुरदरेपन के साथ खूबसूरत मानवीय भावबोध अभिव्यक्त हुआ है। लेखक सरल आशावादी हैं। वे विचलित कर देने वाली परिस्थितियों के संबंध में मार्मिक पीड़ा और उत्तेजना को उभार देते हैं। पुस्तक में शामिल संस्मरणात्मक निबंधों में सिद्धेश्वर जी के जीवन के वे अनुभव भी हैं जिनसे कुछ लोग सायास बचते हैं।

इन पुस्तकों को पढ़ने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि संस्मरण के क्षेत्र में य दोनों महत्त्वपूर्ण कृतियाँ सामने आई ह जिसमें 'डॉ॰ रामविलास शर्मा: जो हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष थे', डॉ॰ शिवमंगल सिंह 'सुमन': जो ग्रामीण सौंदर्य के कुशल चितेरे थे', 'निर्मल वर्मा: जिन्हें महारत हासिल थी संवेदना उकेरने में', 'डॉ॰ फ़ादर कामिल बुल्के: विदेशी, जिसे हिंदी ने अपना बना लिया', 'शंकरदयाल सिंह: जो हँसी और ठहाकों से लबालब एक ज़िंदादिल इंसान थे', 'महाकवि कालिदास: जो भारत के शेक्सपियर और संस्कृत साहित्य के-क्रांतदर्शी महाकवि थे', 'माखन लाल चतुर्वेदी: जिनकी साहित्य-साधना बेमिसाल है', 'डॉ. कुमार विमल: जो हिंदी साहित्य में सौंदर्य शास्त्रीय आलोचना के जनक थे' और 'डॉ. बालशौरि रेड्डी: जिनका जीवन हिंदी लेखन के प्रति समर्पित रहा' काफ़ी रोचक और पठनीय संस्मरण बन पड़े हैं। इस लिहाज़ से साहित्येतर विधाओं में श्रेष्ठ पुस्तकों के प्रकाशक को लेकर जो उत्साह इधर हिंदी में देखा जा रहा है, संस्मरण विधा में सिद्धेश्वर जी की सद्य: प्रकाशित पुस्तकं 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' एक शुभ और स्वस्थ परिघटना है, जिसका हिंदी जगत में स्वागत किया जाएगा। इतनी अच्छी पुस्तक के लिए एक बार पुन: लेखक को साधुवाद देते हुए उनके दीर्घायु जीवन की मैं कामना करता हूँ।

संपर्क सूत्र :
आवास सं॰- 278,
रोड नं.-11, पाटलिपुत्र कॉलोनी
पटना-14
मो.-9430559161

डॉ॰ शाहिद जमील
आलोचक-समीक्षक एवं पत्रकार
पूर्व राजभाषा पदाधिकारी, बिहार
पटना

शुभाशंसा

अमूल्य विभूतियों की रचनात्मकता को ऊँचाइयाँ प्रदान करने का सफल प्रयास

डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'

लेखक के संपादन में दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' तथा उसके पूर्व भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के कार्यालय, प्रधान महालेखाकार (लेखा परीक्षा), बिहार, पटना से प्रकाशित 'प्रहरी' के प्राय: प्रत्येक अंक के माध्यम से संपादक सिद्धेश्वर जी ने अपने पाठकों को देश की उन अमूल्य विभूतियों पर संस्मरण लिखकर उनसे परिचित कराने की कोशिश की है जिनकी रचनात्मकता, क्रियाशीलता तथा सर्जनात्मकता ने समाज और साहित्य अथवा राजनीति एवं संस्कृति को ऊँचाइयाँ प्रदान की हैं और जो हमारे इतिहास और साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। इन महान विभूतियों का संस्मरण, हमारी अपनी बहुमूल्य परंपरा की ओर वापस होना है। संस्मरणात्मक निबंध संग्रह की इन दो पुस्तकों 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' में लेखक के सभी संस्मरणात्मक निबंधों को संकलित किया गया है और इस प्रकार उन्होंने एक बार फिर अपनी गौरवशाली परंपरा को आगे बढ़ाने में अपना रचनात्मक सहयोग प्रदान किया है। मैं समझता हूँ कि इनका प्रयास काफ़ी हद तक सफल रहा है और देश के विभिन्न क्षेत्रों की विभूतियों को ये बहुत हद तक स्मरण कर पाए हैं।

दरअसल, सिद्धेश्वर जी स्वयं भी सदा सार्थक जीवन जीते रहे हैं और जो काम एक बार मन से ठान लेते हैं उसे बेहतरीन तरीक़े से पूरी ईमानदारी के साथ पूरा करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। यही कारण है कि विभिन्न क्षेत्रों के सार्थक जीवन जीने वालों पर जब इन्होंने संस्मरणात्मक निबंध लिखकर उन्हें दो पुस्तकों में संकलित करने का संकल्प लिया, तो उसे पूरा करके ही दम लिया। ये दो पुस्तकें उनके उसी संकल्प का प्रतिफल है। इन दो पुस्तकों में हमें दो बातें देखने को मिली हैं। पहली यह कि लेखक

ने इन पुस्तकों के संस्मरणात्मक निबंधों में संस्मरणीय व्यक्तित्व के सुख-दुःख, दर्द-पीड़ा, प्यार-व्यथा तथा वेदना को सबका सुख-दुःख, दर्द-पीड़ा, प्यार-व्यथा तथा वेदना बना दिया है। यही रचनाकार की सबसे बड़ी विशेषता इसमें देखने को मिलती है और सच तो यह है कि जो रचनाकार व्यक्ति अथवा समाज के यथार्थ को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है वही महान लेखक है। यथार्थ से कटकर तो लेखक ही नहीं हो सकता, महान तो क़तई नहीं। दूसरी बात यह है कि सिद्धेश्वर जी निरंतर तलाश में रहते हैं, चाहे पहरुए की तलाश हो अथवा समाज के यथार्थ की तलाश, वे इसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। उन्हें हमेशा यह चिंता लगी रहती है कि वह दूसरों के काम आएँ। दूसरे के काम आने की यह चिंता और उसके लिए निरंतर प्रयत्न करते रहना इस लेखक की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। आख़िरकार तभी तो इतने सारे साहित्यकारों, पत्रकारों, राजनीतिज्ञों तथा समाजसेवियों, जिनमें से बहुत सी विभूतियों को इन्होंने पास से देखा, कई लोगों के संपर्क में आए, पर अपने संस्मरण लिखकर पाठकों के सामने प्रस्तुत करना इन्होंने लाज़मी समझा। लेखक स्वयं भी मानते हैं कि इन विभूतियों की भावनाओं का उनके खुद के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा और उनके जीवन को ही पलट दिया और उनसे इन्होंने जीवन जीना सीखा। यही कारण है कि हर विषम, कठिन और विषादपूर्ण निराशाजनक स्थिति में भी लोगों ने सिद्धेश्वर जी को अविचल और आत्मसंयमी ही पाया। इन संस्मरणात्मक निबंधों के लेखक साहित्यकार होने के साथ पत्रकार भी हैं, किंतु साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में विचरने वाले आज जिस प्रकार अपने महत्त्वपूर्ण होने का भ्रम पालते हैं, उनमें सिद्धेश्वर जी नहीं हैं। बहुत से औपचारिक आयोजनों एवं कार्यक्रमों का अनेक बार हिस्सा बनने के बावजूद वे अपने को भीड़ का ही एक हिस्सा रहने का प्रयास करते हैं, न कि विशिष्ट अतिथियों के बीच रहकर वीआईपी कहलाने का। यही कारण है कि आयोजनकर्ता भी इनका बड़ा सम्मान करते हैं। इनके शुभेच्छु इस बात से पूर्णतः अवगत हैं कि सिद्धेश्वर जी हर अच्छे कार्य के समर्थक हैं और हर ग़लत कार्य के विरोधी। वे अनुशासनप्रिय, चरित्रवान, स्वच्छ एवं निर्मल व्यक्तित्व के धनी हैं। हिंदी प्रचार आंदोलन, हिंदी साहित्य की समृद्धि, सामाजिक समरसता तथा राष्ट्रीय सद्भावना के लिए सिद्धेश्वर जी का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

सिद्धेश्वर जी की इन दोनों पुस्तकों को आँकना सहज-सुलभ कार्य नहीं है। फिर भी मेरी जानकारी की लघु सीमा में ही आँकना संभव है। बेमना

ने कहा भी है कि पहाड़ दर्पण में छोटा ही दिखाई देगा, किंतु उसकी समग्रता का आभास तो देगा ही। 'हमें अलविंदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' के लेखक सिद्धेश्वर जी ने अपने इस संस्मरणात्मक निबंधों को साहित्यकार, पत्रकार, कलाकार, राजनीतिज्ञ तथा समाजसेवी के पाँच खंडों में विभक्त कर बड़ी ईमानदारी और शिद्दत के साथ सार्थकता प्रदान की है। उनके दायरे और अनुभव में जो कुछ भी इन्होंने संस्मरणीय व्यक्तित्व में देखा, समझा उसे हूबहू इन्होंने शब्दबद्ध करने का प्रयास किया है। किसी भी इंसान की विकास-यात्रा के लिए आज की भावी पीढ़ी के लिए ये कृतियाँ उपयोगी सिद्ध होंगी, क्योंकि लेखक ने बड़े मनोवैज्ञानिक और सहज ढंग से विभिन्न विभूतियों के व्यक्तित्व और कृतित्व को प्रस्तुत किया है जो अपने आप में अनूठा बन पड़ा है। दरअसल, किसी भी व्यक्ति के बेबाक चित्रण के लिए निष्पक्ष और निष्कपट मन की ज़रूरत होती है। यही मन लेखक की प्रकृति है। लेखक ने साहित्यकारों की साहित्यिक संदर्भों की सार्थक प्रस्तुतियों का जो समावेश किया है वे भी बेहतरीन हैं। संस्मरणीय व्यक्तित्व के तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि संदर्भों को बड़े मज़ेदार ढंग से उकेरा है जो अपने आप में स्वतः ही बहुत कुछ रेखांकित कर जाता है। वस्तुतः जो ऊपर से जितना सैद्धांतिक और कठोर होता है वह अंदर से उतना ही व्यावहारिक और संवेदनशील भी।

इस पुस्तक में सम्मिलित जीवन-गाथा से भावी पीढ़ी को अपने जीवन को सजाने-सँवारने की प्रेरणा के साथ-साथ आज की नई पीढ़ी के लिए दिशा-निर्देश और ऊर्जा मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। साहित्य-जगत को अर्पित ऐसी कृतियाँ पाठकों को पढ़ने के लिए मैं शुभाशंसा करता हूँ, क्योंकि इतने विस्तृत रूप में चरित्र की ऐतिहासिक सच्चाई उसके जीवन के घटनाक्रम उपन्यास की तरह पाठकों को बाँधते हैं। इसीलिए इन ग्रंथों का साहित्य-संसार में तहेदिल से स्वागत होगा। भविष्य में स्वस्थ-प्रसन्न रहकर लेखक कई नए कीर्तिमान स्थापित करें, यही मेरी शुभकामना है।

डॉ॰ नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'
पूर्व प्राचार्य
7 च-2, जयपुर-4(राजस्थान)

पूरोवाक्

शीततप्त उच्छ्वासों से सहलाते संस्मरण

डॉ. बालशौरि रेड्डी

जीवन का क्षण-प्रतिक्षण बंद मुट्ठी से फिसलती रेत की तरह बीता जा रहा है। अतीत जो व्यतीत हो चुका है आज भूत है, इतिहास है, जिसे सिर्फ़ कुरेदा जा सकता है, शीततप्त उच्छ्वासों से सहलाया जा सकता है, मगर लौटाया नहीं जा सकता है। संस्मरणात्मक निबंध संग्रहों के संकलन के लेखक सिद्धेश्वर ने अपने इन संस्मरणों में संस्मरणीय व्यक्तित्व को अपने शीततप्त उच्छ्वासों से सहलाया है। इनके पात्र दिवंगत होते हुए भी जीते-जागते तथा चलते-फिरते प्रतीत होते हैं, क्योंकि संस्मरणों में लेखक ने स्वयं की अपेक्षा उस व्यक्ति को महत्त्व दिया है, जिसके संबंध में संस्मरणीय व्यक्तित्व लिखा गया है। वस्तुत: स्मृति वह धागा है जो काल के चक्र पर निरंतर लिपटता ही चला जाता है, कभी जब वह टूट जाता है, तो हम कोई नई रूई रूपी भाव से उसे पुन: जोड़कर एक निराले अंदाज़ का अनुभव करते हैं। सिद्धेश्वर जी ने संस्मरणीय व्यक्तित्व के नहीं रहने पर जो धागे टूट चुके थे, उसे अपनी अनुभूतियों के अक्षर से जोड़ने का सफल प्रयास किया है इन संस्मरणों के माध्यम से।

'मुझे अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' के संस्मरणों में संस्मरणीय व्यक्तित्व के आकार-प्रकार, भाव-भंगिमा, व्यवहार, आचार, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, स्वभाव, समकालीन व्यक्तियों से संबंध आदि का यथातथ्य रूप प्रदर्शित होता है और ये संस्मरण अंतर्मन को भी छूते हुए प्रतीत होते हैं।

अपने संस्मरणों में लेखक ने संस्मरणीय व्यक्तित्व के प्रति अत्यंत आत्मीयता का परिचय तो दिया ही है, इन संस्मरणों में अत्यधिक आत्मनिष्ठा भी देखने को मिलती है। इस संबंध में मात्र दो संस्मरणों का उल्लेख करना मैं चाहूँगा। पहला संस्मरण 'गीतकार शैलेन्द्र: जो आज भी ज़िंदा हैं संघर्षशील जीवन में' शीर्षक से लिखा गया है जिसमें लोक ने तहे दिल से उनके गीतों को कंठहार बनाया, की वास्तविकता का लेखक ने चित्रित किया है।

दूसरा संस्मरण 'डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव: जिनकी साहित्य और राजनीति में वरेण्यता बनी रही' शीर्षक से है जो बहुत प्रभावशाली शैली में लिखा गया है।

इसमें तनिक संदेह नहीं कि सिद्धेश्वर जी ने अपनी संस्मरणीय रचनाओं को संवेदनात्मक तथा पठनीय बनाने का सराहनीय प्रयास किया है, कारण कि लेखक ने संस्मरणीय व्यक्ति के सान्निध्य में बिताए गए क्षणों को बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है, जो रोचक होने के साथ-साथ वैचारिक भी हो गया है। सिद्धेश्वर जी ने संस्मरणों में न केवल अतीत में घुली-मिली अनुभूतियों की सशक्त अभिव्यक्ति की है, बल्कि मानसिक मनोभावों को भली-भाँति उकेरने में भी सफल रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप इनमें जहाँ लेखक के व्यक्तित्व सहित संस्मरणीय व्यक्तियों के अंतरंग व्यक्तित्व उजागर हुए हैं, वहीं सर्वत्र सत्यता नज़र आती है। यह कहना यथोचित होगा कि वैयक्तिकता पर आधारित भावनाओं के द्वारा इन संस्मरणों में नई रूह का संचार करने का सफल प्रयास किया गया है। साथ ही मर्मस्पर्शी तथा कोमल अनुभूतियों ने लेखक के इन संस्मरणों को सशक्तता प्रदान की है। इसकी भाषा अति प्रांजल और चित्रात्मक है जो पाठकों को पढ़ने के लिए विवश करती है।

कहना नहीं होगा कि संस्मरणों का ये संकलन साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों, राजनेताओं तथा समाजसेवियों के जीवनानुभव, विचारधारा, रचनाध र्मिता, जीवन मूल्यों के प्रति उनकी दृष्टि, रचना प्रक्रिया इत्यादि के संबंध में विवरण प्रस्तुत करते हैं। दिवंगत साहित्यकारों, मनीषियों और महान चिंतकों-विचारकों पर लेखक ने जो संस्मरण लिखे हैं, उनका साहित्यिक महत्त्व तो है ही, रचनाकार की उस गहरी अंतर्दृष्टि से भी ये संस्मरण साक्षात्कार करते हैं, जो अपने परिवेशगत यथार्थ का छिद्रान्वेषण कर उसकी मार्मिक संवेदना को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

संकलन के पूरे संस्मरण को पढ़कर ऐसा लगता है कि अतीत की स्मृतियों को यथार्थ एवं भावुकता का पुट लिए इनमें से अधिकतर संस्मरण व्यक्तिपरक संस्मरण हैं जिनमें किसी व्यक्ति विशेष के प्रति श्रद्धा व सम्मान की भावना व्यक्त की गई है। यदि संबंधित व्यक्तित्व की विराटता देखनी है, तो इस संकलन के संस्मरण 'बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन': जो पत्रकारिता की कला साधना के वरदपुत्र थे' में देखे जा सकते हैं जिसमें लेखक ने बड़े मार्मिक ढंग से संस्मरणीय व्यक्तित्व के द्वारा देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना का

बीजारोपन करने के प्रयास का चित्रण किया है तथा देश, काल एवं पात्रों का प्रशंसनीय सामंजस्य करने की कोशिश की है।

यद्यपि आत्मपरक अनुभूतियों को कुरेदने तथा उद्वेलित करने वाली घटनाएँ संस्मरण का आधार बन जाती हैं तथापि इन संस्मरणों में चिंतन की सूक्ष्मता, कल्पना का लालित्य, विचारों की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी इसका मूलाधार है। अधिकतर संस्मरण बिंबात्मक संबोधन से परिपूर्ण हैं और प्रामाणिक साक्ष्यों पर आधारित हैं। दूसरी बात यह है कि संस्मरण-लेखन में व्यक्तिगत, सामुदायिक और राष्ट्रीय पहचान की छटपटाहट महसूस की जाती है।

हिंदी के प्रबल समर्थक सिद्धेश्वर जी में निर्भयता, आत्मविश्वास कूट-कूटकर भरा है जिसका प्रभाव उनके संस्मरण-लेखन में भी देखने को मिलता है। उनकी निर्भीकता और स्पष्टवादिता की झलक उनके द्वारा संपादित पत्रिका 'विचार दृष्टि' के प्रायः सभी संपादकीयों में भी देखी जा सकती है। यह पुस्तक अतीत में वर्तमान की स्थापना है और उस वर्तमान के चित्र और पीड़ा के ऐश्वर्यमय रूप-रंग हैं। संस्मरणीय व्यक्तित्व को लेखक ने एक माध्यम बनाया है और अपनी अनुभूतियों से वर्तमान पीढ़ी को परितोषित तथा अनुप्राणित किया है। यह पुस्तक उनकी साहित्य साधना का अन्यतम उपहार और मानवता का उच्चतम पुरस्कार है, क्योंकि उन्होंने संस्मरणीय व्यक्तित्व के जीवन-जगत से संबंधित प्रगाढ़ चिंतन किया है। मौजूदा दौर में राजनीति के बदलते रंगढंग, आतंक, हिंसा और अस्थिरता के माहौल में सिद्धेश्वर जी जिस प्रकार अपने संस्मरण के ज़रिए लोगों के ज़ख़्मों पर रूई का फाहा रखने का प्रयास किया है उसकी संपुष्टि कश्मीरी साहित्य के रहमान राही की इन पंक्तियों से की जा सकती है;

'अपने भाग्य पर सवाल न करो, न अमृत की आस
जितने भी लम्हें मिलें हैं, खुशी से जिओ
मेरे शब्दों का कल कोई अर्थ हो न हो, कल ही तय करेगा
तुम्हारे जलते घावों को ठंढक पहुँचाए,
वे शीतल जल धाराएँ मैं लाता ही रहूँगा'

इस प्रकार कुल मिलाकर देखा जाए तो लेखक ने इसके माध्यम से समाज के विभिन्न क्षेत्रों के उन व्यक्तित्वों से पाठकों को रूबरू कराया है, जो आज उनके आसपास नज़र नहीं आते। लेखक ने उनके जीवन से संबंधित घटनाओं को महसूस किया और उनका ताना-बाना बुनकर शब्दों में पिरोया है।

संस्मरणीय व्यक्तित्व की विचारधारा को अपने शब्दों में पिरोने के क्रम में उनकी मान्यता रही है कि किसी भी विचारधारा में आरूढ़ निरंकुश तत्त्व ही उसे ले डूबते हैं। किसी भी विचारधारा को जब निजी महत्त्वाकांक्षा के दीमक चाटने लगते हैं, तो उसके अप्रासंगिक होने में समय ही नहीं लगता। ये यह भी मानते हैं कि श्रेष्ठता ग्रंथि से पीड़ित व्यक्ति आसानी से किसी को अपने सामने खड़ा स्वीकार नहीं कर पाते हैं।

सिद्धेश्वर जी यह भी मानते हैं कि जितने साहित्यकारों व पत्रकारों के संस्मरण इन्होंने लिखे हैं, उनमें से अनेक लेखकों की समाज-सापेक्ष कृतियों का प्रभाव इनके जीवन पर पड़ा है और उन कृतियों के किसी एक बिंदु से यदि ये अत्यधिक प्रभावित हुए हैं, तो वह यह है कि जड़ता से मुक्ति में ही व्यक्ति की मुक्ति है। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक के लेखक दिल से स्वीकारते हैं कि इन संस्मरणीय व्यक्तित्वों ने इनकी चेतना, विवेक और संवेदना को अपने बड़प्पन और चारित्रिक़ दृढ़ता से सींचा है। प्राय: सभी संस्मरणात्मक निबंधों में इतनी सारी व्यापक सामग्री परोसने से यह पुस्तक इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई है कि पढ़ने के पश्चात् पाठक इसे सहेजकर जमीन-जायदाद के दस्तावेजों की तरह रखेगा, ताकि उसकी अगली पीढ़ी इन्हें जानने हेतु कहीं और नहीं भटके। मैं सिद्धेश्वर जी के इस योगदान के प्रति हृदय से आभारी हूँ।

संस्मरणीय व्यक्तित्व की स्मृतियाँ प्रस्तुत पुस्तक में ताज़ा हवा के झोंके की तरह निर्मल हैं जिसको लेखक सिद्धेश्वर जी ने ज़ेहन में जगा दिया है। पुस्तक संस्मरणीय व्यक्तित्व की जीवनी ही नहीं, लेखक की ओर से उन्हें सच्ची श्रद्धाँजलि भी है। पाठक इस पुस्तक को बड़े मनोयोग से पढ़ेंगे और उनके लिए यह ख़ासी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इतनी आकर्षक और उपयोगी पुस्तक के लिए लेखक को हमारी हार्दिक बधाई और दीर्घायु होने की कामना।

संपर्क: डॉ. बालशौरि रेड्डी
27,वडिवेलिपुरम, वेस्ट माम्बलम्, अध्यक्ष, तमिलनाडु हिंदी अकादमी
चेन्नई (तमिलनाडु) पूर्व संपादक, 'चंदा मामा'
दूरभाष : 044-24893095 चेन्नई

प्रकाशकीय

'हमें हलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' शीर्षक की इन दोनों पुस्तकों में कुल 154 संस्मरणात्मक निबंध हैं, जो सब के सब सिद्धेश्वर जी के द्वारा ही लिखे गए हैं। साहित्य, पत्रकारिता, कला-संस्कृति, राजनीति तथा समाज-सेवा के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्यरत ऐसे अनेक व्यक्तियों की जीवन-झाँकी यहाँ प्रस्तुत की गई है, जिनसे लेखक का समय-समय पर साक्षात्कार होता रहा है। इनमें से कुछ विभूतियों से तो लेखक एक-दो बार ही भेंट कर पाए हैं, फिर भी उनकी अध्ययनशीलता, मेधा और उदारता की प्रशंसा लेखक ने की है। कई विभूतियों से तो लेखक की बड़ी अँतरंगता और आत्मीयता रही है और लेखक के अपने भावभीनी संबंधों का विवरण उक्त पुस्तकों में वर्णित हैं। इन पुस्तकों में जिन विभूतियों से लेखक के अँतरंग संबंधों का पता चलता है उनमें डॉ॰ शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव, बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा',रजनीकांत सिंहा, शंकरदयाल सिंह, फणीश्वर नाथ रेणु, प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री, गोपी वल्लभ सहाय, भोला प्रसाद सिंह 'तोमर', डॉ॰ लक्ष्मीनारायण दुबे, डॉ॰ सहदेव सिंह 'पाचर', सुरेन्द्र प्रसाद सिंह, डॉ॰ रंगी प्रसाद सिंह 'रंगम', आत्माराम फौन्दणी, किशन पटनायक, वी. पी. सिंह, विशुद्धानन्द, डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार, डॉ. कुमार विमल, भोला प्रसाद सिंह, डॉ. बालशौरि रेड्डी तथा पी. के. सिन्हा आदि प्रमुख हैं। इन संस्मरणों को लेखक ने संवादपरक भाषा में लिखा है जो अपनी पठनीयता अंत तक बनाए रखते हैं।

इन पुस्तकों में सिद्धेश्वर जी संस्मरण-लेखक के साथ-साथ एक पत्रकार के रूप में भी दिखाई देते हैं। पत्रकार का काम दोधारी तलवार -सा होता है। वह समाज के समक्ष दर्पण रखता है। वह सत्य को यथार्थ की नग्न आँखों से देखने का साहस और सामर्थ्य लिए रहता है। उसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक होता है। पुस्तक में सम्मिलित संस्मरणीय व्यक्तित्व के जीवन की सच्चाइयों को पाठक के सामने रखकर इन्होंने सराहनीय कार्य किया है, क्योंकि समाज के विभिन्न क्षेत्रों की विभूतियों को जन-जन तक पहुँचाकर उन्हें व्यवस्थित भविष्य दिया है। लेखक के पास चिंतन है और उसकी अभिव्यक्ति

की शक्ति भी। इसलिए वे एक सुलझे साहित्यकार भी हैं। पत्रकार और साहित्यकार का संबंध जितना पुराना है उतना ही गहरा भी है। अतीत में झाँककर देखें, तो जहाँ प्रेमचंद 'हंस' से, 'निराला' समन्वय, 'मतवाला' और 'रंगीला' से, शिवपूजन सहाय तथा नलिन विलोचन शर्मा 'साहित्य' से, अज्ञेय 'दिनमान' से मोहन राकेश 'नई कहानियों' से, कमलेश्वर 'सारिका' से, धर्मवीर भारती 'धर्मयुग' से तथा ज्ञान रंजन 'पहल' से जुड़े रहे। महीप सिंह 'संचेतना' से, रवीन्द्र कालिया और ममता कालिया 'वागर्थ' से, नमिता सिंह 'वर्तमान साहित्य' से तथा राजेन्द्र यादव 'हंस' से जुड़े रहे हैं। इसी प्रकार संस्मरण के लेखक सिद्धेश्वर जी ने दिल्ली से प्रकाशित 'विचार दृष्टि' का संपादन कर उसे नई ऊँचाई दी है और उसके माध्यम से जन-चेतना के साथ-साथ देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने के लिए वैचारिक पहल की है। उन्होंने समाज की नब्ज़ को पहचाना है। उनकी बौद्धिक-सामाजिक-क्रांति ने निःसंदेह समकालीन समाज के समक्ष प्रकाश-स्तंभ का कार्य किया है। संस्मरणात्मक निबंध संग्रह की ये दोनों पुस्तकें 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' उसी की एक कड़ी है। इन पुस्तकों के संस्मरणीय व्यक्तित्वों के जीवन के बल पर जनमानस को दर्पण में प्रतिबिंबित होने का अवसर प्रदान करता है। सामान्य जन में लेखक ने आत्मविश्वास का संचार करने का सफल प्रयास किया है। उन्होंने इन संस्मरणीयों के ज़रिए यह बताने की चेष्टा की है कि यदि आचार, शील, निष्ठा जैसी संपदा हमारे पास है तो फिर पाखंडी आडंबर के पीछे भटकने से क्या फ़ायदा? मानव-जीवन की दुर्लभता बताते हुए उसे सार्थक करने पर लेखक ने काफ़ी ज़ोर दिया है। जाति-धर्म के निरर्थक बाह्याचार की निंदा करते हुए लेखक ने जीवन के मर्म को पहचाना है। पुस्तक में सम्मिलित संस्मरणीय व्यक्तित्व के जीवन से भ्रमित समाज के कर्त्तव्याकर्त्तव्य, औचित्य-अनौचित्य का पूरा पाठ पढ़ाते हुए लेखक ने समाज के विघटन, विचारहीनता तथा आचारहीनता को समाज के लिए कोढ़ माना है। पारदर्शिता और साफ़गोई से भरी जनचेतना की बातें हमें तुरंत स्वत्वबोध कराती हैं, सावधान कर देती हैं। वे मात्र आदर्शमयी नहीं, बल्कि याथर्थ चेतना से समन्वित हैं, सदाचारप्रेरित हैं।

सूक्ष्म निरीक्षण में लेखक माहिर हैं। संस्मरण में शामिल व्यक्तियों के जीवन की छोटी-से-छोटी बात और छोटी-से-छोटी घटना को इस गहराई और सुंदरता के साथ उन्होंने प्रस्तुत किया है कि पढ़ते बनता है। उनके घर की पारिवारिक समस्याएँ तथा उनके ऊपर अत्याचार और शोषण आदि अनेक

समस्याओं का सफल और मार्मिक चित्रण किया गया है। इस पुस्तक की भाषा का अपना महत्त्व है। भाषा पूरी तरह साहित्यिक तो है ही इसकी शब्दावली भी सहज और सरल है। लेखक ने अलंकारों को बड़ी ख़ूबसूरती के साथ संजोया है। वह नगीने की तरह जड़े नज़र आते हैं। इस पुस्तक से एक जुझारू लेखक के लेखन और सरोकार का पता चलता है। इस संकलन में संकलित संस्मरणात्मक निबंधों के माध्यम से लेखक ने साहित्य, संस्कृति, राजनीति तथा समाज से जुड़ी महान हस्तियों के वैचारिक-साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पक्ष की जबर्दस्त पड़ताल की है। टिप्पणियों से गुज़रते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के पास एक दुर्लभ क़िस्म का सिविक सेंस है, जो न केवल इसकी हैसियतों के गिरेबां में झाँकता है, बल्कि पाठक को भी अपने गिरेबां में झाँकने को प्रेरित करता है।

एक आम धांरणा है कि साहित्यकार और पत्रकार अतिसंवेदनशील प्रकृति के होते हैं, उनका एक मात्र धर्म इंसानियत होता है। इस पुस्तक के संस्मरणात्मक निबंधों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि कहीं-न-कहीं संस्मरणीय व्यक्तियों के संघर्ष इस कठोर सत्य की पुष्टि करते दिखते हैं। कारण कि राजनीति, साहित्य और कला के क्षेत्र में संपन्न इनके कार्यकलापों में जहाँ अनेक उद्यम गहराई और कुशलता के नए पैमाने मिलते हैं, वहीं उनके व्यक्तित्व में आत्मविश्वास और महत्त्वाकांक्षाओं का समुद्र भी ठाठें मारता नज़र आता है। इन विभूतियों ने हमेशा अपने जीवन में चुनौतीपूर्ण निर्णय लिए और सफल हुए।

दरअसल लेखक ने संस्मरणीय व्यक्तित्वों के माध्यम से यह बताने का सफल प्रयास किया है कि अपने लिए जीवन जीना ही सर्वस्व नहीं है, दूसरों के लिए समाज व देश हित में जीवन जीने की अलग-अलग ही सार्थकता है। जैसा कि इस पुस्तक में शामिल कई हस्तियों के जीवन से यह स्पष्ट होता है कि विपरीत परिस्थितियों में भी अपने आदर्शों पर अडिग रहने वालों ने इतिहास बनाए और बँधुता, समता एवं अपनेपन के आधार पर वे सामाजिक संरचना तथा सबल राष्ट्र के निर्माण में लगे रहे। इस दृष्टि से देखा जाए तो लेखक की संस्मरण परंपरा का यह ऐसा विश्वसनीय दस्तावेज़ बन पड़ा ह जो तथ्यों और संस्मरणीय हस्ताक्षरों के जीवन से जुड़ी सामग्रियों का संग्रह तो है ही, मूल्याँकन का नया मानदण्ड भी है। इसमें युग यथार्थ और सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थिति का प्रतिबिंब है। इसलिए यह रचना निश्चय ही यथार्थवादी और महत्त्वपूर्ण है।

कला पक्ष की दृष्टि से भी ये दोनों पुस्तकं सफल कहो ज़ा सकतो हैं, क्योंकि भाषा सरल और प्रवाहमान है। उसमें भाव संप्रेषणीय है। इसे आम पाठक भी समझ सकता है। हमें अच्छी और सशक्त भाषा के जो दर्शन होते हैं, उनमें से कुछ इन पंक्तियों में दृष्टव्य है -

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि संस्मरण में एक ओर ओजस्वी वर्णन में जहाँ पूर्ण समरसता है, तो सामान्य वर्णन में पूर्णत: सम रसमयता का वातावरण निमित हुआ है। वर्णन में कहीं असमंजस नहीं है, जिसके कारण पाठक-वृंद संस्मरण का रसास्वादन करने में समर्थ हैं। मझ पूर्ण विश्वास है कि रचना सहृदयों को हृदयग्राही लगेगी और हृदयग्रही भी जिसके परिमाणस्वरूप यह संपूर्ण राष्ट्र के लिए उन्नायक सिद्ध होगी। लेखक की सरसता, सहृदयता एवं सरलता से युक्त उनका यह साहित्य 'हमें अलविदा ना कहं' उनके नाम 'सिद्धेश्वर' को अक्षरश: चरितार्थ करता है और इसकी सार्थकता भी सिद्ध होती है। इन पुस्तकों में जिन विद्वत्‌जनों और सम्मानीयों के संस्मरण है उन सबके प्रति नत हो हम इसे प्रकाशित करने को इसलिए अग्रसर हुए कि हमारे वह विद्वान जो इतिहास में विस्मृत हैं उनकी स्मृति में कम-से-कम इस पुस्तकों के द्वारा उन्हें विस्मृति के गहर से बाहर जा कर हम दीप जलाएँ उनकी स्मृति का और उनकी सीख पाथ्य बने हम सबके जीवन पथ का। हमने यह महसूस किया कि मानवता के नाते हमारा दायित्व है कि हम अपने श्रेष्ठजनों के लिए कुछ करें चाहे उन पर पुस्तक प्रकाशित कर ही सही। इन पुस्तकों में लेखक के द्वारा सहेजी गई उनकी भूली-बिसरी स्मृतियों को प्रकाशित कर हम उन महानुभावों के प्रति श्रद्धावनत् हो सकते हैं, इसके प्रकाशन के पीछे यही कोशिश रही है।

संपर्क :
यू/207, शकरपुर, विकास मार्ग
दिल्ली-92
मो.-9811281443

सुधीर रंजन
प्रकाशक
सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन
गली नं.-55, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-110092

खंड-एक
साहित्यकार

<u>प्रेमचंद</u> :

जिनकी व्यापक वरेण्यता आज भी बनी हुई है

मार्क्सवाद की मूल अवधारणा को हम मानें या न मानें, पर इतना अवश्य है कि पूरे विश्व में दो वर्ग हैं। एक वर्ग शोषकों का है, जो संगठित होने के साथ-साथ बलशाली भी होता है। दूसरा वर्ग है शोषितों का, जो असंगठित तो होता ही है, निर्बल भी। यही वजह है कि संसार के सारे शोषक सभी भौतिक सुखों के उपभोक्ता होते हैं और शोषित उनके भौतिक सुखों को उपलब्ध कराने वाले साधन बनने को अभिशप्त होते हैं। संसार में जब तक ये दोनों वर्ग रहेंगे, विषमता रहेगी और असमानता कभी समाप्त नहीं होगी। इसलिए विषमता को मिटाना तथा असमानताहीन समाज की स्थापना ही एकमात्र उपाय रह जाता है। प्रेमचंद अपने युग के एक ऐसे ही साहित्यकार थे, जिन्होंने वर्गहीन समाज का सपना देखा तथा देश और अपने साहित्य में मज़दूरों, किसानों, गरीबों, निर्बलों, असहायों तथा समाज के हाशिए पर पड़े दलितों, उत्पीड़ितों एवं नागरिकों के लिए चिंता और सहानुभूति दर्शायी। इस दृष्टि से प्रेमचंद को प्रगतिशील कहना यथोचित होगा। वैसे तो साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न हो, तो शायद वह साहित्यकार ही नहीं हो। दरअसल साहित्यकार को अपने भीतर और बाहर कुछ कमी अनुभव होती है जिसकी पूर्ति के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। समाज को वह सुख, शांति और आज़ादी की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे नज़र नहीं आता। इसलिए मानसिक और सामाजिक रूप से अपने समाज की वर्तमान अवस्थाओं से उसका मन कुढ़ता रहता है। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाए रखता है। वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतनी ही रचना में ज़ोर और सच्चाई उत्पन्न होती है।

आपको याद होगा प्रगतिशील लेखकों के अधिवेशन में प्रेमचंद ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था– 'जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है-चाहे

वह व्यक्ति हो या समूह–उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है।' इस दृष्टि से देखा जाए तो प्रेमचंद की दृष्टि में शोषितों के पक्ष में खड़ा होना साहित्यकार का फ़र्ज़ बनता है। प्रेमचंद की दृष्टि में यदि 'होरी' शोषित है और होरी का शोषण ज़मीन्दार के द्वारा किया जा रहा है, तो प्रेमचंद यह भी मानते हैं कि व्यवस्था के द्वारा राय साहब (ज़मीन्दार) का भी शोषण किया जा रहा है। इसलिए प्रेमचंद होरी और राय साहब दोनों की ही चिंता करते हैं और इन दोनों के शोषण को वे बंद करना चाहते हैं। प्रेमचंद की महत्ता आज भी इसलिए बरक़रार है।

सच तो यह है कि प्रेमचंद की वरेण्यता आज भी इसलिए क़ायम है कि उन्होंने अपने साहित्य का अधिकतर भाग उन्हें केंद्र में रखकर अपनी रचना की, जो समाज के सर्वाधिक उपेक्षित, पीड़ित, निरक्षर और वंचित स्तर के थे, आख़िर तभी तो जब इस वर्ग के लोगों ने प्रेमचंद की रचनाओं को पढ़ा, तो इन्हें यह महसूस हुआ कि प्रेमचंद के रूप में उनके बीच एक मसीहा ने जन्म लिया था और जो उनके उन्नयन और उन्हें समाज व राष्ट्र की मुख्य धारा में लाने के लिए पूरे समाज में संवेदना का बीज बो गया था। प्रेमचंद के जैसे आज कितने रचनाकार हैं जिनकी कृतियों में हिंदी और उर्दू की राम–रहीम शैली का प्रवाह है?

प्रेमचंद वस्तुतः संवेदनशील एवं विश्वसनीय यथार्थ के एक ऐसे साहित्यकार थे, जिनका प्रभाव आज भी वैसा ही है जैसा आज से सात–आठ दशक पूर्व था। वे तालाब, झरना, नदी, सागर और प्रकृति की छटाओं पर न लिखकर उबड़–खाबड़ पर लिखना पसंद करते थे और उनकी रचनाओं में करुणा, सेक्स या आक्रोश की अतिशयता कभी नहीं देखने में आती है। इनके कथा साहित्य में संपूर्ण भारतीय समाज की जीवन–दशा और कृषि–संस्कृति की झलक मिलती है। प्रेमचंद ने लगभग तीन सौ से अधिक कहानियाँ और अठारह उपन्यास लिखे जिनमें 'कफ़न' कहानी को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और जिसका प्रकाशन सन् 1936 ई० में एक उर्दू पत्रिका 'जामिया' में हुआ था। कहा जाता है कि शिल्प और संवेदना के धरातल पर यह कहानी बेहतरीन है। घीसू और माधव पिता–पुत्र हैं और जाति के चमार। वे ज़िंदा लाश की तरह जीते हैं। उनमें कोई भी मानवीय संवेदना बाक़ी नहीं रह गई है। इसके लिए महाजनी सभ्यता, ज़मीदारी समाज और उससे अमीर और चालाक वर्ग सहित शासकीय तंत्र उत्तरदायी है। घर में बुधिया के पेट में बच्चा सहित मर जाने पर उसके कफ़न के नाम पर आए कुछ पैसों से वे बाज़ार

जाकर शराब पी जाते हैं और इसका उन्हें कोई पश्चाताप नहीं है। कहानी की कुशलता की पराकाष्ठा यहाँ पर है कि गुण से रहित चरित्र को भी पाठकों की भरपूर सहानुभूति मिल जाती है।

वर्तमान दौर के समाज में आज भी कई दशकों के गुज़र जाने के बाद भी घीसू और माधव जैसे लोग हैं, जो ज़िंदा लाश की तरह जी रहे हैं और शराब ही उनकी ज़िंदगी के लिए सब कुछ है। 'कफ़न' कहानी क़े कथ्य और तथ्य आज भी समाज के बहुतेरे लोगों के जीवन से निकट हैं और मानवीय संवेदना के निकटतम हैं। सच तो यह है कि प्रेमचंद की विशेषता यह है कि उन्होंने वातावरण-प्रधान, चरित्र-प्रधान, घटना-प्रधान तथा मनोविज्ञान विश्लेषक सभी तरह की कहानियाँ लिखीं। यही कारण है कि प्रेमचंद की पद्धति पाठकों के लिए हर बार सुलझी, सुगम और आकर्षक ही प्रतीत होती है।

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम ने प्रेमचंद को प्रभावित किया था। दरअसल प्रेमचंद को भारत की मिट्टी से अत्यंत लगाव था। अतः बिहारी गँवई प्रभाव को भी अपनाकर उन्होंने साहित्य की रचना की। कहना नहीं होगा कि प्रेमचंद ने अपने आसपास के ग्रामीण एवं पारंपरिक जीवन को अपनी कथाओं में चित्रित किया। यही कारण है कि उनकी कहानियों में विविधता है और उनकी रचनाएँ सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक एवं व्यक्तिगत स्तरों की हैं।

प्रेमचंद के उत्कृष्ट उपन्यासों में 'गोदान' प्रमुख है। इस कालजयी कृति के इतने आयाम हैं कि प्रत्येक आयाम के बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है, परंतु बहुत कुछ न कहकर मैं इतना अवश्य कहूँगा कि 'गोदान' मुख्यतः ग्रामीण जीवन की कथा है जिसमें विशेषतः किसानों के शोषण की गाथा है जो होरी के माध्यम से कही गई है, किंतु उसमें नगरीय जीवन और नगर में बसने वाले ज़मींदार, ताल्लक़ेदार, वकील, प्रोफेसर, शुगर मिल के मैनेजर, डॉक्टर आदि के जीवन का भी सच्चा चित्रण है। मैं यह भी मानता हूँ कि 'गोदान' दलितों के शोषण की भी गाथा है। होरी एक छोटा किसान तो है ही, वह दलित जाति से भी आता है।

प्रेमचंद जिस युग के थे उस वक़्त भारतीय समाज के जीवन में गंभीर मूल्य-संघर्ष व्याप्त था। ऐसी विकट एवं विषम परिस्थिति में प्रेमचंद जागरूक, संवेदनशील, सक्रिय समालोचक-विचारक और कर्मठ सुधारक प्रहरी की तरह साहित्यिक मोर्चों पर आजीवन डटे रहे और वह भी राष्ट्रीय जीवन के घटनाक्रम के साथ मूल्य-स्तर पर वचन और कर्म से जुड़े रहे।

आख़िर तभी तो उन्होंने धर्म का अमानुषिक शोषण, ब्राह्मणों की रूढ़िगत श्रेष्ठता,श्रद्धा, तीर्थ-व्रत के प्रति पंडा-पुरोहित वर्ग की स्वार्थपरता, लोलुपता एवं पाखंड-भरी मान्यताओं की कटु आलोचना की और अपनी कथाओं, उपन्यासों में ऐसे जीवंत पात्र रचे कि पूरे पाखंड तंत्र का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया। उन्होंने धर्म और ईश्वर की रूढ़ परिकल्पना को नकार कर नैतिकता का मानव-जीवन के संदर्भ में औचित्य स्थापित किया। इन्हीं सब वजहों से उनकी व्यापक वरेण्यता आज भी बनी है।

प्रेमचंद ने कई ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं। उन कहानियों में इतिहास में कल्पना और लोककथा का संयोग देखने को मिलता है और जिनमें आदर्शवाद की प्रतिष्ठा हुई है। डॉ० देवराज उपाध्याय ने प्रेमचंद की कहानियों का मूल्याँकन करते हुए लिखा है–'प्रेमचंद के साहित्य में सामाजिक व्यक्ति, समाज तथा राजनीति के मंच पर अभिनय करने वाले व्यक्ति, बाह्य परिस्थितियों की छाप ग्रहण करने वाले व्यक्ति का चित्रण अवश्य है, उनमें आदर्शों और जीवन के मूल्यों के प्रति आग्रह अवश्य है, पर व्यक्ति का वह रूप जिसमें उसकी वैयक्तिक अनुभूतियों की ही प्रधानता रहती है, जिसमें उसकी सब्जिेक्टिविटी और अधिक प्रस्फुटित रहती है–उसके साथ न्याय नहीं हो सका है।'

दरअसल प्रेमचंद की कथाओं में इस देश की आत्मा बोलती है। वे भारत के नंगे-भूखे, बेबस एवं उत्पीड़ित ग्रामीणों को वाणी प्रदान करते रहे और उनकी नित्यप्रति की समस्याओं को उजागर करते रहे। उन्होंने बोलचाल की हिंदी में अपनी कथाएँ प्रस्तुत कीं, जिससे उनके पाठक-वर्ग का पर्याप्त विस्तार हुआ। यही कारण है कि प्रेमचंद की व्यापक वरेण्यता आज भी बनी हुई है।

नि:संदेह भारतीय लेखकों में प्रेमचन्द अकेले हैं, जिनके यहाँ वर्तमान दोर के सभी सवालों से हम रूबरू हो सकते हैं। आज प्रेमचंद हमें बार-बार इसलिए याद आते हैं और आते रहेंगे, क्योंकि यह समय विवेकहीनों, पुराणपंथियों और प्रतिगामियों का है। प्रेमचंद परिवर्तनकामी थे, प्रगतिशील थे। उन्होंने हमें विवेक दृष्टि दी, तार्किकता दी और हमें एक दिशा प्रदान की। भारतीय समाज की मूढ़ता, विवेकहीनता, स्वार्थपरता, क्षुद्रता, सांप्रदायिकता, जड़ता, अशिक्षा, धर्मांधता से हटा कर उन्होंने उसे विवेकवान, दृष्टि-संपन्न, विचारवान, प्रगतिशील, शिक्षित और समझदार का अकेले जो काम किया, वह उनके समय से आज तक बहुत कम लेखकों और राजनीतिक दलों ने किया

है। 'गबन' में देवीदीन और 'आहूति' में रूपमणि ने आज के 'स्वराज्य' की कल्पना नहीं की थी। अँग्रेजों ने विश्वविद्यालयों में टैंक रखने की बात कभी नहीं कही।

इसी प्रकार प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य दलित चेतना, नारी चेतना, सांप्रदायिकता, राष्ट्रीय चेतना, किसानों-मजदूरों का शोषण और मध्यवर्ग का अंतर्विरोध-यानी युग चेतना से अनुप्रमाणित है और कृतियों में तत्कालीन ज्वलंत मुद्दों की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। दरअसल, प्रेमचंद प्रगतिशील विचारधारा के जागरूक व्यक्ति थे। नवजागरण की चेतना से संपुष्ट इस जुझारू और निर्भिक साहित्यकार पर यह उक्ति पूरी तरह सार्थक चरितार्थ होती है-न भूतो न भविष्यति।

प्रेमचंद धर्म के राजनीतिक इस्तेमाल के विरोधी थे। आज दुर्भाग्य से धर्म को राजनीतिक स्वार्थ-सिद्धि का साधन बना लिया गया है। आज गिरगिटी राजनीति पर कम लिखा जाता है, मगर प्रेमचंद की नजर चारों ओर थी-पत्तों की खरखराहट तक। उन्होंने डालियों पर नहीं, जड़ों पर प्रहार किया। जड़ें आज अधिक मजबूत हैं जिनपर कम प्रहार हो रहे हैं। लोकतंत्र की आड़ में सारी शक्ति अपने हाथ में कर लेने उन्होंने आलोचना की थी और ऐसे नेता वे थें जिनके पास धन था, जो जनता को सब्जबाग दिखा सकते थे। हिंदुओं को उन्होंने ज्यादा राजनीतिक सहिष्णुता से काम लेने की जरूरत बतायी। इसी प्रकार प्रातीयता की मनोवृत्ति राष्ट्रीय मनोवृत्ति की विरोधिनी है' ऐसा उन्होंने कहा। उनकी दृष्टि में नेता वही है जिसके कर्म और वचन में कोई अंतर न हो। राजनीतिक को उन्होंने बेईमानी से जोड़ा। उनकी शिकायत उन लोगों से थी जो पढ़े-लिखे हैं।

❖❖❖

डॉ॰ रामविलास शर्मा :
जो हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष थे

किसी व्यक्तित्व की पहचान आचरण एवं चिंतन से होती है। चिंतन की अभिव्यक्ति लेखन में फलीभूत होती है। हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष डॉ॰ रामविलास शर्मा का लेखन उनके साहित्य और सामाजिक चिंतन तथा प्रतिबद्धता का प्रमाण है। डॉ॰ रामविलास शर्मा के व्यक्तित्व और आलोचना को भावुकता के साथ उनके संगीत प्रेम, भाषा प्रेम, मित्र प्रेम और देश प्रेम से जोड़कर देखना होगा। सन् 1934 ई॰ में प्रकाशित उनके प्रथम आलोचना लेख में नाद-योजना, ध्वनि-आवृत्ति, लय, धुन आदि की चर्चा हिंदी के किसी अन्य आलोचक से अधिक हुई है। आज हिंदी जगत में भारतेंदु, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, निराला, तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी के विषय में डॉ॰ रामविलास शर्मा के मत प्रतिष्ठित माने जाते हैं।

रामविलास शर्मा द्वंद्व को केंद्र में रखकर कृति के ढाँचे की परीक्षा करते थे। इस द्वंद्व-केंद्रित ढाँचे का बीज नाटकीयता मानी जाती है। व्यंग्य, विसंगति, विडंबना ये सब स्थितियों के अंतरसंबंधों द्वारा ही उत्पन्न और निर्मित होते हैं। कविता का मूल्याँकन ही नहीं, आस्वाद भी बोध के बिना असंभव है। शर्मा जी का मानना था कि द्वंद्व है तो गति है और विकास है।रचना में द्वंद्व निर्मित होता है गति से और विकास भी होता है गति से। नाटकीयता द्वंद्वात्मक विकास का रूप है।

रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक 'निराला की साहित्य साधना' (खंड दो) के 'कविता का नक़्शा' शीर्षक अध्याय में लिखते हैं- ''प्रत्येक रचना में गति है, विकास है, तर्क की रेखाओं के अनुरूप भाव और मूर्ति-विधान की इमारत खड़ी की जाती है। कविता जिस स्थिति से शुरू होती है उसी में ख़त्म नहीं होती। प्रथम स्थिति यदि कारण है तो अंतिम स्थिति उसका परिणाम है।''

रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी आलोचना एवं सौंदर्यबोध को हमारे लिए विश्वसनीय बनाया है। क्या किसी भारतीय भाषा के साहित्य में अभी तक मार्क्सवादी आलोचना का इतना वर्चस्व बना हुआ है? उनमें क्या कोई सर्व-सम्मानित आलोचक व्यक्तित्व इतना सक्रिय और द्वंद्वात्मक भौतिकवादी आस्था पर टिका रह सकता है? ऐसे सवालों के संदर्भ में रामविलास शर्मा का

व्यक्तित्व और अधिक आलोकित दिखता है।

10 अक्टूबर, सन् 1912 ई॰ को उन्नाव जिला के एक गाँव, ऊँचे सोनी में जन्मे रामविलास शर्मा जी की प्रारंभिक शिक्षा झांसी में हुई। लखनऊ विश्वविद्यालय से सन् 1932 ई॰ में स्नातक तथा वहीं से 1934 में अँग्रेज़ी साहित्य में पीएच॰डी॰ करने वाले प्रथम छात्र थे। इनके शोध का विषय था- ''प्रिरैफेलाइट्स एंड कीट्स''। पाँच वर्षों तक लखनऊ विश्वविद्यालय के अँग्रेज़ी विभाग में उन्होंने अध्यापन किया जहाँ एक बार आचार्य रामचंद्र शुक्ल से उनकी भेंट हुई। निराला जी से उनका परिचय लखनऊ में हुआ। सन् 1941 से 1977 तक आगरा के बलवंत राजपूत कॉलेज में अँग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष रहे। उज्जैन विश्वविद्यालय से प्रोफ़ेसरी एवं अध्यक्ष पद का प्रस्ताव आया जिसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। फिर आगरा विश्वविद्यालय के कुलपति के अनुरोध पर कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी हिंदी संस्थान के निदेशक रहे जहाँ से 1974 में अवकाश प्राप्त किया। रामविलास शर्मा सन् 1940 से 1953 तक अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव रहे।

रामविलास शर्मा को 'निराला की साहित्य-साधना' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला, जिसकी पुरस्कार राशि उस वक़्त पाँच हज़ार रुपये की थी। उन्होंने सम्मान ग्रहण किया, मगर धनराशि नहीं ली। इस प्रकार हिंदी अकादमी, दिल्ली के द्वारा उन्हें 'शलाका पुरुष' सम्मान के साथ 51, 000 रुपये की राशि दी जानी थी, किंतु उन्होंने सम्मान ग्रहण करते हुए अकादमी के अधिकारियों से अनुरोध किया कि राशि शिक्षा-प्रसार योजना में लगा दी जाए। फिर उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का भारती पुरस्कार और सरस्वती सम्मान के साथ एक लाख पचास हज़ार की राशि देय थी, सम्मान तो उन्होंने ग्रहण किया, पर राशि उसी अनुरोध के साथ लौटा दिया। दरअसल पुरस्कार की भूमिका के सवाल पर रामविलास शर्मा का मानना था कि पुरस्कार लेखक की साहित्य साधना का सम्मान करने के लिए हो, इसमें तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन अक्सर होता यह है कि पुरस्कार बड़ा होता है उसके साथ जुड़ी हुई बड़ी राशि से। जितनी बड़ी राशि उतना बड़ा पुरस्कार। रामविलास शर्मा कल्पना करते थे कि क्या दुनिया भर के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक लेखक मिलकर कोई ऐसी संस्था नहीं बना सकते जो अच्छे वैज्ञानिकों, लेखकों को सिर्फ़ सर्टिफ़िकेट दे। क्या यह सर्टिफ़िकेट बड़े से बड़े पुरस्कार से कम होगा? वैसे वे चाहते थे कि कुछ समय के लिए अकादमियाँ, साहित्यिक संस्थाएँ, के॰ के॰ बिड़ला फाउंडेशन भी पुरस्कार देना बंद कर दे और जो पुरस्कार की राशि

हो, वह साक्षरता के प्रसार में लगाई जाए। साक्षर लोग ज़्यादा होंगे, तो साहित्य के पाठकों की भी कमी न होगी। रामविलास शर्मा ने सम्मान को धनराशि से अलग किया, महत्त्व की बात यह है।

रामविलास शर्मा की प्रमुख कृतियों में निराला, प्रेमचंद और उनका युग, भारतेंदु युग, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, भाषा और समाज, आस्था अैर सौंदर्य, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, निराला की साहित्य साधना (तीन खंडों में), परंपरा का पुनर्मूल्यांकन, सन् सत्तावन की राज्य क्रांति और मार्क्सवाद, भारत में अँग्रेज़ी राज्य और मार्क्सवाद (दो खंडों में), घर की बात, भारतीय भाषा परिवार और हिंदी (तीन खंडों में), पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद हैं। इसी प्रकार काव्य-संकलन के रूप में तरंग, सदियों के सोए जाग उठे उल्लेखनीय हैं। अँग्रेज़ी में उन्होंने 'द एसेज आन शेक्सपेरियन ट्रेजिडीज' नाम्नी पुस्तक लिखी।

सन् 1994 में हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने शर्मा जी की विद्वता के संबंध में लिखा है-"र.मविलास शर्मा चक्रवर्ती विद्वान होते, नोबेल पुरस्कार विजेता होते- लेकिन साई इतना दीजिए जा में कुटुम समाय' को आचरण में उतारने वाले न होते तो इतने प्रेरणादायक न होते। सुंदर साहित्य की रचना करने वाले में यदि आचरण की सभ्यता और कर्म-सौंदर्य भी हो, तो उसका व्यक्तित्व साहित्य की देव-प्रतिमा बन जाता है ओर आज उनका व्यक्तित्व ऐसा ही हो गया है।" रामविलास शर्मा ने वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, शेक्सपीयर, कीट्स और शेली पर प्रामाणिक विश्लेषणपरक लेख लिखे, पर वे तुलसी, निराला और शेक्सपीयर पर सबसे ज़्यादा रमते थे भवभूति, निराला, शेक्सपीयर को वह उदात्त ट्रेजडी का कवि मानते थे। शायद तुलसीदास को भी।

रामविलास शर्मा अपनी आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' के प्रारंभिक अंश में अपने बचपन, माता-पिता, भाई-बहन व गाँव को याद करते हैं। जिस सहजता, सरलता, काव्यात्मक और आत्मीयता से वह अपनी बात कहते थे, वह इस बात का प्रमाण है कि संभवत: आज भी रचनात्मक गद्य लेखन में उनका कोई सानी नहीं। साहित्य के संबंध में शर्मा जी कहते थे कि साहित्य का तो एक तरह का नशा होता है, जिसे एक बार लग गया, उसे लग गया। फिर आसानी से छूट नहीं सकता। शर्मा जी स्वयं टी॰वी॰ बहुत कम देखते थे। इसकी बजाय उन्हें संगीत सुनना अच्छा लगता था और वह ट्रांजिस्टर से सुनते थे।

रामविलास शर्मा कुश्ती लड़ते थे। निराला से पंजा लड़ाते थे अभिधा में- लक्षणा में नहीं। पहलवानी करते थे। लखनऊ विश्वविद्यालय में कभी-कभी अखाड़े की धूल से चर्चित ही अँग्रेज़ी साहित्य की क्लास लेते थे। मगर दूसरी ओर वे भयंकर पढ़ाकू - समय के पाबंद और फ़ालतू चीज़ों और व्यक्तियों की फ़ौरन छुट्टी कर देने वाले आदमी थे, लेकिन वह बैठकबाज़ और 'गप्प रसाने' में भी माहिर थे। सन् 1983 में उनकी धर्मपत्नी, जिन्हें वे मालकिन कहते थे की मृत्यु हुई। शर्मा जी का विवाह सन् 1926 में यानी 14 वर्ष की आयु में हो गया था। उनकी छ: संतानों में तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ। वह निराला के मित्र, सहचर, आलोचक, जीवनी लेखक रहे और अमृतलाल नागर, केदार नाथ अग्रवाल के अंतरंग मित्र। रामविलास शर्मा ने अपने जीवन मूल्यों की रक्षा के लिए क़ीमत चुकाई। किसी विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर या कुलपति बनने के लिए जो समझौते करने पड़ते हैं, वे उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं थे। वह आगरा में जबतक रहे, साइकिल का उपयोग करते रहे और किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं किया।

यौवन की प्रारंभिक अवस्था में पर्दापण करने वाले छात्र प्राय: शरारती होते हैं, क्योंकि ऊर्जा का जो ज्वार उनमें उमड़ रहा होता है वह सकारात्मक या नकारात्मक अभिव्यक्ति चाहता है। यही कारण है कि छात्र अक्सरहा अपने अध्यापक को परेशान करते हैं और उनसे शरारत कर बैठते हैं। लेकिन डॉ॰ रामविलास शर्मा के साथ शरारत करने की किसी छात्र की हिम्मत नहीं होती थी। इसकी वजह यह नहीं थी कि उनका लंबा-तगड़ा पहलवानों जैसा व्यक्तित्व छात्रों को आतंकित करता था, बल्कि इसका कारण था उनके प्रति सहज ही उत्पन्न होने वाली श्रद्धा और अनौपचारिकता। कॉलेज के दिनों में डॉ॰ रामविलास शर्मा प्राय: सूट पहनते थे और हैट भी लगाते थे, लेकिन चेहरे पर हमेशा खिली रहने वाली मुस्कराहट, पढ़ाते समय बीच-बीच में व्यंग्य-विनोद और प्रसंगानुसार उनके हाव-भाव छात्रों को इतना मग्न कर देते थे कि पता ही नहीं चलता था कि कब घंटा ख़त्म हो गया। वह छात्रों के साथ इतना घुलमिल जाते थे कि कक्षा का वातावरण बिल्कुल अनौपचारिक हो जाता था।

इतिहास, भाषा विज्ञान, समाजशास्त्र, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, वैदिक काल, चरकसुश्रुत, दर्शन, साहित्य, राजनीति, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा इन सभी विषयों पर डॉ॰ रामविलास शर्मा ने बड़ी गंभीरता से लिखा है। विषय से लेकर पृष्ठ संख्या तक उनकी नई पुस्तक इतनी भारी-भरकम होती थी कि आतंक पैदा होता था। इस क्षेत्र में संभवत: राहुल सांकृत्यायन ही उनकी

बराबरी कर सकते थे। शर्मा जी का सबसे बड़ा और महत्तर कार्य यही रहा है कि अपनी कार्यसूची के पहले नंबर पर उन्होंने साहित्यिक परंपरा को पुनः परिभाषित करने के कार्यभार को रखा और ज़िम्मेदारी से उसे पूरा किया। बीसवीं सदी के इस महान चिंतक के अद्वितीय योगदान से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। 'हंसं' के संपादक राजेन्द्र यादव के अनुसार "रामविलास शर्मा जी की शारीरिक उम्र 88 साल, मानसिक उम्र डेढ़ सौ साल और बौद्धिक उम्र लगभग तीन हज़ार साल थी। पूरब से पश्चिम तक फैले वे उस हिमालय की तरह थे जो अपनी ऊँचाई, भव्यता में कभी विस्मय जगाता है तो कभी श्रद्धा, उसका होना कभी आश्वस्ति देता है तो कभी दिव्य और उदात्त की अनुभूति।" सच कहा जाए तो वे शारीरिक रूप से भले ही हमारे बीच नहीं रहे हैं, वस्तुतः.वे कहीं गए नहीं हैं, सिर्फ़ विचार, विवेक और आस्था के रूप में कार्यांतरित हुए हैं।

हिंदी साहित्य सागर में दीप की तरह विद्यमान रहे, लेकिन-आलोचक डॉ॰ रामविलास शर्मा का प्रकाशपुंज अंतरिक्ष की ऊँचाइयों में सदैव के लिए ब्रह्मलीन हो गया है और छोड़ गया है वे यादें, वे अनुभूतियाँ, वे ऐतिहासिक विश्लेषण, वे प्रगतिशील मार्क्सवादी चिंतनधाराएँ, वे वैचारिक प्रतिबद्धताएँ जिनके स्वर्णिम ख़ज़ाने से हिंदी की भावी पीढ़ियाँ लाभान्वित होती रहेंगी। डॉ॰ रामविलास शर्मा का ऋषियों जैसा त्यागमय जीवन हिंदी की वर्तमान पीढ़ी के लिए प्रेरणा का स्रोत है। साहित्य पिपासुओं के कर्ण-पटल पर जब-जब उन्हें वहाँ मिलेंगे डॉ॰ रामविलास शर्मा के कर-कमलों से लिपिबद्ध वे ग्रंथ, जिनमें छिपे-छिपे हैं अनंत प्रेरणादायक वचन, जिनक चिंतन-मनन से पाठकगणों का साहित्य से संबद्ध प्रगाढ़ होगा। भारत में अँग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद लिखकर भारत की पराधीनता, निर्धनता, शोषण और गुलामी के कारणों का उन्होंने विस्तृत विवेचन किया। अँग्रेज़ी साहित्य में स्नातकोत्तर उपाधि होने के उपरांत भी वे जीवन-पर्यंत तन मन से हिंदी के सम्मान, उत्थान के प्रति समर्पित रहे तथा हिंदी भाषा साहित्य को और अधिक समृद्ध किया। धन्य थी उनकी लेखनसाधना, जो जारी रही उनके महाप्रयाण से चंद क्षणों पूर्व तक। हिंदी साहित्य के इस अप्रतिम साधक को धर्मनिरपेक्षता के आधार-स्तंभों को सुदृढ़ करने एवं मार्क्सवाद-साम्यवाद की स्वस्थ आलोचना के लिए उन्हें याद किया जाता रहेगा। साहित्यिक संगोष्ठियों में उनकी लेखन- ऋंखलाओं की प्रशस्ति में भले ही कम पड़ जाए सियाही और मंद पड़ जाए लेखकों की गति, पर एक बात सच हो गई है कि युग-युगांतर तक उनके लेखन-कर्म को अमरत्व प्राप्त हो गया है। साहित्य संसार के इस शिखर परुष को नमन।

डॉ॰ शिवमंगल सिंह 'सुमन' :
जो ग्रामीण सौंदर्य के कुशल चितेरा थे

हम पंछी उन्मुक्त गगन के, पिंजर बद्ध न हो पाएँगे,
कनक तीलियों से टकराकर पुलकित पंख टूट जाएंगे।

ये पंक्तियाँ हैं हिंदी के उस श्रेष्ठ कवि की जिन्हें बार-बार पढ़ने को मन करता है। उनका नाम है शिवमंगल सिंह 'सुमन' जिनका हिंदी के कवियों में विशिष्ट स्थान है। उनकी कविताओं में मानव-मन की नाना अनुभूतियों का सुंदर और मार्मिक चित्रण तो मिलता ही है, गेयता से संगीतात्मकता का भी गुण पाया जाता है। वह जन-जन की बगिया में खिलने वाले गेंदा के फूल, वर्ग विशेष के लिए खिलने वाले गुलाब नहीं। वह प्रेम और करुणा की बगिया के 'सुमन' थे। शिवमंगल सिंह 'सुमन' को शहरी सौंदर्य लुभा नहीं पाया, अपितु, वह ग्रामीण सौंदर्य के कुशल चितेरा थे, जो सदैव प्रसन्नचित् व हँसमुख रहते थे। इस दृष्टि से उन्होंने अपने 'सुमन' नाम को सार्थक किया। संस्कृत, हिंदी, उर्दू व बंगला जैसी कई भाषाओं पर उनकी अच्छी-ख़ासी पकड़ तो थी, ही उसके वे विद्वान पंडित भी थे, किंतु उनकी कविताएँ कभी उनके पांडित्य से बोझिल नहीं हुईं। उनकी स्मृति इतनी प्रखर थी कि संस्कृत के सूक्ति-श्लोकों, महापुरुषों के उदाहरणों और रचनाओं की सोंधी स्मृतियों को सहज रूप से सुना दिया करते थे मानो स्मृतियों के वे चलते-फिरते शब्दकोश हों। उनके पास ढेर सारे रोचक क़िस्से थे, जो उन्हें सुनने बैठ जाए उठ नहीं सकता, उनका अपना हो जाता था। वह सबको मंत्रमुग्ध कर देते थे।

प्रगतिशील धारा के विरल कवि 'सुमन' जी साहित्य में भी प्रमुख स्थान बनाए हुए थे और मंचों से लाखों लोगों के बीच लोकप्रिय हो गए थे। काव्य-पाठ की उनकी शैली भी अनूठी और अनोखी थी। वह श्रोताओं को कविता की भावयात्रा पर अपने साथ लेकर चलते थे। निराला और बच्चन उनके अत्यंत प्रिय कवि रहे। निराला जी पर तो उन्होंने बहुत लंबी कविता भी लिखी जो उनके भाव-सौष्ठव का अनुपम उदाहरण है। सन् 1983 में नई दिल्ली में महीयसी महादेवी वर्मा की अध्यक्षता में आयोजित तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर इंदिरागाँधी स्टेडियम में संपन्न कवि सम्मेलन में सदाबहार शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने अपने मंच-संचालन के क्रम में निराला जी को इन पंक्तियों में स्मरण किया-

तुम जीवित थे तो सुनने को जी करता था
तुम चले गए तो सुनने को जी करता है
तुम सिमटे थे तो सहमी-सहमी साँसें थीं
तुम बिखर गए तो चुनने को जी करता है।

यह सुनकर हज़ारों प्रतिनिधि एवं सुधी श्रोता गदगद भाव से वाह-वाह कह उठे। लोग उनकी 'वाग्विदग्धता' पर मुग्ध थे। इसी प्रकार दक्षिण भारत के चेन्नई में सन् 1986 में रवीन्द्र कुमार जैन के संचालन में आयोजित एवं विशिष्ट कवि-गोष्ठी में जिस गुलाब चंद कोटाड़िया, बाला सुब्रह्मण्यम, एन॰ सुंदरम, रमेश गुप्त 'नीरद', प्रह्लाद श्रीमाली, किशोर कुमार कौशल, माणकचंद नाहर आदि प्रसिद्ध कवि व साहित्यकार उपस्थित थे, 'सुमन' जी ने अनूठे और सरस काव्य-पाठ किए। गोष्ठी में उपस्थित हमारे मित्र कवियों ने चेन्नई यात्रा के दौरान मुझे इस गोष्ठी के संस्मरण सुनाते हुए कहा कि 'सुमन' जी के मुख से हिमालय की भाँति कविता मंदाकिनी प्रवाहित हो चली थी। वाणी-वंदना के बाद 'सुमन' जी ने तो मुक्तक सुनाया उसे सुनकर सभी काव्य-रसिक भाव-विभोर हो उठे।

कुछ पहले-पहले आज न दंनिया छली गई
फूलों के मुख पर सदा धूल-सी मली गई
बाँहें फैलाकर पुलिनों ने सरिता से माँगा आलिंगन
प्रिय आज नहीं, कल-कल कहती वह चली गइ

उस गोष्ठी में कई कवि-मित्रों ने हमें बताया कि 'सुमन' जी कालिदास, तुलसी, निराला, गाँधी, नेहरू से लेकर बच्चन और नीरज न जाने कितने साहित्यकारों की मधुर स्मृतियों से जुड़ी अनेक मार्मिक कविताएँ सुनाईं।

सचमुच सदाबहार शिवमंगल सिंह 'सुमन' जी बड़े मिलनसार और अपने पाठकों का ध्यान रखने वाले निराले कवि थे। प्रलय-सृजन, विंध्य हिमालय, महादेवी की काव्य-साधना, जीवन के गान, पर आँखें नहीं भरीं, 'कटे अँगूठों की वंदनवारें' आदि अनेक संग्रह पढ़ने लायक़ हैं। 'मिट्टी की माया', 'साँसों का हिसाब', 'बेघरवा', 'चल रही उसकी कुदाली' आदि कविताओं में 'सुमन' जी मिट्टी और उसके लालों के साथ क़दम मिलाकर चलते प्रतीत होते हैं।

जीवन और यौवन के शाश्वत कवि पद्मभूषण डॉ॰ शिवमंगल सिंह 'सुमन' का विगत 27 नवंबर 2002 को दिल का दौरा पड़ने से निधन हो

गया। 5 अगस्त 1915 को उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में जनमें डॉ॰ शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने मध्यप्रदेश को अपना कर्मभूमि बनाया था। इनके व्यक्तित्व में जो सहजता, सरलता, तरलता और मृदुता थी उसकी छाप उनकी गद्य एवं पद्य रचनाओं में गहरे रूप से पड़ी। मार्क्स से प्रवाहित होकर भी 'सुमन' जी ने स्वयं को भारतीय परंपरा, गीत, रीति से जोड़े रखा। डॉ॰ शिवमंगल सिंह 'सुमन' के गीतों से गीत परिभाषित हुआ है। सन् 1968 से 1978 तक वे उज्जैन में विक्रम विश्वविद्यालय के कुलपति रहे।

सन् 1974 में भारत सरकार ने 'सुमन' जी को 'पद्मश्री' तथा बाद में 'पद्मविभूषण' से तो सम्मानित किया ही, आम लोगों ने उन्हें 'जनभूषण', 'कृति और संस्कृति-भूषण' कहकर भी पुकारा। वर्ष 1974 में ही उन्हें 'सोवियत भूमि पुरस्कार' भी दिया गया। इसके अलावा उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार, भारत भारती सम्मान से भी नवाज़ा गया। उनका व्यक्तित्व जहाँ बहुआयामी था, वहीं उनकी विचारधारा प्रगतिशील एवं मानवीय रही। वे शिक्षक, कवि, शिक्षाविद्, मंचजयी, प्रशासक, वक्तृत्वकला में निपुण, दीवानगी की हद तक मस्त और रंक से राजा तक के परिचित और अपने थे। भारत के पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी को उन्होंने पढ़ाया था। वैसे उनके अनेक शिष्य भारत एवं राज्य सरकार के उच्चपदों पर पदस्थापित हुए।

डॉ॰ 'सुमन' जी में प्रगतिवादियों की गहरी सामाजिक प्रतिबद्धता, अन्याय के प्रति मुखर प्रतिरोध और ओजस्विता थी। इनके निधन से हिंदी साहित्य में रिक्तता का भाव सदैव बना रहेगा। मैं उनकी स्मृति को उनकी ही कविता 'जीवन के गान' की पंक्तियों से प्रणाम करता हूँ –

सींच सौरभमय किया उर।
कर सका सेवा न जी भर
तोड़कर कोई चला ले
सूजियों से बेध मृदुतन
छोड़ता हूँ आज उपवन।

❖❖❖

डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र :
जो भारतीय संस्कृति की संवेदना के आख्याता थे

'प्रभुजी तुम चंदन, हम पानी' भारतीय संस्कृति के पोषक और हिंदी तथा संस्कृत के प्रतिष्ठित लेखक डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र की विनम्रता ऐसी थी, जिसने हिंदी साहित्य जगत को अपने ललित निबंधों की चंदन-सी खुशबू से महकाया और खुद को हमेशा पानी माना। कागज़ की शिला पर अपनी कलम को चंदन की तरह घिसते रहने वाला विनम्रता और विद्वत्ता का यह वृक्ष पिछले 14 फ़रवरी, 2005 को ढह गया। उत्तर प्रदेश के मऊ आज़मगढ़ जनपद की सीमा पर दोहरी घाट थानांतर्गत चिउंटी डाढ गाँव के पास एक दस वर्षीय बालक को बचाने के प्रयास में उनकी गाड़ी सड़क किनारे एक गुलमोहर के पेड़ से टकरा गई और इस दुर्घटना में डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र के अलावा उनके एक सहायक का निधन हो गया। देवरिया के एक कन्या महाविद्यालय का शिलान्यास रखने के बाद आज़मगढ़ होते हुए डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र घर लौट रहे थे कि जीवन का दीप बुझ फूट गया।

'पद्मश्री' तथा 'ज्ञानपीठ' पुरस्कार के अलावे कई सम्मानों से सम्मानित डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र राज्यसभा के सदस्य भी थे। उत्तर प्रदेश के गोरखपुर ज़िले में 26 जनवरी, 1926 को जन्मे डॉ॰ मिश्र ने वाशिंगटन विश्वविद्यालय में अध्येता, वाराणसी के संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय में अध्यापक तथा कुलपति के पद को सुशोभित करने के अतिरिक्त काशी विद्यापीठ के कुलपति पद का दायित्व भी संभाला था। उन्होंने अपनी बौद्धिक-यात्रा की शुरुआत पत्रकारिता और निबंध लेखन से की और अपनी रचनाओं से भारतीय संस्कृति और साहित्य की अभिवृद्धि में उल्लेखनीय योगदान किया। वे एक लंबे अरसे तक 'नवभारत टाइम्स' के संपादक भी रहे। बाद में वे 'साहित्य अमृत' के संपादक थे। भारतीय प्राचीन परंपराओं के आख्याता ऋषितुल्य डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र के निधन से भारतीय संस्कृति, साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में जो क्षति हुई वह अपूरणीय है।

डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र की मूल्य-निष्ठा एवं उनके गहन स्वाध्याय तथा सरस पांडित्य की छवि अनायास ही स्मृति-पटल पर उभरने लगती है। इसमें कतई संदेह नहीं कि आज उदासी और विषाद है जो उनके न होने की

रिक्तता को आच्छादित करता है। वे परंपरा को जितना समझते थे उतना ही परिवर्तन को भी और उनकी चेतना में जितना लोक का सचेतन सातत्य था उतना ही शास्त्र का मनोरम सान्निध्य भी। दरअसल डॉ० मिश्र जी अपनी जड़ों से गहरे रूप से जुड़े थे और वहीं से वे जीवन का रस पाते थे। उनकी सोच में परंपरा से आधुनिकता की और शास्त्र एवं लोक की निरंतर आवाजाही थी। एक ललित निबंधकार के रूप में भाषा, संस्कृति और साहित्य के विमर्श में, चिंतक के रूप में उनके योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र की भारतीय संस्कृति के बारे में जो धारणा थी वह यह कि भारतीय संस्कृति ने किसी विचारधारा के आगे समर्पण नहीं किया, न उसने किसी वस्तु को इस दृष्टि से आत्मसात् किया कि उस वस्तु का नामोनिशान न रहे। उसने विविधता को, अनेकरूपता को बराबर आदर दिया है, प्रश्रय दिया है। कहीं भी उसने अपने को आरोपित नहीं किया है।

वे मानते थे कि इस संस्कृति की कई मौलिक उपलब्धियाँ हैं। इसने सरकंडे को गन्ने के रूप में प्रत्यारोपण के द्वारा विकसित किया, इसने सरकंडे में रस भरा, इसने जंगली धान्य को शालि के रूप में विकसित किया, उसमें अद्भुत गंध भरी, इसने जंगली आम की कलम करके सरकार का विकास किया और उसमें रस और गंध दोनों भरा डॉ विद्या निवास मिश्र जी का कहना कि भारतीय संस्कृति उस सदा जीवा की तरह रस गर्भ हैं उसे हरी-भरी देखना हो तो अपना पानी उसे आप दें। आप में पानी है तो वह हरी-भरी हैं भक्त रैदास ने भी पानी की ही पुकार लगाई थी, जब उन्होंने कहा था, 'प्रभु जी, तुम चंदन हम पानी; प्रभु जी, तुम दीया हम बाती।' व्यक्ति ही किसी संस्कृति की अभिव्यक्ति होता है। चंदन पानी के साथ घिसे न तो वह काष्ठ मात्र है, बाती के बिना लौ का अस्तित्व कहाँ है। यह बात अलग है कि आज जब हम भारतीय संस्कृति पर नजर डालते हैं, तो पाते हैं कि भारतीय संस्कृति भयंकर निराई और जहरीली दवाओं के छिड़काव से काफी हद तक घर, बाहर सर्वत्र नष्ट की जा रही है। वह केवल नंगी चट्टानों की दरारों में, नदी के ऊँचे कगारों की संधियों में और घने जंगलों की घनी छाया में बची हुई हैं मिश्र जी के मतानुसार भारतीय संस्कृति उस किसान की कृपा से बची हुई है, जो गेहूँवाद का शिकार नहीं हुआ है; जिसे जौ की, बाजरे की रोटी अब भी मीठी लगती है। भारतीय संस्कृति की यह दुर्दशा इसलिए हुई है कि वह शोभा या प्रसाधन या सजावट का आग्रही हो गया है।

विद्या निवास मिश्र का यह भी कहना था कि भारतीय संस्कृति

जीवन के रस का तिरस्कार नहीं है, नकार नहीं है, पर एक अलग ढंग का स्वीकार है। भारतीय संस्कृति जीवन को केवल भोग्य रूप में नहीं देखती, वह जीवन को भोक्ता के रूप में भी देखती है।

14 जनवरी, 1926 को गोरखपुर जिले के पकड़डीहा गाँव में जन्में विद्यानिवास मिश्र संस्कृत साहित्य के पंडित तो थे ही, हिंदी साहित्य के भी मर्मज्ञ थे। उनका रचना-कर्म विपुल संख्या में है। उनकी रचनाओं में साहित्य की चेतना, रीति विज्ञान, साहित्य का प्रयोजन, संचारिणी, महाभारत का काव्यार्थ, जिन मुख मुकुर, लागौ रंग हरी, तुलसी मंजरी, नैरंतर्य और चुनौती, भाव पुरुष श्रीकृष्ण उल्लेखनीय हैं। फिर संस्कृति की व्याख्या की दृष्टि से यदि देखी जाए, तो परंपरा बंधन नहीं, हिंदू धर्म जीवन में सनातन की खोज, भारतीय परंपरा, देश, धर्म और साहित्य, दि इंडियन क्रिएटिव माइंड, कबीर वचनामृत, सो हम जीवन असभ्य है, जीवन सौभाग्य है, नदी, नारी और संस्कृति, फागुन हुई रे दिना, तुम चंदन हम पानी, शिरीष की याद आई, मेरे राम का मुकुट भींग रहा, मैंने सिल पहुँचाई आदि अनेक रचनाएँ हैं।

विद्यानिवास मिश्र जी भारत की समरसता के पक्षधर रचनाकार थे। भारत की समरसता का चित्रण उन्होंने, बड़े ही सुंदर प्रतिमानों के साथ प्रस्तुत किया है। मुकुट की दीप्ति, मेखला की ध्वनि और नुपुर का उन्मद विलास परस्पर पूरक और उपकारक है और विलग नहीं। मिश्र जी के मुताबिक ऐसे रूप के प्रति जो उदासीन रहते हैं वे दुर्भागी हैं- ''जो एक विशेष प्रांत के मोह में, एक विशेष जनपद के मोह में और एक विशेष कोने के मोह में इस विशाल देश की मोहकता को भूल जाता है उसके ऊपर मुझे तरस आता है।''

विद्या निवास मिश्र जी ने अपने अधिकतर निबंधों में भारत की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन तो किया ही है, साथ ही उसकी धार्मिक, ऐतिहासिक आदि विशेषताओं को भी अवश्य उजागर करते हैं। दरअसल कवि हृदय या संवेदनशील भावुक मानस ही प्रकृति के सौंदर्य की अनुभूति कर सकने में समर्थ हो पाता है ऐसा मानस मिश्र जी का था। आखिर तभी तो इत ी सुंदर और मनोहारी शब्दावली में रस से सराबोर कर देने वाली भाषा में प्रकृति का दिव्य रूप अनावृत कर पाए हैं। वे प्रकृति के प्रति अनुराग का ही परिणाम है कि शब्द उनके हृदय से एक-एक कर बाहर निकलकर प्रकृति के साथ तादात्मय स्थापित करते चलते हैं-''शरद की शुभ जयोत्स्ना में जब यामिनी पुलकित हो गई है और जब इस जल-प्रपात के यौवन का मद खुमार पर आ गया है और उस खुमारी में इसका सौंदर्य सुरतांत में शिथिल पड़ी मुग्धा के वदन-मंडल

की भाँति और अधिक मोहक बन गया है।''

विघटित होते परिवार और उनकी दुर्दशा एवं कारणों की पड़ताल विद्यानिवास मिश्र अपने 'परिवार वर्ष' निबंध में करते हुए कहते हैं- ''परिवार के लुप्त होने के कारण तीन हैं एक तो शहरी करण' की रिहायशी सुविधाओं का संकुचित हो जाना है, दूसरे निजी एकांत की तलाश में वहाँ पहुँचना है, जहाँ एकांत खाने लगता है और तीसरा कारण है भोग की अतृप्त लालसा, जो पति-पत्नी को भी अंततः ग्रस लेती है तथा वे एक दूसरे के लिए अर्थहीन हो जाते हैं। यही आज के जीवन की नियति है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। सदियों से डॉ. विद्या निवास मिश्र जी के क्षेत्र में एक सोहर गाया जाता था-

''मचिया ही बइठल कौशल्या रानी, मेघ से अरज करे हो
मेघ जनि बरसऽ केदली के बनवा कि राम मोरा भीजि जइहें हो.''

मर्यादा पुरुषोत्तम राम, लक्ष्मण और सीता वन में हैं, मेघ बरस रहे हैं। कौशल्या के हृदय में यही हूक उठती है। अपने क्षेत्र के अत्यंत प्रचलित इस सोहर से विद्या निवास मिश्र जी काफी विचलित से रहते थे। इसका भाव उनके मन में गहरे समाया हुआ था। शायद इसी सोहर के बीज से 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' का विशाल और छायादार वट वृक्ष तैयार हुआ था, जिसकी शीतलता हिंदी का हर ललित निबंधकार समेट लेना चाहता है।

सचमुच विद्यानिवास मिश्र जी बहुत बड़े थे। वे इसलिए बड़े नहीं थे कि भारतीय मनीषा और वांड़मय का मथ कर उसका तत्त्वनवनीत निकालने वाले तत्त्वभिनिवेशी भारतीय अस्मिता की पहचान थे, लोक-संस्कृति के व्याख्याता थे, अपितु वे इसलिए बड़े थे कि वे किसी को छोटा नहीं मानते थे। मनुष्य को सारी सीमाओं के साथ जानते-मानते थे।

अब मिश्र जी नहीं रहे न तो कौशल्या रहीं अब राम के मुकुट की चिंता कौन करेगा? अब चिंता करनी है तो वे ही करें स्वर्ग में बैठे-बैठे! कवि मनोज माधव के शब्दों में कहूँ, तो वे सचमुच एक सघन-छायादार पीपल थे, तुलसी-सी पवित्र और आत्मीय, घर-आँगन में रोपने और निराजना किए जाने योग्य। कवि माघव की ही इन पंक्तियों से मैं विद्यानिवास जी की स्मृति को प्रणाम करता हूँ-

उनका जाना-उखड़ जाना पीपल का,
निर्वासन तुलसी का,
लुप्त हो जाना शास्त्रीयता का,
हानिलोक की, क्षति देश और मानवता की।

प्रो0 रामशरण शर्मा :
जो इतिहास लेखन के शिखर पुरुष थे

अंतरराष्ट्रीय स्तर के सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो0 रामशरण शर्मा इतिहास लेखन के शिखर पुरुष थे। पटना विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय और टोरंटो विश्वविद्यालय सहित कई विश्वस्तरीय ख्याति नाम उच्च शिक्षण संस्थानों में अध्यापन कर चुके प्रो0 शर्मा ने केवल इतिहास लेखन एवं सृजन में ही अपना योगदान नहीं दिया, बल्कि कई उच्च एवं अनुसंधानपरक संस्थाओं के सर्जक भी रहे। वे भारतीय अनुसंधान परिषद् के संस्थापक अध्यक्ष रहे थे। प्रो0 शर्मा जवाहरलाल फेलोशिप, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग फेलोशिप एवं वीके राजवाड़े लाइफटाइम अवार्ड समेत कई राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किए गए थे। वे लंदन एवं टोरंटो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर भी रहे।'

प्रो0 रामशरण शर्मा प्राचीन एवं प्रारंभिक मध्यकालीन इतिहास के महान इतिहासकार माने जाते हैं। उन्होंने इतिहास की तकरीबन एक सौ पन्द्रह पुस्तकें लिखी हैं, जो दुनिया को पन्द्रह भाषाओं में प्रकाशित हुई हैं। विदेशी भाषा जापानी, इटालियन, जर्मन, रूसी और अँग्रेजी के अतिरिक्त बांग्ला, मराठी, तमिल, कन्नड़, तेलुगु, गुजराती और मलयालम समेत कई अन्य देशी भाषाओं में अनुदित इनकी पुस्तकों के 100 से अधिक संस्करण छप चुके हैं। खासतौर पर 'प्रारंभिक भारत का इतिहास' जैसी अंतरराष्ट्रीय स्तर की बेहद चर्चित पुस्तकें भी इनकी देन हैं। इनकी पहली पुस्तक 'विश्व इतिहास की भूमिका' दो खंडों में सन् 1949 में प्रकाशित हुई। हाल ही में इनकी अंतिम पुस्तक इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ अर्ली इंडियन' नई दिल्ली स्थित विवा पब्लिकेशन से प्रकाशित हुई है। प्रो0 शर्मा की कुछ प्रमुख पुस्तकें निम्नांकित हैं-(1) प्राचीन भारत (2) आरिजिन ऑफ द स्टेट इन इंडिया (3) अर्बन डेकवे इन इंडिया (4) सोशल लाइफ इन नौर्दन इंडिया (6) लैंड रेवेन्यू इन इंडिया (6) इंडियन सोसाइटी (7) सर्वे ऑफ रिसर्च इन सोसाइटी एंड इकोनॉमिक्स हिस्ट्री ऑफ इंडिया (8) कम्प्रेहिंसिव हिस्ट्री ऑफ इंडिया (9) लुकिंग फौर द आर्यन्स (10) अर्ली मेडियेवल इंडियन सोसाइटी (11) इंडियन फ्यूडलिज्म (12) सूरदास इन एंसियंट इंडिया (13) मैटेरियल कल्चर एडं सोसल फौरमेशन इन एंसियंट इंडिया (14)

आस्पेक्ट्स ऑफ पौलिटकल आइडिया एंड इंस्टीच्यूशन इन एसियेट इंडिया (15) शूद्रों का प्राचीन इतिहास (16) भारत के प्राचीन नगरों का पतन (17) प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्याएँ (18) भारतीय सामांतवादी।

1 सितंबर, 1920 को बेगुसराय के बरौनी फ्लैग के एक साधारण परिवार में जन्मे प्रो0 रामशरण शर्मा की विद्यालीय शिक्षा-दीक्षा बेगुसराय में ही हुई। पिता ने किसी तरह पैसे जुटाकर मैट्रिक की परीक्षा पास कराई। फिर पटना कॉलेज में उन्होंने इंटर में नामांकन कराया और पढ़ाई का खर्च जुटाने के लिए उन्होंने ट्यूशन पढ़ाया। मेधावी होने के कारण उन्हें छात्रवृत्ति मिली, तो सहारा मिला। पटना कॉलेज से ही उन्होंने स्नातक तथा पटना विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर की उन्होंने डिग्री ली। सन् 1943 में एच डी जैन कॉलेज, आरा में इनकी व्याख्याता के पद पर पहली नियुक्ति हुई। फिर वे टी0 एन बी0 कॉलेज, भागलपुर आ गए। सन् 1954 में वे विदेश चले गए और वहीं उन्होंने पी0 एच0 डी0 किया। सन् 1958 में वे पटना कॉलेज के इतिहास विभागोध्यक्ष बने। 1972 में पटना विश्वविद्यालय से वे सेवानिवृत्त हुए। 1973 से 1985 तक वे दिल्ली विश्वविद्यालय में इतिहास के प्राध्यापक रहे। वहाँ विभागाध्यक्ष के पद से सेवानिवृत्त होने के बाद नब्बे के दशक में वे फिर पटना लौट आए। वे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के भी सदस्य रहे। सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए छात्र-छात्राओं के बीच उनकी पुस्तकों की काफी माँग रहती है। भारतीय सामंतवाद के उदय व विकास पर उनका काम खास माना जाता है। वे मानते थे कि अँग्रेजों के जाने के बाद देश के नवजात पुँजीवाद ने सामंतवाद को कमजोर करने की बजाय इनके साथ सांठ-गांठ कर लिया, जिससे सामंतवाद को नवजीवन मिला। इससे देश के औद्योगिकीकरण व कृषि का विकास भी अवरुद्ध होता गया। प्रो0 शर्मा रोमिला थापर और इ एच कार से प्रभावित रहे। सन् 1977 में एन सी इ आर टी द्वारा प्रकाशित उनकी पुस्तक 'प्राचीन इतिहास को प्रतिबंधित किया गया था। उन्होंने अपनी विद्वता के डंके देश ही नहीं, बल्कि दुनिया भर में फैलाए। प्राचीन भारत में शूद्र 'विषय पर उन्होंने ही सबसे पहला काम किया था। इसी विषय पर उन्होंने वर्ष 1950 में ही प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो0 ए एल वाशम के दिशा निर्देश में पीएच. डी. की थी।

देश के इस प्रख्यात इतिहासकार प्रो0 रामशरण शर्मा का निधन 91 वर्ष की उम्र में 20 अगस्त, 2011 को पटना के एक निजी अस्पताल में हो

गया। वे पिछले कुछ दिनों से बीमार थे। वे अपने पीछे पत्नी, एक पुत्र समेत भरापुरा परिवार छोड़ गए। पत्नी डॉ0 मलीना शर्मा पटना ट्रेनिंग कॉलेज में प्राध्यापक रहे चुकी हैं और इनका एक मात्र सुपुत्र प्रो0 ज्ञान प्रकाश शर्मा जामिया मिलिया विश्वविद्यालय, दिल्ली में इतिहास के प्राध्यापक हैं। प्रो0 रामशरण शर्मा आज हमारे बीच नहीं हैं, पर उनका न रहना उस कतार के झंडाबरदार का चले जाना है, जो इतिहास को वैज्ञानिक तर्कों के नजरिए से देखते हैं। प्रो0 शर्मा आजीवन धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के पक्षधर रहे। इतिहासकार होने के नाते उन्होंने इस देश को और कुछ हद तक दुनिया को जो दिया है, उसके लिए वे भविष्य में भी याद किए जाएँगे। प्राचीन इतिहास को सांप्रदायिक चश्में से देखने की जब भी कोशिश होगी, इसके विरुद्ध प्रो0 रामशरण शर्मा अपने तर्कों के साथ खड़ा मिलेंगे। इतिहास के इस अध्येता का सादा जीवन, गरीबों के प्रति हमदर्दी व इतिहास लेखन में विशिष्टता हमेशा स्मरणीय रहेगी। निश्चित रूप से इनके निधन से इतिहास लेखन को बड़ी क्षति हुई और इतिहास लेखन के एक युग का अंत हो गया। अपने इतिहास लेखन के जरिए समाज की सही तस्वीर प्रस्तुत करने वाले प्रो0 रामशरण शर्मा ने बिहार-बंगाल सीमा विवाद सुलझाने में भी अहम भूमिका निभाई। सन् 1990 में काकतिया विश्वविद्यालय में एक व्याख्यान के दौरान प्रो0 शर्मा ने कहा था कि जब राजनीतिक उद्देश्य से धर्म के नाम पर उसके अनुयायियों को उभारा जाता है, तब सांप्रदायिकता का उदय होता है, अपने संप्रदाय की सुरक्षा के नाम पर दूसरे संप्रदाय के लोगों को सताना भी सांप्रदायिकता है। मुझे इस बात पर गर्व है कि ऐसे प्रख्यात इतिहासका प्रो0 शर्मा को सुनने और मिलने का मौका मुझे भी इसलिए मिला कि बिहार की राजधानी पटना में पढ़ने-लिखने से लेकर भारत सरकार की सेवा में भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग में मैं कार्यरत था।

प्रो0 रामशरण शर्मा ने इतिहास के अध्ययन को नई वैज्ञानिक दृष्टि दी, इससे विश्व स्तर पर भारत एवं बिहार की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। उनके परिवार के सदस्यों ने प्रो0 शर्मा के बारे में कई अनकही बातें बताते हुए बताया कि इतने बड़े इतिहासकार रहे डॉ0 शर्मा का जीवन काफी व्यस्त रहा करता था। हमेशा ही वे देश-दुनिया का भ्रमण करते रहे तथा विद्वानों व विद्यार्थियों से हमेशा घिरे रहे। पटना विमेंस ट्रेनिंग कॉलेज की पूर्व प्राचार्या तथा प्रो0 शर्मा की जीवनसंगिनी डॉ0 मलिना शर्मा ने कहा कि उनके पति के अंदर की विद्वता का दर्प नहीं रहा, इससे वे हमेशा दूर रहे और घर के

लिए भी समय निकाल लेते थे। पारिवारिक सदस्यों के साथ हमेशा ही बैठकर जीवन जीने के दिशा-निर्देश देते रहे। ऊँच-नीच और भेदभाव से रहित जीवन जीने वाले डॉ0 शर्मा दयालुता से भरे थे। जिसे जिस प्रकार बन पड़ा, खुलकर मदद की। जो भी उनके सन्निध्य में आया, उसे मेहनत के बल पर आगे बढ़ने की सलाह उन्होंने जरूर दी। उन्होंने अपनी पत्नी को इतना प्यार व स्नेह दिया कि अपनी हर पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर उन्हें स्थान दिया और अपनी हर रचना उन्हें समर्पित करते रहे।

कैसे परिवार को जोड़ कर रखा जाए और घर चलाया जाए, इसकी सलाहं वे जीवनभर देते रहे। वे दहेज प्रथा के प्रबल विरोधी थे। अपने एकलौते बेटे की शादी में भी उन्होंने दहेज की माँग नहीं की। उलटे बहू रागिनी शर्मा के पिता को स्पष्ट शब्दों में कह भी दिया कि दहेज में एक रुपए भी देंगे, तो बारात नहीं लाएँगे। कूट-कूट कर मानवीय संवेदना से भरे प्रो0 शर्मा का भारतीय समाज पर गहरी पकड़ थी। परंपरावादी इतिहासकारों से भिन्न तथा छह दशकों तक इतिहास लेखन से जुड़े प्रो0 रामशरण शर्मा, निरंतर साधना में रहते हुए भी गंभीर होने के साथ-साथ विनोद प्रिय थे। उनके मजाकिया लहजे को सुनकर आनंद आता था। रुकना तेरा काम नहीं, चलना तेरा काम, चल-चल रे नौजवान, तुम आगे बढ़ो, आफत से लड़ो जब आँधी हो या तूफान, प्रो0 शर्मा इन पंक्तियों को हमेशा गुनगुनाते रहते थे। बिहार की मिट्टी में पले-बढ़े प्रो0 शर्मा से पूरा देश गौरव महसूस करता था। मात्र पाँच विघा जमीन के मालिक उनके पिता किसान थे और पिता की तीन रुपए की कमाई से ही परिवार चलता था। प्रो0 शर्मा अपनी जिंदगी से पूरी तरह संतुष्ट थे। अपने अध्ययन में संस्कृत, पुरातात्विक और साहित्य को अपना स्रोत बनाने वाले प्रो0 रामशरण शर्मा प्रगतिशील सामाजिक मूल्यों के साथ जुड़े रहे और धार्मिक पाखंडों के खिलाफ शिद्दत से सक्रिय रहे। वे सादगी की प्रतिमूर्ति थे और सादा जीवन जीते थे। वे मानते थे कि प्राचीन वर्ण व्यवस्था आज अप्रासंगिक हो गई है और लगातार टूट रही है। वे यह भी मानते थे कि आर्थिक-राजनीतिक आंदोलन के बिना बदलाव संभव नहीं है। बिहार में सामाजिक न्याय आंदोलन पर उनका कहना था कि इस आंदोलन को व्यापक बनाने की जरूरत है। नए लोगों के साथ प्रो0 रामशरण शर्मा का गहरा और आत्मीय रिश्ता होता था। नए लोग जब भी उन्हें अपनी गोष्ठियों में बुलाते थे, तो वे रिक्शे से भी पहुँच जाते थे। विचार-विमर्श के दौरान नए लोगों को वे सुनते और उन्हें प्रोत्साहित करते थे। उनके निधन पर

बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने इस विद्वान इतिहासकार को बिहार का गौरव की संज्ञा दी।

बिहार में बदलाव की ताकतों के साथ बिरादराना रिश्ता रखनेवाले प्रो0 रामशरण शर्मा के विचारों और सिद्धांतों पर जब मैं आज गौर करता हूँ, तो पाता हूँ कि उनका जीवन-दर्शन और उनका पूरा व्यक्तित्व अनुकरणीय एवं प्रेरित करनेवाला था। उन्होंने अपने तर्कपूर्ण लेखन के जरिए पुरानी ध रणाओं व नजरिए को बिल्कुल बदल दिया। उन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास को न सिर्फ नए संदर्भ में देखा, बल्कि अपने गहन अध्ययन की वजह से उस दौर में भी वे अपने तर्कों की जमीन पर मजबूती के साथ खड़े रहे, जब इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या की कोशिश एवं धर्म व राजनीति का घालमेल होने लगा। जोखिम उठाने की वजह से उन्हें कई हमले भी झेलने पड़े। प्रारंभिक भारत का इतिहास नाम्नी उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक में आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक विषयों का प्रतिपादन है। देश-दुनिया के इतिहास में प्रवेश करके सभ्यता और संस्कृति के उदय, विकास और प्रसार तथा उसके पतन के कारणों की खूब पड़ताल करनेवाले प्रो0 रामशरण शर्मा जी को मैं नौशाद की इन पंक्तियों से विनम्र श्रद्धाँजली एवं सम्मान अर्पित करता हूँ

'दरे गैर पर भीख माँगो इन फन की,
जब अपने ही घर में खजाने बहुत हैं।'

निर्मल वमा :
जिन्हें महारत हासिल थी संवेदनाओं को उकेरने में

आधुनिक हिंदी कथा साहित्य में प्रेमचंद के बाद सबसे ख्यातिलब्ध कथाकार निर्मल वर्मा का नाम आते ही ज़ेहन में एक ऐसा प्रयोगधर्मी साहित्यकार का अक्स उभर आता है, जिन्हें संवेदनाओं को उकेरने में महारत हासिल थी और जिसने लधुकथा के क्षेत्र में हिंदी साहित्य को किसी भी समकालीन लेखक की तुलना में अधिक समृद्ध बनाया। 3 अप्रैल, 1929 को शिमला में जन्मे निर्मल वर्मा ने दिल्ली विश्वविद्यालय से इतिहास में स्नातकोत्तर की उपाधि हासिल की। सन् 1950 में लिखी गई उनकी पहली कहानी एक छात्र पत्रिका में छपी और इसके बाद 1959 में पहला कथा-संग्रह 'परिंदे' का प्रकाशन हुआ। इसके बाद तो वे हिंदी कथा साहित्य में नए प्रयोग करने वाले लेखक के रूप में स्थापित हो गए। इसी दौरान आधुनिक चेक लेखकों की रचनाओं को हिंदी में अनुवाद के एक कार्यक्रम के लिए चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग आने का उन्हें निमंत्रण मिला, जहाँ उन्होंने अपना पहला उपन्यास 'वे दिन' लिखा। सन् 1959 से 1970 के बीच यूरोप के व्यापक भ्रमण के दौरान निर्मल वर्मा ने एक राष्ट्रीय अँग्रेज़ी के लिए बतौर सांस्कृतिक संवाददाता का काम भी किया। कथा और चिंतन में उनके अंदर एक नैतिक साहस था। आपातकाल 1980 में यूरोप के भ्रमण से भारत वापस आने के बाद भारत भवन में निराला सृजन पीठ के वे अध्यक्ष बने और सन् 1988 से 1990 तक शिमला में यशपाल रचनात्मक लेखन संस्थान के वे निदेशक भी रहे।

निर्मल वर्मा ने कथा कहानियों के अतिरिक्त यात्रा-संस्मरण तथा निबंध जैसी अनेक विधाओं में लेखन किया। साहित्यिक जीवन के सफ़र में अंतिम पड़ाव पर पहुँचने से पूर्व उनके पाँच उपन्यास , आठ लघुकथा संग्रह, नौ निबंध व यात्रा-संस्मरण प्रकाशित हो चुके हैं।

निर्मल वर्मा, जिनका आधुनिक कथा साहित्य में प्रेमचंद के बाद सर्वाधिक योगदान माना जाता है उनकी प्रसिद्ध कृतियों में 'लाल टीन की छत', 'एक चिथड़ा सुख', 'अंतिम अरण्य', 'रात का रिपोर्टर', 'वेदना', 'धुंध से आती धुंध', 'शामिल हैं। उन्हें सन् 1985 में 'भारतीय ज्ञानपीठ' सहित अनेक राष्ट्रीय

एवं अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। उन्हें 'कव्वे और काला पानी' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिल चुका है। अंतरराष्ट्रीय एशियाई अध्ययन संस्थान का फ़ेलो वे रह चुके हैं। सच तो यह है कि वे शेष दुनिया से और हिंदी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में सबसे अधिक सुनी जानी वाली आवाज़ थे। निर्मल वर्मा से देश ही नहीं, बल्कि देश के बाहर भी हिंदुस्तान की पहचान बनती थी। सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि उनके विचारों को मानने वाले जितने लोग हैं, उनमें ज़्यादातर उनकी कहानियों को पढ़ने वाले व सराहने वाले हैं। उनकी कहानी 'माया दर्पण' पर एक फ़िल्म बनी, जिसे सन् 1973 का सर्वश्रेष्ठ हिंदी फ़िल्म पुरस्कार प्रदान किया गया। उनकी रचनाओं का कई यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इंग्लैंड के रीडर्स इंटरनेशनल ने उनकी कहानियों को सन् 1988 में एक संग्रह 'द वर्ल्ड एल्सव्हेयर' प्रकाशित किया था। बी॰बी॰सी॰ ने उनपर बनाए गए वृत्तचित्र का प्रसारण भी किया। मैं इस मायने में अपने को सौभाग्यवान मानता हूँ कि दिल्ली में रहने की वजह से निर्मल वर्मा को अनेक बार सुनने-समझने के साथ-साथ उनसे बात-चीत करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ है और उनके विचारों से न केवल मैं बहुत प्रभावित हुआ, बल्कि मेरे लेखन और आचरण पर भी उसका गहरा असर पड़ा। भले ही विगत 25 अक्टूबर 2005 को लंबी बीमारी के बाद वे हम सबों के बीच से विदा हो गए, लेकिन अपनी कहानियों के पात्रों के माध्यम से हमेशा ही साहित्य प्रेमियों के बीच मौजूद रहेंगे।

निर्मल वर्मा एक अच्छे साहित्यकार होने के अलावा एक अच्छे इंसान तो थे ही अपने नाम के अनुरूप 'निर्मल' भी थे। हिंदी साहित्य में अपनी एक अलग क़िस्म की शैली के चलते युवा पीढ़ी में वह लोकप्रिय थे। वह अंतर्मुखी थे। उनके अंतर्मुखी होने का प्रभाव उनकी शैली पर स्पष्ट दिखता है। अज्ञेय के बाद हिंदी पद्य को उन्होंने एक नया आयाम दिया। निर्मल वर्मा हिंदी जगत में अपना एक अलग मुक़ाम बनाने के साथ-साथ हिंदी साहित्य की संस्कृति और परंपरा के बारे में लिखा। ऐसे चिंतक एवं विचारक निर्मल वर्मा को हिंदी साहित्य जगत में नए प्रतीकों का इस्तेमाल करने के लिए विशेष रूप से याद किया जाएगा। एक निडर लेखक और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के समर्थक के रूप में उन्हें याद करते हुए उनकी स्मृति को मैं नमन करता हूँ।

शांत स्वभाव, मिलनसार व्यक्तित्व और अपने सीमित दायरे में रहने वाले लेखक निर्मल वर्मा के व्यक्तित्व की बहुत सारी ख़ूबियाँ तो थी हीं,

लेखन के मामले में भी उनका अपना दृष्टिकोण था। निर्मल वर्मा के व्यक्तित्व की जितनी सराहना की जाए कम होगी। वे लेखन की सभी विधाओं पर समान रूप से अधिकार रखते हुए भारतीय सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान-परंपरा, चिंतन-मनीषा पर सहजता से बात करते थे, पर व्यक्तिगत जीवन के बारे में बात-चीत करने से हमेशा कतराते रहे। वे कहते थे कि एक लेखक को सिद्धांतत: आत्मकथा नहीं लिखनी चाहिए। कोई भी रचना जीवन का प्रतिबिंब नहीं है और न होनी चाहिए। वह सुप्रसिद्ध लेखक आडेन का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते थे कि आडेन ने तो यहाँ तक कह दिया था कि मेरी मृत्यु के बाद मेरी जीवनी न लिखी जाए। मेरे पत्र जला दिए जाएँ। इसी को आधार बनाकर निर्मल वर्मा कहा करते थे कि मुझे भी अपना व्यक्तिगत जीवन सार्वजनिक करने में संकोच होता है। जिस प्रकार साहित्य में आत्मकथा लिखकर लोग विवादों में रहे या फिर अपनी रचनाओं में अपने व्यक्तिगत जीवन को आधार बनाकर रचनाएँ लिखते थे इसको निर्मल वर्मा ग़लत मानते थे। वे कहते थे कि अगर लिखना भी चाहूँगा तो महादेवी वर्मा की तरह जीते-जागते आस-पास के चरित्रों पर लिखना चाहूँगा।

अपने उपन्यास 'अंतिम अरण्य' में निर्मल वर्मा ने मृत्यु से साक्षात्कार भी कर लिया था। हिंदी उपन्यासों में मृत्यु से इस प्रकार का साक्षात्कार दुलर्भ ही पढ़ने को मिलता है। कहा जाता है कि 'वे दिन' के बाद अगर निर्मल वर्मा ने सच में कोई उपन्यास लिखा है तो वह है 'अंतिम अरण्य' बाक़ी की उनकी कृतियों के बारे में यह कहा जाता था कि एक ही प्रकार के शिल्प को वे बार-बार अपनी कृतियों में दोहराते रहे हैं। लेकिन 'अंतिम अरण्य' में एक नए प्रकार का शिल्प पढ़ने को मिलता है। 'अंतिम अरण्य' लिखने के बाद उन्होंने कहा कि "मैं सोचता हूँ कि आदमी जितना मृत्यु के क़रीब जाता है उतना ही उसका चरित्र- व्यक्तित्व, उसकी संवेदनाएँ क्या वही रहती हैं जो वह सामान्य जीवन में व्यतीत करता है। एक जिज्ञासा थी जिसे मैंने अपने उपन्यासों में लिखा" हिंदी कथा साहित्य, विस्मयकारी भाषायी सौंदर्य और ग्रंथहीन पारदर्शी चिंतन का एक अप्रतिम अध्याय विगत 25 अक्टूबर, 2005 को समाप्त हो गया।

हिंदी भाषा-भाषियों की साहित्यिक, बौद्धिक चेतना यह याद रखने की कृतज्ञता जताएगी कि निर्मल वर्मा अपने युग के शीर्ष कथाकार होने के साथ-साथ शीर्ष मानवीय व्यक्तित्व के धनी भी थे, जिन्होंने अपना सारा जीवन जिस गरिमामयी सादगी, दैन्यविहीन विनम्रता और विनीत सैद्धांतिक दृढ़ता के

साथ जिया, वह उनके जैसे आत्मसंशयी मुक्त मनीषी के लिए ही संभव था। वस्तुत: वे अजातशत्रु थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी का एक बड़ा लेखक वर्ग निर्मल वर्मा की वैचारिक आस्थाओं को प्रगतिशीलता का दुश्मन मानता था और यदा-कदा उनकी आलोचना में अश्लील भी हो जाया करता था। अपनी इन आलोचनाओं से निर्मल वर्मा कभी-कभी व्यथित हो जाते थे, लेकिन विचलित कभी नहीं हुए। अपने लेखन के प्रारंभिक काल में ही वामपंथ से मोह भंग के बाद वे अपने जिस वैचारिक पक्षों के साथ खड़े हुए, अंत तक उनके साथ ही खड़े रहे।

निर्मल वर्मा का बड़प्पन इस तथ्य में निहित नहीं था कि उन्हें अपने रचनाकर्म के लिए साहित्य अकादमी और ज्ञानपीठ जैसे सम्मानों के साथ अन्य अनेक सम्मान प्राप्त हुए, बल्कि इस तथ्य में निहित था कि ये सारे सम्मान और रचनाकर्म से मिली विश्व स्तरीय प्रसिद्धि उनकी निर्मलता पर खरोंच तक नहीं बना सकी। इस अर्थ में वे अचंभित तो करते ही थे, अभिभूत भी। उनका यह बड़प्पन ही उनके हर आलोचक पर भारी पड़ता रहा। हर आलोचना के साथ उनका कद ऊँचा होता चला गया। हिंदी का यह किरीट परिंदा भाषा, साहित्य, चिंतन और वैयक्तिक गरिमा को अपने अनूठे और विपुल योगदान से समृद्ध करके जीवन के पिंजरे से मुक्त हो, मानवीय हलचल की परिधि से परे अनजान देश की ओर उड़ गया। उनकी उड़ान का स्वर्ण पथ हिंदीवालों के पास रह गया है। अब देखना है कि हिंदीवाले भावी पीढ़ियों के लिए इसे किस प्रकार सहेजते हैं और हिंदी की आत्मा के लिए इसे किस तरह सँजोते हैं।

❖❖❖

फ़ादर कामिल बुल्के :
विदेशी, जिसे हिंदी ने अपना बना लिया

एक विदेशी, जिसे हिंदी ने अपना बना लिया उसे करोड़ों भारतीय फ़ादर कामिल बुल्के के नाम से समूचे देश में बड़े आदर के साथ जानते हैं। करोड़ों भारतीयों का यह चहेता, दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करने वाले और हिंदी में ही बातें करने वाले इस यशस्वी संत फ़ादर कामिल बुल्के का जन्म 01 सितंबर, 1909 ई० को पश्चिमी बेलजियम के प्रांत वेस्टफ्रेंडर्स में स्थित ग्राम रम्सकैपल में हुआ था। उन्होंने इंजीनियरिंग में बी० एससी० की उपाधि प्राप्त कर जर्मन में दर्शनशास्त्र तथा आईस्टीन के सापेक्षवाद सिद्धांत को समझने के लिए उच्च गणितशास्त्र का भी विशेष अध्ययन किया। सन् 1935 ई० में वे भारत आए एक अध्यापक के रूप में और तब से यहीं के होकर रह गए। सन् 1938 ई० में उन्होंने प्रथम बार 'रामचरितमानस' और 'विनय पत्रिका' का आद्योपांत अध्ययन किया तथा हृदय पर एक अमिट प्रभाव ध ारण करते हुए तुलसी के प्रति समर्पित हो गए।

संत फ़ादर कामिल बुल्के को राम से काफ़ी प्यार था। वाल्मीकि रामायण एवं तुलसी के रामचरितमानस में उनके प्राण बसते थे। वह कहते थे कि उन्हें राम में ईसा के दर्शन होते हैं। प्रस्तुत उनके दुर्लभ ग्रंथों का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया, तत्पश्चात् हिंदी विश्व को 'राम कथा' के नाम से एक ऐसी अद्वितीय कृति दी जिसे पढ़ने के बाद राम से संबंधित कोई बिन्दु शेष नहीं रह जाता। तक़रीबन सात सौ पृष्ठोंवाले इस भारी-भरकम ग्रंथ का समर्पण उन्होंने आदिकवि वाल्मीकि को इन शब्दों में किया है,

"जिसकी प्रतिभा ने रामकथा को भारत तथा निकटवर्ती देशों के साहित्य में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया और भारतीय संस्कृति का एक उज्ज्वल प्रतीक बना दिया उन आदिकवि वाल्मीकि को रामकथा की दिग्विजय का प्रस्तुत विवरण सश्रद्ध समर्पित है। त्वदीयं वस्तु वाल्मीके के तुभ्यमेव समर्पये।"

ऐसे उद्भट विद्वान तथा फ्रेंच, अँग्रेज़ी, जर्मन आदि भाषाओं के अच्छे ज्ञाता और हिंदी, संस्कृत तथा अवधी में गहरी रुचि रखने वाले संत फ़ादर कामिल बुल्के के संबंध में 'धर्मयुग' के संपादक डॉ० धर्मवीर भारती ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि जो सचमुच बुल्के को समझने के लिए काफ़ी माने रखता है,

''कौन-सी थी वह प्रेरणा जिसके कैशोर्य में ही बेलजियम में अपना भरापूरा परिवार छोड़कर मानव सेवा के लिए निकल पड़े होंगे बुल्के? क्या कभी याद नहीं आती घर की? रामचंद्र तो चौदह वर्ष के बनवास के बाद घर लौट आए थे, पर बुल्के तो आजीवन प्रवास ले बैठे और ऐसा प्रवास कि अब भारत की संस्कृति, भारत की भाषा उन्हें भारतीयों से भी अधिक प्रिय हो चुकी है। सारी एशियाई भाषाओं के साहित्य को छानकर उन्होंने रामकथा के जितने आयाम खोज निकाले हैं वह क्या कोई और कर पाया? हिंदी अँग्रेज़ी शब्दकोश जैसा सटीक प्रामाणिक और उपयोगी उन्होंने बनाया, क्या कोई दूसरा और बना पाया? और साथ ही जिसकी सेवा में भी कोई कोताही नहीं। यहाँ तक कि बाइबिल का नया अनुवाद भी कर डाला।''

राम-साहित्य पर शोध के दौरान भी बुल्के जी के समक्ष एक समस्या आई कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पहले हिंदी के शोध-प्रबंध भी अँग्रेज़ी में ही प्रस्तुत किए जाते थे और बुल्के अँग्रेज़ी का प्रयोग नहीं करना चाहते थे, किंतु उनकी समस्या का निदान विश्वविद्यालय के उच्चाधिकारियों ने उन्हें शोध-प्रबंध हिंदी में ही प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान कर कर दिया। सच तो यह है कि जो हिंदीवाले व्यक्ति को अँग्रेज़ी बोलने पर टोक देता हो और उनसे हिंदी में ही बात करने का अनुरोध करता हो और अपना भाषण सर्वत्र हिंदी में ही करता हो वह स्वयं राम-साहित्य पर शोध-प्रबंध अँग्रेज़ी में कैसे प्रस्तुत कर सकता था? यही नहीं बात-चीत के दौरान भी यदि कोई व्यक्ति बीच-बीच में अप्रचलित अँग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग करता तो उससे वे बहुत नाराज़ होते थे। वह कहते थे कि हिंदी के विकास में सबसे बड़ी बाधा भारत के अधिकांश बुद्धिजीवियों और उच्च-मध्य वर्ग के लोगों का अँग्रेज़ीपरस्त होना है तथा हिंदी प्रांतों द्वारा हिंदी को पूर्ण रूप से न अपनाया जाना है। वह पूरे देश को एक सूत्र में बाँधने वाली भाषा हिंदी को ही मानते थे। हिंदी के संबंध में बुल्के जी द्वारा व्यक्त किए गए विचारों को यहाँ प्रस्तुत करना प्रासंगिक होगा और साथ ही अनुकरणीय भी।

''हिंदी भाषा इतनी समृद्ध और सक्षम है कि सारा कामकाज सुचारु रूप से हिंदी में किया जा सकता है। यह खेद की बात है कि हिंदी-भाषियों में भाषा के प्रति स्वाभिमान नहीं जगा, अन्यथा बहुत पहले हिंदी देशव्यापी स्तर पर प्रचलित हो गई होती। अचानक ही हिंदी में काम-काज शुरू होने पर कुछ कठिनाइयाँ होना स्वाभाविक है। क्रमशः इनका निवारण हो जाएगा। मैं जब बेलजियम से 1935 ई॰ में आया तो भारतीय जनता में अपनी ही भाषा के प्रति घोर उपेक्षा पाई। यह देखकर मैंने हिंदी पढ़ने का संकल्प लिया। मैंने

निश्चय किया कि हिंदी की सेवा करूँगा। भारत में संस्कृत माँ है, हिंदी गृहिणी और अँग्रेज़ी नौकरानी - इस तथ्य को कोई स्वाभिमानी भारतीय कैसे भुला सकता है।''

इस संदर्भ में यहाँ इस बात का उल्लेख करना समीचीन होगा कि बुल्के जी की जन्मभूमि बेलजियम में फ्रेंच भाषा का वर्चस्व था जबकि उनकी अपनी भाषा फ़्लैमिश को नितांत उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। अपनी ही भूमि पर अपनी भाषा का अपमान उन्हें नाक़ाबिले बर्दाश्त था। अत: विद्यार्थी जीवन में फ्रेंच' के बढ़ते प्रभाव को रोकने एवं फ़्लैमिश को सम्मानप्रद स्थान दिलाने के उद्देश्य से उन्होंने विरोधप्रदर्शन भी किया था। बुल्के जी बेलजियम से जब भारत आए, तो वही स्थिति उन्हें यहाँ भी देखने को मिली। उन्होंने देखा कि यहाँ के करोड़ों लोग अपनी भाषा हिंदी को यथेष्ट सम्मान न देकर अँग्रेज़ी को विशेष महत्त्व देते हैं। इस पर उन्हें क्षोभ हुआ और उन्होंने भारतवासियों द्वारा लेखन, पठन एवं वाचन में सदैव हिंदी को प्रयोग में लाने का संकल्प दिलाया, क्योंकि यहाँ आकर वे सर्वतोभावेन हिंदी को समर्पित हो गए थे।

फ़ादर कामिल बुल्के सर्वधर्मसमन्वय के प्रतिरूप थे। उनके बिछावन पर एक ओर बाइबल तथा दूसरी ओर रामचरित मानस की पुस्तकें रहती थीं। दूसरों के दु:ख से द्रवित होने वाले वे सच्चे पादरी थे और सच्चे भारतीय संत भी। नागपुर में जनवरी 1975 ई० में आयोजित प्रथम विश्वहिंदी सम्मेलन में एक गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए फ़ादर कामिल बुल्के ने कहा था कि, ''भारत धर्मपरायण देश है, किंतु धर्म की प्रधानता के बावजूद उसके ग्रंथों में एकांगीपन नहीं, बल्कि मानवीय मूल्यों का संतुलन है।''

रामायण, महाभारतीय संस्कृति और हिंदी की समन्वयात्मक विशेषता को फ़ादर मामिल बुल्के ने इन शब्दों में व्यक्त किया था,

''रामायण में जीवन के प्रति उदासीनता नहीं है। इसमें मानवीय मूल्यों का सुंदर संतुलन है, इसलिए रामायण समस्त भारत में ही नहीं, समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया में व्याप्त है। धर्म और भौतिकता का समन्वय हमारी संस्कृति की विशेषता है। हम भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को समस्त विश्व में तब तक नहीं पहुँचा सकते जब तक हिंदी भारत में प्रतिष्ठित नहीं हो जाती। संत तुकाराम की आम्हार्च लोक त्रिभुवन मध्य' की भावना को लेकर यदि हिंदी चलेगी तो वह विश्व मानव की चेतना की वाहक बन सकेगी।''

फ़ादर कामिल बुल्के वर्तमान झारखंड की राजधानी राँची के संत जेवियर्स कॉलेज में हिंदी विभागाध्यक्ष पद पर विराजमान रहे तथा सेवा-निवृत्ति के बाद राँची में ही बस गए। राँची स्थित भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के महालेखाकार कार्यालय में पदस्थापित रहने के कारण मेरा यह सौभाग्य रहा कि सभा-समारोह और संगोष्ठियों में न केवल मुझे उन्हें सुनने-समझने का अवसर मिला, बल्कि हिंदी पर उनसे विचार-विमर्श करने का भी अवसर प्राप्त हुआ। वह नेकदिल इंसान थे और उनमें एक साथ कई गुणों का समावेश था। साहित्यिक संवेदनशीलता तो उनमें कूट-कूटकर भरी थी तथा उनके समग्र लेखन में दार्शनिक एवं वैज्ञानिक प्रवृत्तियों का परस्पर गहरा सामंजस्य साफ़ नज़र आता था।

'राम कथा' के अतिरिक्त जिन अन्य पुस्तकों की उन्होंने रचना की उनमें 'टेक्निकल इंगलिश हिंदी ग्लॉसरी' (1995), 'नील पंछी' (1978), ' मोटकूरालिंक के प्रसिद्ध नाटक ब्लूबर्ड का हिंदी अनुवाद', 'अँग्रेज़ी-हिंदी कोश' (1968), 'मानस कौमुदी' (1963), 'रामकथा और तुलसीदास' तथा 'मुक्तिदाता'। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, केंद्रीय हिंदी समिति, हिंदी साहित्य सम्मेलन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् जैसी अनेक हिंदी संस्थानों से फ़ादर कामिल बुल्के जुड़े रहे तथा हिंदी की समृद्धि और उसके विकास के लिए वे कोई भी क़दम उठाने से नहीं चूकते थे।

उजले वस्त्र के अंदर से झाँकते हुए सौम्य तथा दाढ़ीवाले गौरांग तेजपुँज का छहफुटा लंबा शरीर एक निष्काम योगी की तरह दिखने वाला फ़ादर कामिल बुल्के का व्यक्तित्व किसी को भी अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ था। लगभग 73 वर्ष की उम्र में घातक बीमारी गैंग्रीन के शिकार हो जाने के फलस्वरूप फ़ादर मामिल बुल्के की मृत्यु 17 अगस्त, 1982 ई॰ को दिल्ली में हो गई। भारत सरकार द्वारा पद्मभूषण से सम्मानित हिंदि का वह मिसाली सेवक थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, धीरेन्द्र वर्मा, रामकुमार वर्मा, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, निराला, महादेवी वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त तथा माखनलाल चतुर्वेदी जैसे हिंदी के यशस्वी हस्तियों के संपर्क में आए और फिर करोड़ों हिंदीप्रेमियों को छोड़ कर चले गए।

आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री :

जिनके काव्य का प्रयोजन है सत्यं शिवं सुंदरम्

सहज गीत, ग़ज़ल और कविता धारा के कवि आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री हिंदी और संस्कृत कविता के उन महान कवियों में से एक हैं जिन्होंने छंदोंबद्ध कविता के कई युग एक साथ जिए हैं। 'बादलों से उलझ, बादलों से सुलझ, ताड़ की आड़ तो चाँद क्या झांकता' - गीत की इन पंक्तियाँ उनकी सहज भावधारा की ओर तो संकेत करती ही हैं, इनमें सहजता का सौंदर्य भी उल्लेखनीय है। शास्त्री जी बहुत सरल बिंब के जरिए सनातन भाव को किस भाव से घोंसला पिंजड़ा पंछी, अब अनंत से कौन मिलाए जिससे तू खुद विछड़ा पंछी।'

शृंगार शास्त्री जी का प्रिय रस रहा है। माधुर्य उनकी काव्य का प्रयोजन। वे लोक और परलोक दोनों के कवि हैं। कालिदास, तुलसी, शेक्सपीयर, मिल्टन, रवीन्द्रनाथ टैगोर, जयशंकर प्रसाद और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' उनके प्रिय कवि हैं वैसे कहीं न कहीं वे बुद्ध के विचारों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। देखें इन पंक्तियों को - ''जो कसा टूट जाय, तुनुक तार ये ढील दो, छंदलय हों निराधार ये। सजा यह जिदंगी का नहीं दिलगी, जो छूओ छोड़ दो, और बजता चले। तुम कि तनहाइयाँ ढूँढ़ते शून्य की चाँद तारे तुम्हारे लिए हैं जलें।''

अपने साहित्य जीवन में आचार्य शास्त्री जी ने 50 से अधिक साहित्य की विभिन्न विधाओं में रचनाएँ लिखकर संस्कृत एवं हिंदी साहित्य को समृद्ध किया जिनमें बाललता, अंकुर, उन्मेष, रूप-अरूप, तीर-तरंग, शिप्रर, अंवतिका, मेघगीत, गाथा, प्यासी-पृथ्वी, संगम, उत्पलदल, चंदनवन, शिशिर किरण, हंस किंकिणी, सुरसरि, गीत, वितान, धूपतरी तथा बंदी मदिरम् काव्य संग्रह और राधा महाकाव्य है। पोषणी तमसा, इरावती संगीतकार एवं देवी, जिंदगी, आदमी और नील-झील नाटक हैं। इसी प्रकार उपन्यास में एक किरण; सौ झांइयाँ, दो तिनकों का घोंसला, अश्वबुद्ध और कालिदास प्रकाशित हैं। कहानी संग्रह में कानन, अर्पणा, लीला कमल, सत्यकाम, बासों का झुरमूट, प्रकाशित हो चुके हैं। मन की बात और जो न बिक सकीं ललित निबंध हैं। अजंता की ओर, निराला को पत्र, स्मृति के

वातायन, नाट्य सम्राट पृथ्वीराज कपूर, हंस-बलाका, कर्मक्षेत्र मरुक्षेत्रों और अनकहा निराला शास्त्री जी के संस्मरण हैं। संस्कृत काव्य में काकली, बंदी मंदीरम्, लीला पदम्, सा, प्राच्य साहित्यम् तथा ग़ज़ल संग्रह में सुने कौन नगम प्रकाशित हैं। इसी प्रकार साहित्य दर्शन, त्रयी, प्राच्य साहित्य, स्थायी भाव और सामाजिक साहित्य तथा चिंतनधारा समीक्षा की पुस्तकें हैं।

साहित्य गुटबंदियों से दूर मुजफ्फरपुर जैसे शहर में शास्त्री जी ने पूरा जीवन व्यतीत किया। अपना खून-पसीना लगाकर बेला और जैसी साहित्यक पत्रिकाओं का इन्होंने संपादन किया। इस प्रकार संस्कृत में काव्य रचना की शुरुआत करने वाले आचार्य जानकी बल्लभ शास्त्री ने केवल कविता को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बनाया, बल्कि 'कालिदास' जैसे उपन्यास की रचना के अतिरिक्त कहानी, संस्मरण, निबंध और आलोचना में भी उनके लेखनी की विशिष्टता अपनी अलग पहचान दिखती है। 'राधा' जैसा महाकाव्य लिखने वाले शास्त्री जी उस परंपरा के कवि-मनीषी थे जिनके लिए साहित्य ही साधन और साहित्य की साध्य था। सहित्य उनके लिए न तो यश प्राप्ति का साधन था और न अर्थ प्राप्ति का। इसलिए उन्होंने न तो पुरस्कार समितियों का चिरौरी की और न साहित्य की राजनीति। उन्होंने सिर्फ साहित्य रचना की।

छायावाद की त्रयी जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानंदन पंत पर उन्होंने जो भाववादी समीक्षा लिखी वह छायावाद, और इन तीनों कवियों की परस्पर संबद्धता को समझने के लिए मील का पत्थर है - आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास में पंत, प्रसाद और निराला के नाम ज्योति के पत्र पर लिखें हैं। ये नाम शेक्सपीयर, गेटे या टैगोर की कोटि के हैं जिन्हें निकाल देने पर अँग्रेजी, जर्मन या बांग्ला की तरह ही हिंदी में भी ऐसा कुछ न रह जाएगा। सगीत की बड़ी गहरी जानकारी रखने वाले आचार्य शास्त्री जी की कविता की अवधारणा में सुर, लय और छंद समाहित थे। इस दृष्टि से उन्हें कोई परंपरावादी कहकर खारिज करे, तो यह सिर्फ अपनी मान्यताओं की दूसरे पर थोपने से अधिक कुछ नहीं होगा। शास्त्रीजी को उनके समकालीनों ने बेशक उपेक्षित किया हैं, किंतु भविष्य में साहित्यक इतिहास में वे एक मनीषी साहित्यकार के रुप में समाहित होंगे। बिहार सरकार ने शास्त्री जी को सम्मान देने में कभी कोताही नहीं की। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा संचालित आचार्य शिवपूजन सहाय प्रसाद शिखर सम्मान और राजभाषा विभाग द्वारा डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद सम्मान से सम्मानित किया गया। भारत सरकार ने उन्हें पदमश्री की उपाधि प्रदान करने की

घोषणा की थी, जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया था। उन्हें पदम्‌भूषण का सम्मान बहुत पहले दिया जाना चाहिए था

25, जनवरी,1916 को गया जिला के मैगरा गॉव में जन्में आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री का पिछले 7 अप्रैल, 2011 को उनकी कर्मस्थली मुजफ्फरपुर के 'निराला निकेतन' में निधन हो गया। वे कुछ दिनों से अस्वस्थ थे। निराला निकेतन में ही उनका दाह-संस्कार किया गया। उनकी एकमात्र पुत्री शैलबाला ने मुखाग्नि दी। शास्त्रीजी अपने पीछे अपनी दूसरी पत्नी छाया देवी तथा बेटी-दामाद सहित हजारों शुभेच्छओं को छोड़ चले। बड़े गौर से सुन रहा था जमाना तुम्हीं सो गए दास्तां कहते कहत; हिंदी के विरले आचार्य कवियों में एक आचार्य शास्त्री जी के आकस्मिक निधन से हिंदी साहित्य जगत के छायावादी युग की धारा थम सी गयी। शास्त्री जी आज हमारे बीच नहीं रहे, पर उनके गीत सदैव लोगों को आगे बढ़ने की प्रेरणा देती रहेगी-

'मेरे पथ में न विराम रहा।
कुछ दूर और, कुछ दूर और करता
मैं आठो याम रहा।'

महाकवि आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री की रचनाओं में समाज की संपूर्ण छवि दिखती है। वे साहित्य की विविध धाराओं को प्रस्फुटित करने वाले महामानव थे। उनपर सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की छाप थी, यही कारण था कि उन्होंने अपने आवाज का नाम 'निराला निकेतन' रखा। उनकी कविताओं में समाज के अभिवंचित वर्ग की स्पष्ट छवि दिखाई देती है। गीत को समाज की धड़कनों से जोड़ने का काम केवल आचार्य शास्त्री ही कर सकते थे। समाज में व्याप्त विसंगतियों को आचार्य श्री हमेशा महसूस करते रहे और यह बात उन्हें सालती रही। एक मनुष्य होते हुए प्रकृति और पशु से उनका आत्मीय संबंध अपने आप में अदभुत था। शास्त्री जी जो लिखते थे, वह भारत जीता था।

आचार्य शास्त्री जी के व्यक्तित्व के परिणामस्वरूप मानव व पशु-प्रेम का अनूठा रूप 'निराला निकेतन' में दिखाई देता था। शास्त्री जी अद्‌भुत प्रेम के प्रतिमान स्वरूप थे। वे हमेशा कहते रहे - आदमी से ज्यादा भरोसेमंद जानवर ही होते हैं। शास्त्री जी के निराला निकेतन में दर्जन भर गाय, कुत्ते तथा बिल्लियाँ रहती थीं जिनके खाने-पीने पर रोजाना सात सौ से एक हजार रुपए तक खर्च होते थे। उनकी सबसे प्यारी गाय 'श्यामा' के निधन से उपजी पीड़ा

को उन्होंने धरातल प्रदान किया। इस गाय के निधन पर उन्होंने 'श्याम संगीत' नामक एक महाकाव्य लिख डाला, जो पशु प्रेम व समर्पण का अद्‌भुत उदाहरण है। आखिर तभी तो शास्त्री जी निधन के बाद जब तक वे मृत शैय्या पर पड़े रहे, शास्त्री जी के बगल में ही उनका प्रिय कुत्ता देर रात तक पड़ा रहा । कहा जाता है कि लाल चरी निद्रा में सो चुके आचार्य शास्त्री जी की एकमात्र संतान शैलबाला का अपने पिता की छाती से लिपटने के लिए किसी तरह से कुत्तिया को उनसे अलग करना पड़ा। करीब दर्जन गाय, कुत्ते, बिल्ली के कारण को कोलाहल में डूबा रहने वाला निराला निकेतन शास्त्री जी के निध न के पश्चात् खामोश दिखा, क्योंकि बेजुबान पशुओं को शास्त्री जी का नहीं होने का बेसुध पड़ी शास्त्री जी की पत्नी छाया जी 'रोज कहते थे मैं अब नहीं रहूँगा। मेरे पास आकर बैठिए। मुझे अकेला छोड़।' मैं स्मरण कर रहा हूँ कि आचार्य शास्त्री जी ने अपने साहित्यिक जीवन में उतार-चढ़ाव को अपनी लेखनी के जरिए परोसा। बिहार के सर्वश्रेष्ठ व प्रतिष्ठित राजेन्द्र शिखर सम्मान प्राप्त करने के अवसर पर उन्होंने बड़ी बेबाकी से तत्कालीन मुख्यमंत्री भागवत झा आजाद के समक्ष कहा -

मैं आया हूँ, लाया गया हूँ
खिलौना देकर बहलाया गया हूँ

इसी प्रकार शास्त्री जी को वर्तमान साहित्यकारों की ठकुर सुहाती कर राज प्रसाद पाने वाले कवियों पर व्यंग्य करते हुए कहा था-

'पार नहीं मंमुधार नहीं, झकझोर रही पुरवइया,
डूब गए जल यान हजारों, कुश्ती की क्या हस्ती, फिर भी मौजों के सर चढ़कर हँसती मेरी मस्ती
मैंने अपने हाथों खेई मेरा न था कोई खेबैया।'

वर्तमान राजनेताओं पर देखें आचार्य शास्त्री जी की टिप्पणी -

ए वतन याद है किसने तुझे आजाद किया,
कैसे आजाद किया, आबाद किया,
किस तरह बरबाद किया।

मुझे पूरी तरह याद है आचार्य शास्त्री जी को पटना में स्थित महात्मा गाँधी सेतु के उद्‌घाटन के अवसर पर सम्मानित करने का प्रस्ताव तत्कालीन राज्य सरकार ने रखा था, किंतु आचार्य शास्त्री जी ने यह कहते हुए सम्मान लेने से मना कर दिया कि इसमें सारा खून-पसीना इंजीनियरों व मजदूरों का लगा है, इसलिए सम्मान उन्हीं को मिलना चाहिए।

आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री जी को साहित्य संसार में लोग सरस्वती के वरद् पुत्र की भी संज्ञा देते थे, क्योंकि वे हर वर्ष वह वसंत पंचमी के दिन बड़े श्रद्धा व सम्मान भाव से वाग्देवी की पूजा-अर्चना करते थे, मगर पूजा के पश्चात् उन्होंने कभी वाग्देवी की प्रतिमा को विसर्जित नहीं किया। उनके घर के एक कमरे में आज भी सरस्वती की प्रतिमाएँ सुरक्षित पड़ी हैं।

जीवन के यथार्थ को आचार्य शास्त्री जी ने अपने शब्दों में इस तरह पिरोया कि उनकी रचना कालजयी हो गयी। उन्हें पता था कि इस कवि के देह को एक दिन प्राण छोड़ चलेगा। वे कहते हैं-

'तन चला संग, पर प्राण रहे जाते हैं।
जिनको पाकर था बेसधा, मस्त हुआ मैं,
उगते ही उगते, देखा मस्त हुआ मैं।'

यह सब लोग जानते हैं कि इस संसार में सब कुछ नश्वर है, सिर्फ हमारी कुर्वानी , हमारा कर्म ही युग-युगांतर तक रह जाता है, तभी तो उनकी लेखनी चल पड़ती है-

'गुलशन न रहा, गुलर्ची न रहा, रह गई कहानी फूलों की,
महमह करती-सी बीराजी आखिरी निशानी फूलों की'

आचार्य शास्त्री जी की बहुचर्चित रचना 'रूप-अरूप' की इन पंक्तियों से उनकी पावन स्मृति को नमन कर मैं श्रद्धा निवेदित करता हूँ -

कितना निठुर यह उपहास!
जो अजाने ही गया, वह था मधुर मधुमास।
कितना निठुर यह उपहास!!

अमृता प्रीतम :
जिनके अक्षरों की प्रतिध्वनि गूँजती रहेगी

साहित्य के प्रति पूरी ज़िंदगी समर्पित करने वाली लेखिका अमृता प्रीतम विगत 31 अक्टूबर, 2005 को इस दुनिया-ए-फ़ानी से कूच कर गई और अपने पीछे छोड़ गई वह शून्य, वह बियाबानी, जिसमें दूर-दूर तक उनके अनेक अक्षरों की प्रतिध्वनि गूँजती रहेगी। 31 अगस्त, 1919 को पंजाब के गुजरांवाला जो बाद में पाकिस्तान का हिस्सा बन गया, में जन्मी अमृता अपनी जन्मभूमि को कभी नहीं भूल पाई और विभाजन की पीड़ा उन्हें हर दम सालती रही जिसका दर्द उनकी रचना 'पिंजर' में महसूस किया जा सकता है।

मात्र 16 वर्ष की उम्र में सन् 1936 में उनका पहला कविता-संग्रह 'अमृत लहरें' प्रकाशित हुआ था और इसी साल उनका विवाह एक ऐसे व्यक्ति से हुआ था, जिसे वे बचपन से जानती थीं। वर्ष 1947 में देश के विभाजन के बाद अमृता दिल्ली आयीं और हिंदी तथा पंजाबी में लगातार लिखती रहीं। उन्होंने पंजाब के दर्द को अंगीकार किया था। इसलिए उनके निधन से पंजाबी साहित्य के एक युग का अंत हो गया और उनका निधन पंजाब के साहित्यकारों एवं साहित्य-प्रेमियों की पलकें भिगों गया। पंजाबी में उनके जोड़ की अब तक कोई दूसरी कवयित्री पैदा नहीं हुई। उनकी कविता एवं उनके भजन ओजस्वी व्यक्तित्व का कोई मुकाबला नहीं था। अमृता प्रीतम पंजाब की पहली कवयित्री हैं जिन्हें वर्ष 1982 में काव्य पुस्तक 'कागज़ ते कैनवस' पर ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उनकी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने अपनी ज़िंदगी में जो कुछ किया, भोगा, उसी को अपनी कविताओं में बड़ी संजीदगी से प्रस्तुत किया। 'रसीदी टिकट' से एक प्रसंग का उल्लेख करते हुए साहित्यकार सुरेश सेठ ने कहा कि अमृता साहिर लुधियानवी से प्रेम करती थीं। साहिर जिस सिगरेट को पीकर फेंक दिया करते थे, उसे उठाकर वह होंठों से लगा लेती थीं क्योंकि, सिगरेट का वह टुकड़ा साहिर के होंठों से लगा होता था। अमृता प्रीतम को सन् 1957 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, निबंध और संस्मरण पर

उनकी सौ से अधिक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। पद्मश्री, पद्मविभूषण तथा पंजाबी अकादमी से सम्मानित अमृता प्रीतम की चर्चित कृतियों में 'पिंजर', 'रसीदी टिकट', 'हर दत्त का ज़िंदगीनामा' हैं। अमृता प्रीतम ने साहित्यिक संस्कृति को जिस ऊँचाई पर पहुँचाया है, वह अद्वितीय है। वह एक अजस्र जीवन की सकारात्मक स्वीकृति की कवयित्री रहीं। भारतीय उप महाद्वीप में जो सूफ़ी परंपरा है, जो गुरुनानक की परंपरा है उसे कविता के माध्यम से अमृता प्रीतम ने पुनर्जीवित किया है और यह साधारण बात नहीं है। अमृता प्रीतम की रचनाओं में सोचने पर मुझे टी॰ एस॰ इलियट का वह कथन स्मरण हो आता है, जिसमें उन्होंने कहा था कि एक महान लेखक या लेखिका के तीन गुण होते हैं- ज़्यादा लिखना, विविधतापूर्ण लिखना और उसका शिल्पगत वैशिष्ट्य। ये तीनों गुण जिस लेखक में हों उसे वे महान मानते थे। मेरे ख़्याल से अमृता प्रीतम में भी इन तीनों गुणों का समावेश था। सारी विधाओं में लिखना और सब में अपनी छाप छोड़ना बहुत कम लोग ऐसा कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त अमृता जी की कृतियों में मार्क्सवादी विचारधारा की एक मानवतावादी अपील भी देखने को मिलती है। उनकी रचनाओं में स्त्री की निगाह से जीवन को देखने की भी ख़ासियत है। उन्होंने हिंदू और इस्लाम दोनों धर्मों की अच्छाई को चुना, ताकि किसी एक धर्म की कट्टरता से बचा जा सके। उनकी कविताओं में बहुत कुछ गहरी और संवेदनशील चीज़ें भी दृष्टिगोचर होती हैं। उनकी लेखनी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इंसानी रिश्ते बनाने की चाहत के साथ-साथ उनमें क्षमता भी थी।

साहित्य के अलावा अमृता प्रीतम की ज़िंदगी में एक और साहित्यकार आए जिनका नाम है इमरोज़। इमरोज़ से उनकी शादी नहीं हुई थी, क्योंकि उनके पति प्रीतम सिंह उन्हें तलाक़ देने के लिए तैयार नहीं थे। अमृता प्रीतम के साहित्य और जीवन से जाना जा सकता है कि प्रेम, सच और स्वतंत्रता का उनके लिए क्या अर्थ है। उनकी मौत से कुछ ही माह पूर्व इमरोज़ ने लिखा था-

अब ये घोंसला-घर चालीस साल का हो चुका है
तुम भी अब उड़ने की तैयारी में हो
इस घोंसला-घर का तिनका-तिनका
जैसे तुम्हारे आने पर सदा
तुम्हारा स्वागत करता था
वैसे ही इस उड़ान को

इस जीने को भी
इस घर का भी तिनका-तिनका
तुम्हें अलविदा कहेगा।

इमरोज़ के इन लफ़्ज़ों ने आख़िर एक निष्ठुर हकीक़त का जामा पहन ही लिया। एकाएक घोंसले से उड़ गई। अमृता प्रीतम ने बिना शादी किए इमरोज़ के साथ रहने का फ़ैसला करते वक़्त इमरोज़ से कहा था, ''तुम पहले दुनिया देख लो फिर मेरे साथ रहने आना।'' इमरोज़ ने कमरे के सात फेरे लगाए, बोले, ''लो देख ली दुनिया।'' यह होता है प्यार। अमृता प्रीतम के पूरे रचना संसार में यह प्यार बिखरा पड़ा है। अब कौन इस प्यार को ज़ुबान देगा? अब कौन उनके लिए अमृता प्रीतम की तरह शब्द पिरोएगा?

दरअसल अमृता प्रीतम अपने जीवन में न तो कभी टूटीं और न बिखरीं। खुद को समेटकर रिश्तों के किसी मर्तबान में क़ैद करना तो उन्हें गवारा हो ही नहीं सकता था। पीर उनकी थी, लाभ साहित्य को मिला। उनकी कालजयी रचनाओं में भाव, एहसास और कल्पना तीनों ही स्तरों पर उनकी पहचान अद्‌भुत थी। भावनाओं की जैसी बारिश और कोमल कताई उनकी क़लम करती थी, फिर उससे जो कृति निःसृत होती थी, वह क़लम के मूर्धन्यतम लेखनी के चितेरों को भी अपनी लेखनी चमत्कृत कर देती थी।

अमृता प्रीतम की रचनाओं का अनुवाद विश्व की 34 भाषाओं में हुआ है। हिंदी में उनकी सभी कृतियाँ अनूदित होकर प्रकाशित हो चुकी हैं। अँग्रेज़ी में उनकी 14 कृतियों के अनुवाद उपलब्ध हैं। विभाजन के पहले और बाद में उथल-पुथल के दौर में पंजाब में रहते हुए और तेजी से बदलते समाज और सांस्कृतिक युग को जीते हुए उन्होंने अपने समय को अपनी रचनाओं में ईमानदारी से उतारा तथा अपनी कविताओं, उपन्यासों और कहानियों द्वारा उन्हें स्वर दिया।

अमृता प्रीतम की रचनाओं में एक पूरा युग बोलता है और सबसे बड़ी बात यह है कि उनमें ज़्यादातर किसी युग से बँधी हुई नहीं हैं। प्रत्येक भाषा में कुछ लेखक ऐसे होते हैं, जो अपने जीवनकाल, में ही मिथ की भाँति स्थापित हो जाते हैं। अमृता प्रीतम के साथ भी ऐसा ही हुआ। यों तो वे आजीवन पंजाबी की लेखिका रहीं, लेकिन हिंदी ही नहीं, प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यप्रेमी उन्हें अपनी ही भाषा की लेखिका मानते हैं, मानते रहेंगे। सच कहा जाए तो वे जीवनकाल में ही न केवल स्थापित हुईं, बल्कि मिथ बनती गईं। मैं अनुभव करता हूँ कि भारतीय कविताओं में अमृता प्रीतम

का नाम सदैव अमर रहेगा, क्योंकि उन्होंने पंजाबी भाषा के जरिए भारतीय अवचेतन तक पहुँचने का हमेशा प्रयास किया।

अमृता प्रीतम ने ताशकंद, मास्को, बुल्गारिया, युगोस्लाविया, हंगरी, रूमानिया, फ्रांस, ओसोलो, नेपाल और अन्य देशों के साहित्यसमांगमों में सम्मिलित होने हेतु भ्रमण किया।

अमृता प्रीतम की सुंदरता के विषय में पंजाबी की वरिष्ठ लेखिका अजित कौर कहती हैं कि "अमृता इतनी सुंदर थी कि वह अपनी छोटी उम्र में परदे की आड़ में छुपकर उनकी ख़ूबसूरती निहारा करती थी। उन दिनों उनका गोरा रंग कमानी जैसी भौंहें, पतले सुर्ख़ होंठ, ख़ूबसूरत-सी ठुड्डी उन्हें ख़ूब लुभाती।" आख़िर तभी तो अंतिम समय में इमरोज़ ने जिस प्यार और समर्पण के साथ अमृता की देखभाल की उसकी मिसाल इस दुनिया में मिलनी बहुत मुश्किल है। किसी तपस्वी की तरह इमरोज़ दिन-रात अमृता प्रीतम की सेवा में डटे रहे। श्रीमती कौर इसकी साक्षी रही हैं। वास्तव में अमृता प्रीतम को ज़िंदगी में भरपूर प्यार मिला और उन्होंने भी जी भरकर ज़िंदगी को प्यार किया। इमरोज़ ने अमृता प्रीतम के देहावसान के बाद उनकी देह को रस्सी से नहीं, बल्कि उनकी रंग-बिरंगी चुन्नियों से बाँधा था और बड़े प्यार से गोद में उठाकर उन्हें चिता पर लिटाया था। यह एक अजीब विडंबना है कि अमृता प्रीतम की मृत्यु दीवाली से ठीक पहले यानी 31 अक्टूबर 2005 वाली रात खिड़की पर बैठी किसी नन्ही चिड़िया के हौले से उड़ जाने की तरह हुई।

सांस्कृतिक विनिमय कार्यक्रम के तहत विभिन्न देशों की अनेक बार यात्रा करने वाली अमृता प्रीतम के जीवन और कृतित्व पर फ़िल्में और उपन्यास एवं कहानियों पर दस फ़िल्में व टी॰ वी॰ धारावाहिक का निर्माण हो चुका है। अमृता प्रीतम राज्यसभा की सदस्या भी थीं।

साहित्य के चितेरों को अपनी लेखनी से चमत्कृत कर देने वाली कवयित्री अमृता प्रीतम को भावभरी श्रद्धांजलि।

❖❖❖

डॉ॰ जगदीश गुप्त :
जो नई कविता के सशक्त हस्ताक्षर थे

भारतीय पुरस्कार से सम्मानित नई कविता आंदोलन के अग्रणी साहित्यकार एवं ललित कलाओं के पारखी डॉ॰ जगदीश गुप्त का विगत 27 मई, 2001 को हृदयगति रूक जाने के कारण इलाहाबाद में निधन हो गया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष 76 वर्षीय चित्रकार, वास्तुविद् और साहित्यकार डॉ॰ जगदीश गुप्त ने पचास से अधिक पुस्तकें लिखीं। उनकी प्रमुख प्रकाशित कृतियों में 'गुजराती और ब्रजभाषा : कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन', 'नई कविता', 'नाव के पाँव', 'भारतीय कला के पद्चिन्ह्', 'रीतिकाव्य संग्रह', 'परमिला', 'शंबूक', 'छंद शती', 'नवधा', 'बोधिवृक्ष', 'माँ के लिए', 'सांझ' तथा 'हिंदी की प्रकृति और विकास' हैं।

डॉ॰ जगदीश गुप्त ने कविता और चित्रकला में साहचर्य पाया। इसीलिए उन्होंने कमल और तूलिका दोनों माध्यमों से एक साथ अभूतपूर्व सृजनधर्मिता का प्रमाण दिया। कला, साहित्य, पुरातत्व और शिक्षा के क्षेत्र में डॉ॰ जगदीश गुप्त की अग्रणी भूमिका रही। चित्रकला को सब कलाओं की आँख मानने वाले गुप्त जी का मन केवल चित्रांकन में ही नहीं रमा, बल्कि उन्होंने कला समीक्षा के नए प्रतिमानों को भी खोजा। वे एकांत गंगा के तट पर हों, यात्रा में हों या अस्पताल के बिस्तर पर, रेखांकन करना उनका स्वभाव था। उन्हें हर मावन अकृति में अपने विशिष्ट और अद्वितीय होने के साथ-साथ कुछ ऐसा कहती हुई लगती, जिसे दूसरा कोई नहीं कह सकता। इसी अनुभव को वे कागज़ पर काली रेखाओं में संस्मरण बनाकर उतारते।

इलाहाबाद में डॉ॰ जगदीश गुप्त वहाँ की सुप्रसिद्ध साहित्यिक संस्था 'परिमल' के संस्थापकों में से एक थे। उनके द्वारा संपादित 'नई कविता' पत्रिका ने मानवीय भूमिका सरोकारों से गुज़रते हुए नई कविता की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 'त्रय' के माध्यम से उन्होंने नवोदित कवियों की सशक्त पीढ़ी तैयार करने का प्रयास किया। हिंदी साहित्य में अपनी उत्कृष्ट सेवाओं के लिए बड़े-बड़े पुरस्कारों और अलंकरणों से वे सम्मानित हुए।

डॉ॰ जगदीश गुप्त ने कविता का संस्कार यदि माखनलाल चतुर्वेदी से ग्रहण किया, तो तक़रीबन तीस वर्ष महाप्राण सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के सान्निध्य में रहे। इसी का परिणाम था कि डॉ॰ जगदीश गुप्त की वाणी और

व्यवहार में उसी तरह फक्कड़ता और सृजन के प्रति समर्पण का भाव नज़र आता था। डॉ॰ जगदीश गुप्त ने हिंदी साहित्य को अगर नई कविता दी है तो चित्रकला को कवि हृदय की संवेदनाओं से संजोया भी। प्रागैतिहासिक चित्रकला के स्वतः प्रेरित विशिष्ट अनुशीलन क्रम में भारत के अज्ञात शिलाश्रयों एवं गुफाओं की खोज करने और शिलाचित्रों की अनुकृतियों का अँकन करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी उन्होंने किया। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा डॉ॰ जगदीश गुप्त को 'भारत भारती' सम्मान से भी नवाज़ा गया।

अपने को कवि या चित्रकार के रूप में किसे अधिक मानने के प्रश्न पूछे जाने पर एक बार डॉ॰ जगदीश गुप्त ने कहा था कि "कविता और चित्रकला दोनों युगपत के रूप में मेरे भीतर एक स्रोत के रूप में प्रवाहित होते रहे हैं। जड़ों तक जाने की प्रेरणा मेरे भीतर आरंभ से ही रही है। मेरा मानना है कि चित्रकला सभी कलाओं की आँख है।" इसी प्रकार साहित्य और समाज के रिश्ते पर उनका विचार था कि "समाज पर साहित्य का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि उस समाज का व्यक्ति समाज, संस्कृति और जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण रखता है।" उनका मानना था कि जीवन में समग्रता किसी बड़े साहित्य में प्रेरणादायक होती है और साहित्यकार की विवेकशीलता इसी से पहचानी जाती है।

साहित्यिक संगठन के औचित्य पर डॉ॰ जगदीश गुप्त का मानना था कि रचना-कर्म से जुड़े संगठनों में विघटन अधिक है, संगठन कम। जितनी संस्थाएँ हैं, उनका विकास गोष्ठियों में तो मिल जाता है लेकिन बाहर अजीब से ख़ालीपन के शिकार हैं ये संस्थाएँ। वास्तव में साहित्य मुक्त एवं स्वातंत्र्य भाव से होनी चाहिए। डॉ॰ जगदीश गुप्त ने 'परिमल' नाम्नी संगठन के ज़रिए इसी भाव को महत्त्व दिया। 'परिमल' के ख़त्म होने के सवाल पर उनका कहना था कि फूल खिलते-खिलते मुरझाने लगते हैं, तो उसे रखने का कोई औचित्य नहीं रह ज़ाता।

'नई कविता' शीर्षक से डॉ॰ जगदीश गुप्त ने पुस्तक प्रकाशित की। 'नई कविता' की धारणा के संबंध में उनका कहना था कि भारतेंदु से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक और फिर गुप्त जी से लेकर 'अज्ञेय' तक, दृष्टियाँ बदलती रहीं। तार सप्तक के चार संकलन हिंदी कविता के ऐतिहासिक दस्तावेज़ हैं। त्रयी के रूप में उन्होंने भी पाँच संकलन प्रकाशित किए।

डॉ॰ जगदीश गुप्त नई पीढ़ी के प्रति बहुत आशान्वित दिखते थे, क्योंकि उनका मानना था कि "हर कवि पुरातन को देखता है, किंतु अपनी

वाणी की सार्थकता भविष्य में पहच।नता है। काल की चेतना अखंड होती है, नहीं तो साहित्य की लयात्मकता खंडित हो जाती है।''

कविता और कला के अंत:संबंधों को रेखांकित करते हुए डॉ॰ जगदीश गुप्त ने कहा था कि ''कला मेरे लिए बहुलोचना नदी है और कविता अभिव्यक्ति की चुनौती। कला पहले व्यक्ति से जोड़ती है और फिर व्यक्ति को समाज से, इसीलिए व्यक्ति और समाज, शब्द और अर्थ मेरी दृष्टि में अर्द्धनारीश्वर की तरह अन्योन्याश्रित हैं।''

अद्‌भुत जिजीविषा के धनी डॉ॰ जगदीश गुप्त ने 26 मई, 2001 को अंतिम साँस ली और हमेशा के लिए अपनी आँखें मूँद लीं। सन् 1924 ई॰ में शाहाबाद, हरदोई में जन्मे जगदीश गुप्त ने मुख्यत: इलाहाबाद को ही अपना कर्मक्षेत्र बनाया। अपने घर के ठीक पास किनारे नागवासुकि मंदिर के अहाते में या फिर सीढियों पर बैठकर गंगा के शांत, सौम्य और सौंदर्यमूलक सान्निध्य में उन्होंने अपने भावों को शब्द दिए, तो रेखाओं और रंगों से उन्हें एक संपूर्ण आकार-प्रकार भी।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम॰ ए॰, डी॰ फ़िल व चित्रकला एवं संस्कृत में डिप्लोमा करने के बाद डॉ॰ जगदीश गुप्त ने साहित्य वाचस्पति की उपाधि भी प्राप्त की। वर्ष 1990 में उसी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में अध्यापन कार्य और बाद में विभागाध्यक्ष रहकर 1986-87 में अवकाश प्राप्त किया। इसके बाद विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की उच्च शोध की विशेष योजना के अंतर्गत कार्यरत रहे।

❖❖❖

नेमिचंद्र जैन :
जिन्होंने परंपरा को आधुनिक संदर्भों में व्याख्यायित किया

कोई एक व्यक्ति अनेक स्तरों पर सक्रिय रहकर सारे काम एक साथ कर सकता है, नेमिचंद्र जैन इसके प्रमाण रहे हैं। कहना नहीं होगा कि इस शताब्दी के विस्तार को अपनी स्मृति संजोए नेमिचंद्र जैन ने परंपरा को आधनिक संदर्भों में व्याख्यायित किया और उसे अपने अनुशासनों में प्रस्तुत किया। पश्चिमी ज्ञान तथा उपभोक्तावादी संस्कृति की चकाचौंध उन्हें अन्य प्रबुद्धजनों की तरह कभी गुमराह नहीं कर सकी। सच तो यह है कि पश्चिम के अपने विस्तृत ज्ञान को उन्होंने भारतीय परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया और उसका साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्र में आलोचनात्मक इस्तेमाल किया। नेमिचंद्र जैन ने कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक आदि की आलोचना के लिए जो मानदंड स्थापित किए, नई शब्दावली खोजी, वे सर्वथा सृजन हैं और उनका पश्चिमी निकष से सीधा साम्य नहीं बिठाया जा सकता। वस्तुत: उन्होंने परंपरा का सृजनात्मक उपयोग करते हुए कथित आधुनिकता की आँधी में उसकी अच्छाइयों पर बल देने का प्रयास किया, किंतु इससे होने वाले संभावित ख़तरों से वे कभी भयभीत नहीं हुए।

देश के प्रबुद्धजन, साहित्यकार और संस्कृतिकर्मी बहुत आदर और सम्मान भाव से नेमिचंद्र जैन को 'नोमिजी' कहते थे। 16 अगस्त, 1919 ई० को आगरा में जन्मे नेमिचंद्र जैन जब आठवें वर्ग के छात्र थे तभी से उन्होंने कविता लिखना प्रारंभ किया और अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत कविता-सृजन से ही की। नोमिजी की पहली कविता का प्रकाशन 'कर्मवीर' में हुआ, हालांकि वह 'लोकयुद्ध' में छपी कविता 'ब्रिज या दशमी' को ही पहली परिपक्व कविता मानते हैं। शुरू के वर्षों में उज्जैन से प्रकाशित पत्रिका 'वीणा' में वह ख़ूब छपे। अनवरत रूप से कविताएँ प्रकाशित होने के चलते उच्च विद्यालय तक आते-आते वह युवा कवि के रूप में चर्चित हो चुके थे। लेकिन सिर्फ़ कवि बनकर रहना उन्हें क़तइ मंज़ूर नहीं था। कारण कि राष्ट्र के प्रति वह बहुत संवेदनशील थे इस़लिए देश की पराधीनता उन्हें कचोटती थी और अँग्रेज़ी शासन की गुलामी और अत्याचार के प्रति उनके मन में घोर घृणा थी। यही कारण था कि महाविद्यालयों में प्रवेश पाते ही आगरा में रहते हुए उन्होंने स्वतंत्रता से संबद्ध अनेक आंदोलनों में अपनी सक्रिय भागीदारी

की और अल्पवय में ही काँग्रेस के आह्वान पर उन्होंने खादी का लिबास अपनाया। मन में बापू और भगत सिंह के आदर्शों पर चलने की लगन लिए नेमिजी ने कई दशकों तक सक्रिय विचारक और संपूर्ण संस्कृतिकर्मी की भूमिका निभाई तथा प्रभाकर माचवे के साथ देश के विभिन्न साहित्यिक केंद्रों का भ्रमण किया।

स्नातकोत्तर की शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने शुजालपुर में उप प्रधानाचार्य के पद पर चालीस रुपये माहवार की नौकरी की। फिर कॉम्युनिस्ट आंदोलन से भी वह जुड़े और उसे गतिशील बनाने के साथ-साथ देशवासियों में राष्ट्र-निर्माण की चेतना जागरित करने के उद्देश्य से गजानन माधव 'मुक्तिबोध' को नेमिजी ने उज्जैन से शुजालपुर लाकर उन्हें प्रगतिशील अभियान में शामिल करने का एक ऐतिहासिक कार्य किया। यहाँ तक कि उन्होंने राष्ट्र हित में घर छोड़ दिया और घूम-घूमकर लेगों में चेतना भरने की कोशिश की। उनका एक मात्र उद्देश्य था कि हमारा भारत आज़ाद हो और उसमें समतामूलक, स्वस्थ एवं समृद्ध समाज की स्थापना हो। एक समर्पित व्यक्तित्व का जीवन जीते हुए उन्होंने हालांकि अनेक कठिनाइयों को झेला, पर उनके मन में यह संतोष था कि वे देश और समाज के लिए कुछ कर रहे हैं।

इसी बीच भारतभूषण अग्रवाल के बुलावे पर नेमिजी कोलकाता आए और यहाँ आकर अपने अभियान में पुनः जुट गए। वहाँ जीवन-यापन के लिए उन्होंने एक नौकरी कर ली और स्थानीय युवकों के साथ मिलकर अपने मिशन के तहत अभियान को जारी रखा। इसी वक़्त कॉम्यूनिस्ट पार्टी ने सांस्कृतिक स्तर पर पूरे राष्ट्र में मुहिम चलाने के लिए 'इप्टा' का गठन किया। उन्हीं दिनों विजन भट्टाचार्य के बंगला नाटक 'जवान बंदी' का नेमिजी ने हिंदी अनुवाद कर उसका नाम 'अंतिम अभिलाषा' रखा जिसका मुंबई में मंचन हुआ जिसमें शंभुमित, रेखा जी सहित स्वयं नेमिजी ने भी अभिनय किया। फिर विपरीत परिस्थितियों की वजह से वह नृत्य दल टूट गया और नेमिजी इलाहाबाद चले आए। यहाँ आकर वे 'अज्ञेय' जी की पत्रिका 'प्रतीक' से जुड़ गए। किंतु कुछ ही संस्करणों के बाद 'अज्ञेय' जी से उनका मतभेद हो गया और उससे मुक्त हो गए। इसी वक़्त नेमिजी ने इलाहाबाद में 'आधुनिक पुस्तक भंडार' की स्थापना की जो वहीं की सांस्कृतिक-साहित्यिक गतिविधियों का केंद्र बना। लेकिन इसे भी बहुत दिनों तक चलाना संभव न हो सका।

आज़ादी के बाद देश के विभाजन का दर्द जब उन्हें असह्य हो

गया, तो एक प्रस्ताव पर नेमिजी दिल्ली आए और यहाँ सन् 1954 ई॰ में केंद्रीय संगीतनाटक अकादमी में उन्होंने एक दायित्व संभाला। बाद में उनका स्थानांतरण राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में हो गया जो तब अकादमी का ही एक संबद्ध निकाय था। 1944 ई॰ में 'तार सप्तक' के प्रकाशन के पश्चात् हिंदी के वृहद्तर परिदृश्य में नाटक और रंगमंच की स्थिति, उसकी समालोचना को व्यवस्थित करने के साथ-साथ नेमिजी ने इस दौरान हिंदी कविता, उपन्यासों और व्यापक सामासिक-सांस्कृतिक सवालों पर अपने को केंद्रित किया। नेमिजी ने इसी अवधि में हिंदी की उपन्यास समीक्षा को व्यवस्थित किया और पहली बार संपूर्णता में हिंदी उपन्यास की विवेचना संभव हुई। 'अधूरे साक्षात्कार' नेमिजी की अनूठी कृति है जिसके माध्यम से आलोचना को इन्होंने अनेक नए कृतिमान दिए। 'भाववस्तु की एकाग्रता', 'भाववस्तु की व्यामकता', 'कलात्मक उपलब्धि' तथा 'समग्रसमन्वित मानवीय अनुभूति का संप्रेषण' जैसे प्रतिमान आलोचना पदों से ही पूरी तरह हिंदी उपन्यासों का चेहरा उभरा। इसके अलावा 'जनांतिक', 'बदलते परिदृश्य', 'दृश्य अदृश्य' में नेमिजी ने कविता, कहानी, आलोचना आदि को युगीन संदर्भों में देखते हुए उसकी आलोचना को नैतिक दायित्वों से बाँधने का प्रयास किया।

एक संपादक के रूप में नेमिजी 'नटरंग' के माध्यम से अपनी चिंताओं को ठोस तर्कों के साथ संप्रेषित करते रहे और हिंदी रंग संसार के धुँधलके को छाँटने का हर संभव प्रयत्न किया। 'रंगदर्शन' उनके नाट्य चिंतन की ऐसी सार कृति है, जो हिंदी नाट्य और रंगमंच को आधुनिक कसौटियों पर स्थापित करने का साहसिक उद्यम करती है। भारतीय नाट्य परंपरा नेमिजी के रंग अवदान की एक और गंभीर कृति है।

सन् 1959 से 1976 ई॰ की अवधि नेमिजी के जीवन की सबसे व्यस्ततम अवधि रही जिसमें उन्होंने न केवल नाट्य विद्यालय की सेवा की, बल्कि साहित्य और नाट्यालोचन में अविस्मरणीय कार्य किया। सन् 1976 ई॰ से 1982 ई॰ तक वे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में कला अनुशीलन केंद्र के प्रभारी रहे। 'नटरंग प्रतिष्ठान' उनके योगदान का अप्रतिम रूप है जो पूरे उत्तर भारत के लिए हिंदी नाट्य और साहित्य का गंभीर शोध-स्रोत केंद्र बनकर उभरा है। मैं इस मायने में सौभाग्यवान हूँ कि दिल्ली में भी अपना प्रवास बनाने के बाद मुझे एक से बढ़कर एक दिग्गज साहित्यकारों को सुनने-समझने के साथ-साथ उनमें से कई साहित्यकारों का सान्निध्य मिला। इसी सिलसिले में हिंदी के दिल्ली भवन में आयोजित साहित्यिक कार्यक्रमों

में मुझे नेमिजी के विचारों से रूबरू होने का मौक़ा मिला। ख़ासकर सन् 2000 से 2005 ई॰ तक की अवधि में उन्हें मैंने कई बार सुना और उनके चिंतन, लेखन और मनन ने मुझे प्रभावित किया। सन् 1994 ई॰ में वे गंभीर रूप से बीमार हो गए, हालांकि उनके संयम, संकल्प और इच्छाशक्ति ने उनका पूरा साथ दिया तथा वे पूरी तरह से कभी निष्क्रिय नहीं रहे। 'तार सप्तक' के कवि, हिंदी के यशस्वी आलोचक, नाट्य समीक्षक और अचूक सुरुचि एवं सरोकारों के सृजनकार नेमिचंद्र जैन का लंबी बीमारी के बाद 24 मार्च, 2005 ई॰ को हमारे बीच से चले गए और उनकी यह विधा समूचे साहित्य एवं रंग जगत को प्रभावित कर गया, क्योंकि जो कुछ उन्होंने लिखा सदैव करीने और जतन से लिखा, मुकम्मल लिखा। उनमें खुलापन और जिम्मेदार समझ बराबर रखते थे। बुद्धि और सृजन को ही सच्चा वैभव मानने वाले नेमिचंद्र जैन जी कभी सत्ता और धन-संपत्ति के आतंक में नहीं रहे। सुख-सुविधाओं को लेकर उनके मन में कभी कोई क्लेश नहीं रहा। 'जो नहीं उसका ग़म क्या' -शमशेर की इस उक्ति को उन्होंने आजीवन चरितार्थ किया।

नेमिचंद्र जैन जी ने नई नाट्य समीक्षा के प्रतिमानों को तो स्थापित किया ही, साथ ही रंगमंच, नाटककार, निर्देशक, रंगभाषा, रंगशिल्प सभी पर मौलिक विचार-विमर्श की स्थितियों को भी वे बनाते रहे। दरअसल हमेशा उनकी रचनात्मक और सजग दृष्टि रही। यही कारण है कि उनके संपादकीय आधुनिक चिंतन राष्ट्रीय-अंतराष्ट्रीय स्तर के विषयों से जुड़े रहे। इधर उन्होंने 'मुक्तिबोध रचनावली' का जो ताज़ा संपादन किया वह भी उनके साहित्यिक, सृजक, आलोचक व्यक्तित्व का खासकर उसकी भूमिका और उसमें मुक्तिबोध का मूल्याँकन उल्लेखनीय है। उनके 'रंगदर्शन', 'जननितक', 'दृश्य-अदृश्य', 'तीसरे पाठ', 'मेरे साक्षात्कार' आदि ग्रंथों में नेमिचंद्र जैन के लेखन और नाट्य समीक्षा की मौलिकता को देखा जा सकता है। मेरे साक्षात्कार में नाटक और रंग मंच पर उनकी समग्र विचार-दृष्टि देखी जा सकती है। प्रकृति से संवेदनशील नेमिचंद्र जैन एक गंभीर विचारक, चिंतक और विमर्श की संभावनाओं के रचनाकार रहे।

संगीत में नेमिचंद्र जैन जी की रुचि की शुरुआत तो बचपन में ही हो गई थी, पर उसे पक्का आधार मिला इप्टा में बिताए दिनों में जब वे रविशंकर आदि संगीतकारों की सोहबत में आए। युवा गायकों में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। नेमिचंद्र जैन को अपने समय के अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर,

शंभु मित्र, हबीब तनवीर, बव रांत, रवि शंकर, बिरजू महाराज जैसे अनेक मूर्धन्यों के साथ मित्रता और संवाद के अवसर मिले। उनकी निर्मलता का प्रवाह और दिशा ऐसे रहे हैं कि उसमें सब कुछ घुलता-मिलता रहा। मुक्तिबोध और शंभु मित्र के साथ नेमिचंद्र जैन जी की मित्रता ही इस बात का प्रमाण है कि साहित्य और रंगकर्म में उनकी दिलचस्पी व्यावहारिक-वैचारिक होने के साथ उसके प्रति उनकी सरसता, आत्मीयता और मानवीय संवेदना की भी साक्षी है।

संतोष इस बात को लेकर है कि नेमिचंद्र जैन के प्रति हिंदी लेखक एवं रंगकर्मी समाज में व्याप्त सद्भाव और आदर रहा है जिससे निश्चित रूप से यह आशा बँधती है कि हिंदी में सच्चे और मेहनती अब भी मुमकिन है।

नेमिजी को साहित्य कला परिषद्, दिल्ली से परिषद् सम्मान, संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली से अकादमी सम्मान, भारत सरकार से पद्मश्री सम्मान, दिल्ली हिंदी अकादमी से साहित्यकार सम्मान और 'शलाका' सम्मान से नवाज़ा जा चुका है। आप अंतरराष्ट्रीय संघ के सचिव भी रहे। उनका जाना एक विराट् ज्योतिपुँज का अवसान है, जिससे हमें रोशनी मिलती थी। उनका समग्र जीवन और उनका भागीरथ कार्य सदैव हिंदी और भारतीय मनीषा में आदर पाएगा तथा पीढ़ियाँ उनसे सतत् प्रेरणा पाती रहेंगी। संस्कृति के सम्यंक् चिंतक नेमिचंद्र जैन जी की स्मृति को शत्-शत् नमन।

❖❖❖

शंकरदयाल सिंह : जो हँसी और ठहाकों से लबालब एक ज़िंदादिल इंसान थ

भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि शंकरदयाल सिंह खुशमिज़ाज क़िस्म के एक ऐसे ज़िंदादिल इंसान थे जिनका व्यक्तित्व हँसी और ठहाकों से लबालब भरा था। उनकी सहजता, उनका खुलापन तथा उनकी आत्मीयता ही उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी जिसका हर कोई क़ायल था। वस्तुतः किसी व्यक्ति की ऊँचाई का शायद सबसे बड़ा प्रतिमान है उसका खुलापन, उसका खुला व्यक्तित्व, उदार स्वभाव, सहजता और किसी के लिए भी सुलभ हो सकने की क्षमता। शंकरदयाल बाबू के व्यक्तित्व में इन सारे गुणों का समावेश था।

मुझे ठीक से याद नहीं कि कितने वर्षों से शंकरदयाल बाबू से मैं परिचित था, कब और कैसे उनसे मैं पहली बार मिला, पर इतना सत्य है कि पिछले लगभग तीन-चार दशक से मुझे न केवल उनका सान्निध्य मिला, बल्कि साहित्य और समाज को कुछ देने की प्रेरणा और सीख भी उनसे मिली। कितना स्नेह था उनका मुझपर, मगर यह भी सच है कि जो भी उनके क़रीब आया सबका यही दावा है कि शंकरदयाल बाबू उन्हें अपना समझते थे। सचमुच वे सबके साथ एक जैसा वर्ताव करते थे। साहित्यकारों एवं प्रबुद्धजनों में उनकी लोकप्रियता के क्या कहने! यही उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी।

मुझे अच्छी तरह याद है सन् 1995 ई॰ में दिल्ली के गुरुद्वारा रक़ाबगंज स्थित सरकारी आवास पर जब मैं शिष्टाचारवश उनसे मिलने गया था, तो उन्होंने ठहाका लगाते हुए एक साँस में कह डाला, ''सिद्धेश्वर जी! चाहे हिंदुस्तान के किसी कोने में मैं रहूँ, 31 अक्टूबर, 1995 को लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल के 120 वें जयंती-समारोह के अवसर पर उपस्थित होकर आपकी पुस्तक 'बिहार के कुर्मी-द्वितीय खंड-निदेशिका' का लोकार्पण अवश्य करूँगा और सरदार के प्रति श्रद्धा के दो सुमन अर्पित कर मैं गौरवान्वित होऊँगा।'' ठीक समय पर सुपरिचित कवि एवं वरिष्ठ साहित्यकार बालकवि वैरागी के साथ उक्त समारोह में पधार कर मेरी पुस्तक का उन्होंने लोकार्पण किया और वहीं से चल पड़े अपनी दूसरी यात्रा पर। विदाई का वह क्षण जब याद आता है तब आँखें गीली हो आती हैं, उनकी सहजता, उनकी आत्मीयता एक बार पुनः मानस-पटल पर खिंच जाती हैं।

पटेल सेवा संघ, बिहार के महासचिव पद पर कई वर्षों तक रहने के बाद जब 'राष्ट्रीय विचार मंच' बिहार के महासचिव पद का दायित्व मेरे कंधों पर दिया गया, शंकर दयाल बाबू सदैव मंच का शुभेच्छु हो मेरा मार्गदर्शन करते रहे। आज भी वह दिन याद करके मेरा मन उनके प्रति श्रद्धा व सम्मान के भाव से भर जाता है जब पटेल सेवा संघ, बिहार की ओर से पटना के रवीन्द्र भवन में आयोजित सरदार पटेल के 107 वें जयंती-समारोह में गाँधी जी की पौत्री तथा भारतीय प्रशासनिक सेवा के पूर्व वरिष्ठ अधिकारी श्रीमति सुमित्रा कुलकर्णी को , जो उन दिनों राज्स सभा की सदस्य भी थीं, कोलकाता से दिल्ली जाते वक़्त ही दूरभाष पर संपर्क कर उक्त समारोह में शामिल होने को उन्हें बाध्य किया और श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी ने समारोह में विशिष्ट अतिथि के रूप में भाग लेकर सरदार पटेल के प्रति सम्मान-भाव अर्पित किए। श्रीमति सुमित्रा कुलकर्णी ने, जो सरदार पटेल की गोद में पली और बढ़ी थीं, पटेल के संदर्भ में अनेक संस्मरण सुनाकर श्रोताओं को अच्छी-ख़ासी मानसिक खुराक प्रदान की थी। यही था शंकरदयाल बाबू का स्वैच्छिक संस्थाओं तथा उसके आयोजन के प्रति लगाव व समर्पण का भाव जो विरले किसी ऐसे स्तर के व्यक्ति में होता है।

अब कहाँ मिलते हैं शंकरदयाल बाबू सरीखे बहुआयामी लेखक, जिनके लेख समसामयिक विषयों से लेकर संस्मरण तथा यात्रा-वृत्तांतों में देश की हर पत्र-पत्रिका में सतत देखने-पढ़ने को मिलते रहे। कहाँ मिलेंगे निर्बंध -निबंधों का एक ऐसा गुच्छा जिसमें ललित निबंधों की रोचकता तथा यायावरी की सुगंध हो। राज्य सभा के प्रखर व मुखर सदस्य तथा अनेक कार्यों में अनवरत रूप से लिप्त रहकर शंकरदयाल जी की लेखनी निरंतर चलती रही। भागते दिनों के अनगिनत क्षणों में मैं उन दिनों को सार्थक मानता हूँ जब मैं शंकरदयाल बाबू के सान्निध्य में रहकर अपनी सोच के धरातल पर सदैव सक्रिय रहा और उनसे मैं प्रोत्साहित होकर समाज व साहित्य की सेवा करता रहा। आज भी जब मैं उन्हें स्मरण करता हूँ तो यही कामना करता हूँ कि उनके भाव मुझमें जगें और उन्हीं की भाँति समाज एवं साहित्य की सेवा मैं करता रहूँ। आज के उपभोक्तावादी युग में प्रबुद्धजनों को ऐसी विभूतियों को समझने की आवश्यकता है। ऊँची बौद्धिक क्षमता, सरल जीवन पद्धति, खुला व्यक्तित्व, सबके लिए सुलभ सबों को एक साथ मिलाकर देखा जाए तो शंकरदयाल बाबू की प्रतिमा तैयार होती है। आज जब सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीनव का बुरी तरह अवमूल्यन हो रहा है तथा व्यक्तिगत चरित्र नाम की कोई चीज़ सार्वजनिक व राजनीतिक जीवन से लुप्त होती जा रही

है, तब शंकरदयाल बाबू जैसे निष्ठावान तथा अप्रतिम व्यक्तित्व के लोगों का जीवन बहुत कुछ सीख देता है। सार्थक बात यह है कि शंकरदयाल बाबू राष्ट्रीयता और सामाजिकता के प्रतिपादक थे, राष्ट्रीय चेतना के संवाहक थे और लबालब थे साहित्यिक रसबोध से। अपने राज्य बिहार से उन्हें बेहद लगाव था। आख़िर तभी तो राज्य सभा के सदस्य मनोनीत होने के पश्चात् जब वे दिल्ली में वर्षों तक रहे दिल्ली उन पर हावी न हो सकी। उनका राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत मन और साहित्यिक रसबोध से सराबोर तन दिल्ली के चकाचौंध से बिल्कुल अलग रहा। पाटलिपुत्र की धरती पर ही उनकी काया हमेशा के लिए गंगा की गोद में समायी और इस सत्य को वरण कर गई कि दास कबीर के 'जस की तस धर दीनी चदरिया' ही राष्ट्र के लिए समर्पित काया का धर्म है।

"मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि संपूर्ण भारत में कुर्मी समाज के लोग राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण है कि इस पुस्तक के लेखक सिद्धेश्वर जी ने इसके आवरण पृष्ठ पर पटना सचिवालय के सामने स्थित स्वतंत्रता-संग्राम के उन सात अमर शहीदों की तस्वीरें प्रदर्शित की हैं जिन्होंने भारत की बलिवेदी पर हँसते-हँसते अपने प्राणों को न्योछावर किया। इस तरह की पुस्तक के लेखक यदि कोई दूसरे समाज के होते, तो निश्चित ही वह अपने समाज के ही किसी बड़े महापुरुष की तस्वीर आवरण पर दे डालते, किंतु सिद्धेश्वर जी ने बलिदानियों के स्मारक के चित्र देकर कुर्मी समाज के राष्ट्रीय चेतना से रससिक्त होने का परिचय दिया है।" ये उद्‌गार हैं शंकरदयाल बाबू के जिसे विगत 5 जून, 1993 ई॰ को नई दिल्ली के लोदी रोड स्थित इंस्टिच्यूट ऑफ़ इलेक्टॉनिक इंजीनियर्स भवन में 'राष्ट्रीय विचार मंच' की दिल्ली शाखा के तत्त्वावधान में आयोजित हमारी पुस्तक 'बिहार के कुर्मी-निबंध संग्रह' के लोकार्पण समारोह में उन्होंने व्यक्त किए थे।

राजनीति में रहकर भी शंकरदयाल बाबू ने राष्ट्रभाषा हिंदी तथा हिंदी साहित्य एवं संस्कृति की जो सेवा की वह न केवल संस्मरणीय रहेगा, बल्कि अनुकरणीय भी। इतिहास, संस्कृति, समाज और देश के स्तर पर परेशान करने वाली बातों का ज़िक्र वे बराबर करते थे। राजभाषा संसदीय समिति के उपाध्यक्ष पद पर रहकर उन्होंने अमूल्य सुझाव प्रस्तुत किए। भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के लिए गठित राजभाषा संसदीय उप समिति के अध्यक्ष की हैसियत से जब कभी पटना स्थित महालेखाकार, बिहार के कार्यालय का उन्होंने निरीक्षण किया, कार्यालय अध्यक्ष के साथ-साथ मुझे भी

भरपूर उनका मार्ग–दर्शन मिला। केंद्रीय सचिवालय हिंदी परिषद् के तत्त्वावधान में जब भी मेरे संयोजकत्व में अखिल भारतीय कवि–सम्मेलन का आयोजन पटना के भारतीय नृत्यकला मंदिर के मुक्ताकाश रंगमंच में हुआ, शंकरदयाल बाबू न केवल उसके अगुआ रहे, बल्कि बढ़–चढ़कर तहेदिल से उन्होंने उसे सफल बनाने का प्रयास किया। पटना के साहित्यिक गलियारों में अब वह गूँज और शिष्ट हास्य दिखने को कहाँ मिलता है जो निरंतर शंकरदयाल बाबू के दौर में साहित्यानुरागियों को पारिजात प्रकाशन और उसके बाद कामता सदन के प्रांगण में गुदगुदाए रखता था, शुभेच्छुओं और मित्रों को हँसाए रखता था। राष्ट्रवाद, साहित्य और संस्कृति का वह प्रतिनिधि अपनी गतिशीलता एवं कुंठामुक्त उन्मुक्त व्यवहार के कारण अपने मित्रों, साहित्य–सेवियों, संगठनकर्ताओं एवं विद्वज्जनों का इतना विशाल परिवार छोड़ गया जो उनके सपनों को साकार कर उन्हें जीवित रखेगा। साहित्य, समाज, राजनीति और सामाजिक बोध या चिंतन को जिस अंगीकार के स्वर में शंकरदयाल बाबू ने व्यक्त किया है, उनकी स्मृति को 'अज्ञेय' जी की इन पंक्तियों से मैं श्रद्धा निवेदित करता हूँ –

कौन कभी फिर लौट वहाँ आया,
जिस पथ से एक बार वह पार गया है।

❖❖❖

राही मासूम रज़ा : जिन्होंने अपनी रचनाओं में सांप्रदायिक सद्भावना का संतूर बजाया

राही मासूम रज़ा हिंदी साहित्य की राह पर चलने वाले एक ऐसे राहगीर रहे हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में सांप्रदायिक सद्भावना का संतूर बजाया। राही की रचनाओं में क़ौमी एकता के चित्र स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित होते हैं। गंगा को क़ौमी एकता का धरोहर मानने वाले राही मासूम रज़ा अपनी पुस्तक 'आधा गाँव' में गंगा को संदर्भित करते हुए कहते हैं – ''गंगा इस नगर के सिर पर और गालों पर हाथ फेरती रहती है। लगता है कोई माँ अपने बीमार बच्चे को प्यार कर रही हो, परंतु जब इस प्यार की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, तो गंगा बिलख-बिलखकर रोने लगती है और यह नगर उसके आँसूओं में डूब जाता है। लोग कहते हैं बाढ़ आ गई। मुसलमान अज़ान देने लगते हैं। हिंदू गंगा पर चढ़ावा चढ़ाने लगते हैं कि रूठी हुई गंगा मैया मान जाए।''

राही मासूम रज़ा के व्यक्तित्व पर ग्रामीण और नगरीय जीवन का गहरा असर पड़ा। आख़िर तभी तो उन्होंने 'आधा गाँव' लिखकर गंगौली जैसे देहाती परिवेश में बिताए गए अपने अनुभव को रेखांकित किया है जिसमें हिंदू-मुस्लिम प्रीत खुलकर झाँकता है। 'आधा गाँव' का नायक फुन्नन मियाँ सच्चा भारतीय है। तभी तो वह कहता है- ''ये भाई! बाप-दादा का कबुर हिंया है, इमामबाड़ा हिंया है, खेती-बाड़ी हिंया है, हम कवनो बुरबक हैं कि तोहरे पाकिस्तान जिंदाबाद में फंस जाएँ।''

इसीलिए तो प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ॰ प्रभाकर माचवे ने लिखा है-

''यदि समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य में से केवल दस उपन्यास चुने जाएँ, तो हिंदी का प्रतिनिधित्व केवल 'आधा गाँव' ही कर सकता है। 'आधा गाँव' प्रेमचंद से एक क़दम आगे की चीज़ है।''

यही बात है कि राही मासूम रज़ा को 'आधा गाँव' से ही शुहरत मिल चुकी थी, लेकिन ज़िंदगी कब ले लेगी करवट यह तो कोई जानता ही नहीं। इसलिए कुछ व्यक्तिगत एवं अपरिहार्य वजह से उन्हें अलीगढ़ विश्वविद्यालय छोड़कर मुंबई जैसे महानगर में शरण लेनी पड़ी जहाँ कृष्णचंदर, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर जैसे उदार हृदय दोस्तों ने राही मासूम रज़ा को सहयोग दिया। शुरू में मुंबई में अजनबी होने की वजह से इन लोगों

ने इन्हें काम दिए और उस काम की मज़दूरी दी जिसके लिए ये एहसानमंद हुए, क्योंकि इनका मानना था कि क़र्ज़ उतर जाता है, एहसान नहीं उतरता।

राही मासूम रज़ा ने 'टोपी शुक्ला', 'ओस की बूंद', 'दिल एक सादा कागज़', 'सीन 75', 'असंतोष के दिन', 'कटरा दी आर्जू', 'हिम्मत जौनपुरी' जैसे एक से बढ़कर एक उपन्यास लिखे, जिसमें हिंदू-मुस्लिम संबंधों की अद्‌भुत व्याख्या इन्होंने की है। 'टोपी शुक्ला' में राही मासूम रज़ा ने क़ौमी एकता को गाढ़ा रंग देने के लिए सराहनीय प्रयास किया है, 'ओस की बूंद' में भी हिंदू-मुस्लिम दोनों संप्रदायों के मिलन का एक सुंदर वातावरण तैयार किया गया है। इसी प्रकार उनका उपन्यास 'दिल एक सादा कागज़' भी इस ॠंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है जिसमें राही ने अपने कवित्वमय भाव उकेरते हुए लिखा है कि -

मैं भी एक ख़्वाब हूँ
ख़्वाब तो वह है
जिसको कोई देख रहा हो
मैं एक वेद हूँ
एक गीता हूँ
एक इंजील हूँ
एक कुरआन हूँ
किसे भला इतनी फ़ुर्सत है
मुझे उठाकर जो यह देखे, मुझमें आख़िर क्या लिखा है।

'दिल एक सादा कागज़' की ये सभी पंक्तियाँ इस बात को दर्शातो हैं कि राही मासूम रज़ा संकीर्ण विचार के व्यक्ति नहीं थे, अपित इनकी दृष्टि में सभी धर्म समान हैं। इनके विचार धर्मनिरपेक्षता के पोषक थे।

इसी प्रकार राही मासूम रज़ा के एक और उपन्यास, 'असंतोष के दिन' में सांप्रदायिक चिंतन खुलकर सामने आए हैं। इसमें संप्रदायवाद की संकरी गली से दूर निकलते हुए उदार दृष्टिकोण का रूप अपनाया गया है। 'कटरा दी आर्जू' उपन्यास राही मासूम रज़ा का राजनीतिक उपन्यास है जिसमें इलाहाबाद को केंद्रित कर आपात्कालीन स्थितियों का चित्रण किया गया है। इनका 'हिम्मत जौनपुरी' उपन्यास शेख़ मुबारक अली की जीवनी है जिसमें गंगा-जमुनी संस्कृति की बेमिसाल बात कही गई है।

कहना नहीं होगा कि राही मासूम रज़ा साहित्य की दुनिया में उस वटवृक्ष के समान हैं जिसकी डालों पर मन का पपीहा क़ौमी एकता की तान

छेड़ता है। आख़िर तभी तो राही जी के देहावसान के बाद गीतकार व साहित्यसेवी सुदीप जी ने अपनी शोक संवेदना व्यक्त करते हुए कहा था कि "उन जैसा धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति चिराग़ लेकर ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। वे आधुनिक वेदव्यास थे।"

समकालीन मूल्यबोध को भाषा-साहित्य के माध्यम से साकार करने का जो महत् कार्य दूरदर्शन के 'महाभारत' धारावाहिक के संवाद-लेखन द्वारा किया गया, वह आज भी अद्वितीय है। एतदर्श उनकी शैली की अनुपमेयता सदा बनी रहेगी।

अपनी नज़्मिया शायरी और उपन्यास लेखन से सांप्रदायिकता और फ़िरक़ापरस्ती पर प्रहार करने वाले जुदा राह के राही मासूम रज़ा ने ग़ाज़ीपुर के गंगोली गाँव में जन्म लिया था जहाँ गंगा नदी और हिंदुस्तानी तहज़ीब से बेपनाह प्यार करने का सबक़ उस आबो हवा में मिला जिसमें वे पले-बढ़े। हालांकि सन् 1967 ई॰ के बाद जो वे एक बार मुंबई की फ़िल्मी दुनिया में पहुँचे, तो फिर वे लौटकर गंगोली नहीं गए। मुंबई में फ़िल्में उनकी रोज़ी-रोटी का ज़रिया थीं, तो साहित्यिक-रचनात्मक लेखन से उन्हें दिली ख़ुशी मिलती थी। उनका आख़िरी काव्य-संग्रह 'ग़रीबे शहर' था जो उनकी मृत्यु के एक साल बाद सन् 1993 ई॰ में प्रकाशित हुआ। समाजवादी विचारधारा के समर्थक राही मासूम रज़ा का सपना हिंदुस्तान को एक समाजवादी मुल्क में साकार होते देखना था, लेकिन समाजवाद हिंदुस्तानी परिस्थिति के अनुरूप होना चाहिए अन्यथा भटकाव व टूटन होना स्वाभाविक है।

❖❖❖

देवेन्द्र सत्यार्थी :
जो भारतीय साहित्य के विलक्षण लोकयात्री थे

देवेन्द्र सत्यार्थी जी के किस्सों में कुछ ऐसा 'निर्मल आनंद' है कि आप कुछ समय के लिए ही सही, ईर्ष्या-मोह, दाग-द्वेष सबसे मुक्त हो जाते हैं और सत्यार्थी जी तब इतिहास-रस और किस्सागोई के रस की साकार मूर्ति लगते हैं।

28 मई, 1908 को पंजाब के संगरूर जिला स्थित भदौड़ में जन्में देवेन्द्र सत्यार्थी जी का प्रारंभिक नाम युधिष्ठिर फिर देव इंदर बत्ता था। 1923 में उन्होंने मिडिल की परीक्षा पास की और फिर हाई स्कूल की परीक्षा मथुरादास हाई स्कूल, मोगा से 1925 में पास की। फिर तो खानाबदोशी की शुरुआत हुई। सन् 1929 में पिताजी ने उन्हें विवाह बंधन में बाँध दिया। इनकी जीवन संगिनी का नाम शांति सत्यार्थी है। वह बताती हैं कि विवाह के बाद जब सत्यार्थी जी घर से चलने लगे तो उन्होंने भी साथ चलने की इच्छा प्रकट की थी। और सत्यार्थी जी ने जब न-नुकूर किया तब वह बोलीं- 'तुम राजा तो मैं रानी-तुम भिखारी तो मैं भिखारिन। ...चलूँगी तुम्हारे साथ।' इसपर सत्यार्थी जी ने जवाब दिया- 'राजा-रानीवाला छोड़ो, भिखारी-भिखारिन वाला ठीक है...........चलो मेरे साथ।' तबसे शांति जी ने सत्यार्थी जी जैसे औघड़ आदमी के साथ क्या कुछ झेला, कितने दुख सहे, कैसे बेटियों को पाला, पढ़ाया-लिखाया, यह विपदा-कथा विश्व के किसी भी महाकाव्य से छोटी हो सकती है क्या? सत्यार्थी जी कभी हँसकर बता रहे थे कि एक बार शांति जी ने कहा-'लगता है, हमारे दाम्पत्य जीवन की शुरुआत अब हुई है..बुढ़ापे में, वरना तो तुम हमेशा भटकते ही रहे। याद करके मेरी आँखें सजल हो जाती हैं।

सत्यार्थी जी की 1948 में प्रकाशन विभाग की साहित्यिक पत्रिका 'आजकल' हिंदी के प्रधान संपादक के पद पर नियुक्ति हुई। भाषा विभाग, पटियाला द्वारा श्रेष्ठ गद्य-लेखक के रूप में इनका सम्मान हुआ। फिर 1956 में आजकल से ये सेवानिवृत्त हुए। 1959 में पाकिस्तान सरकार के विशेष आमंत्रण पर कराची, लाहौर आदि की सत्यार्थी जी ने यात्रा की।

1976 में भारत सरकार द्वारा सत्यार्थी जी को पद्मश्री की उपाधि से अलंकृत किया गया। 1977 में भाषा विभाग, पंजाब द्वारा श्रेष्ठ हिंदी लेखक पुरस्कार से इन्हें नवाजा गया और पंजाबी साहित्य अकादमी द्वारा 1988 में पुरष्कृत हुए। इसी प्रकार 1989 में हिंदी अकादमी, दिल्ली द्वारा इन्हें विशेष

रूप से सम्मानित किया गया।

देवेन्द्र सत्यार्थी जी का रचना संसार इस प्रकार है-

हिंदी फोकलार अथवा लोकयान : 'धरती गाती है', 'धीरे बहो गंगा', 'बेला फूले आधी रात', 'चित्रों में लोरिया' आदि।

कहानी : 'चट्टान से पूछ लो', 'चाय का रंग', 'नए धान से पहले', 'सड़क नहीं बंदूक', 'घूँघट में गोरी जले' 'मिस फोकलोर', देवेन्द्र सत्यार्थी' की चुनी हुई कहानियाँ, 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ।

कविता : बन्दनवार

निबंध और रेखाचित्र : 'एक युग एक प्रतीक', 'रेखाएँ बोल उठीं', 'क्या गोरी क्या सांवरी', 'कला के हस्ताक्षर'

उपन्यास : 'रथ के पहिए', 'कठपुतली', 'दूध-गाछ', 'ब्रह्मपुत्र', 'कथा कहो उवर्शी', 'तेरी कसम सतलुज', 'घोड़ा बादशाह'

आत्मकथा : 'चाँद सूरज के वीरन', 'नीलयक्षिणी', 'सफरनामा पाकिस्तान', 'हैलो गुडमैन द लालटेन'

पंजाबी - फोकलोर अथवा लोकयान : 'गिठद्दा', 'दीवा जले सारी सारी रात'

कहानी : 'कुंगे पोश', 'सोना-गाछी', 'देवता डिगपेया', 'तिनबुहिया वाला घर', 'पेरिस दा आदमी', 'नीली छतरी वाला'

उपन्यास : 'घोड़ा बादशाह', 'सुई बाजार'

कविता : 'धरती दीयां बाजा', 'मुड़का ते कनक', 'बुड्ढी नहीं धरती', 'लेक टुनूं टुनूं'

उर्दू : मैं हूँ खाना वदोश (लोक साहित्य), 'गाए जा हिंदुस्तान', 'नए देवता', 'और बांसुरी बजती रही'

अँग्रेजी : 'मीट माई पीपल'

जिस शख्स ने गाँव-गाँव कस्बे-कस्बे, गलियों-गलियों में भटकते हुए, भारतमाता ग्रामवासिनी की वन्दना करके, लोक गीतों की तलाश में देश का चप्पा-चप्पा छान मारा और कोई तीन लाख लोकगीत इकट्ठे किए, उसकी यह हालत और देह की लाचारी बुरी तरह मर्माहत करती है। मगर यह देखकर हैरानी होती है कि सत्यार्थी जी का मन अभी तक थका नहीं है और वह अब भी उड़-उड़कर कभी शांति निकेतन, कभी लाहौर, कभी लंका

जा पहुँचता है और यों अपनी थकान को एक स्फूर्ति मय उल्लास से धोता रहता है। हिंदी उर्दू, पंजाबी और अँग्रेजी में लगभग आधा शतक चर्चित और कालातीत रचनाओं से साहित्य को समृद्ध करने वाले सत्यार्थी जी की सुध लेने की जरूरत किसी लेखन ने नहीं समझी। फिर भी सत्यार्थी जी इस उपेक्षा को हँसकर टाल जाते हैं यह कहकर-'बहुत जी लिया.......बहुत पा लिया, भाई!'

यह कहने में मुझे प्रसन्नता हो रही है कि लोकगीतों की खोज, अनुवाद फिर उन्हें लिपिबद्ध करते जाने के क्रम में सत्यार्थी जी ने अपने घर-संसार को बिसराकर कश्मीर से कन्याकुमारी तक और पूरब से पश्चिम तक पूरे हिंदुस्तान की खाक छानी सत्यार्थी जी ने। देश की धरती और उस पर बसने वाले लोगों के जितने रंग उन्होंने देखे, उतने और किसी ने नहीं। वह उन अनजान, सुनसान उजाड़ रास्तों पर चले, जहाँ प्राय: कोई नहीं जाता था। सत्यार्थी जी के पास विरल और दुस्साहसी अनुभवों का अकूत खजाना है और जब अनुभवों एवं स्मृतियों का पात्र ऊपर तक लबालब भरा हुआ हो तो उससे छलकता रस अपने आप कथा बनता चला जाता है। शायद इसीलिए उन्होंने जो कुछ लिखा वह सब एक अनंत कथा बन गया है जिसमें अनेक उपकथाएँ हैं, अनेक चरित्र हैं, अनेक जनपदों की संस्कृति है, लोकाचार है, लोकगीत है, इतिहास है, भूगोल है और जीवंत भाषा का काव्यमय सौंदर्य भी है।

लोक गीतों के माध्यम से देश की आम जनता के दु:ख-सुख का इतिहास लिखने वाले देवेन्द्र सत्यार्थी का मत था कि बग़ैर साहित्य के समय और जनता को समझना कठिन है। महात्मा गाँधी ने इनके लोक गीत संग्रह के काम को आज़ादी के संघर्ष से जोड़कर देखा और कहा था कि "तुम सावधानी से काम कर रहे हो। 'आजकल' के पूर्व संपादक सत्यार्थी के उपन्यास, कहानियाँ, संस्मरणों और रेखाचित्रों में धरती का दर्द दिखाई पड़ता है।

सत्यार्थी जी सच्चे अर्थ में नागार्जुन की तरह एक यायावर थे, जो अपनी सुख-सुविधा का ख़्याल न रखते हुए देश के एक छोर से दूसरे छोर तक निकल पड़े थे और मातृभूमि को वह अपना समझते थे। आख़िर तभी तो उनकी 'ब्रह्मपुत्र' में असम 'दूधगाछ' में केरल और 'कथा कहो उर्वशी' में उड़ीसा का वर्णन है। उनमें एक तरफ़ हिमालय की ऊँचाई थी, तो दूसरी तरफ़ बच्चों जैसी सरलता। भारतीय साहित्य के विलक्षण लोकयात्री देवेन्द्र सत्यार्थी का, जिन्होंने अपना पूरा जीवन अपनी शर्तों पर जिया, पिछले 12 फ़रवरी, 2003 ई० को देहावसान हो गया। सतत अकेले मार्ग पर चलने वाले तथा लोक गीतों के इतिहास रचने वाले सत्यार्थी जी को हमारी हार्दिक श्रद्धांजलि।

फक्कड़ जनकवि बाबा नागार्जुन : जिनका रचना-संसार छोटों के जीवन-संघर्ष की अभिव्यक्ति से बना था

बाबा नागार्जुन लोक कवि थे जिनके लिए 'जन' ही मंच था और जन ही 'मंत्र'। इनका रचना-संसार छोटों के जीवन-संघर्ष की अभिव्यक्ति से बना था। वह छोटा कोलकाता की सड़कों पर रिक्शा खींचने वाला मखना भी हो सकता है और ज़मींदार या साहूकार की जूतियाँ और गालियाँ खाकर किसानी या बंधुआ मजदूरी करता सूख, दूखा या बलचनवा अथवा वह 'रतिनाथ की चाची' की गौरी एक विधवा ब्राह्मणी भी हो सकती है। यह बात ठीक है कि बाबा नागार्जुन मिथिलाँचल के कवि थे, किंतु वे 'मैथिल कोकिल' बने रहकर आम्रमँजरियों की आड़ में कूकते रहने के लिए नहीं, बल्कि अभिशप्त और अनुतप्त जनों की करुणा, क्रोध और आक्रोश को अभिव्यक्ति देने के साथ वे सदियों की नींद से जगाने के लिए आजीवन सचेष्ट रहे।

बाबा नागार्जुन जैसे सरल, निश्छल और दुर्बलकाय कवि में ऐसी आग सुलगी कि उन्होंने अपने लंबे और यशस्वी साहित्यिक जीवन में अनवरत रूप से आम लोगों के सुख-दु:ख से जुड़कर बिना किसी लाग-लपेट के तल्ख़, तीखे और तेज़ाबी टिप्पणियाँ कीं तथा जब और जहाँ ज़रूरी लगा, वहाँ बेलाग ढंग से हस्तक्षेप भी किया। जिस नागार्जुन की सन् 1948 ई० में 'बापू' की हत्या पर लिखी चार कविताओं को ज़ब्त कर लिया गया, उन्हीं नागार्जुन ने लंबे समय तक राजनीति की विडंबनाओं पर सबसे अ़धिक कविताएँ लिखीं। उनके चुटीले व्यंग्य का अक्षय स्रोत सत्ता और व्यवस्था रही। उनकी कविताओं में जहाँ समकालीन राजनीति की बेतुकी और अनचाही दस्तकों, आहटों और करवटों को बड़ी शिद्दत से महसूस किया जा सकता है, वहीं फ़रेबी और सत्तालोलुप राजनेताओं के बेलगाम गठबंधन, टोपी, मुकुट और मुखौटों की दिलचस्प प्रदर्शनी देखी जा सकती है। उनकी एक कविता में व्यंग्य और कटाक्ष के साथ उनकी निर्भीकता स्पष्ट झलकती है-

देश हमारा भूखा नंगा, घायल है बेकारी से
मिले न रोज़ी-रोटी, भटके दर-दर बने भिखारी से
स्वाभिमान, सम्मान कहाँ है, होली है इंसान की
बदला सत्य, अहिंसा बदली, लाठी, गोली डंडे हैं
कानूनों की सड़ी लाश पर, प्रजातंत्र के झंडे हैं

निश्चय राज बदलना होगा, शोषक तानाशाही का
पदलोलुप दलबंदी का, भ्रष्टाचार तबाही का।

कहना नहीं होगा कि पूरी हिंदी कविता में कबीर और आधुनिक कविता में कवि निराला की नागार्जुन ऐसी परंपरा की कड़ी थे जो आमजन के दुःख-दर्द उनके एहसास , उनके उत्सव-उल्लास और पीड़ा में मात्र 'मनसा वाचा' शामिल नहीं होते थे, बल्कि उस सीमा को लाँघ -फाँदकर आमजन की भाँति देशी खाँटी लोगों के बीच समूह में खड़े दिखाई देते थे।

बाबा नागार्जुन का जन्म एक रूढ़िवादी ग़रीब ब्राह्मण परिवार में हुआ था और शिक्षा-दीक्षा संस्कृत में निहायत पंडिताऊ अंदाज़ में हुई थी फिर भी वह वामपंथी विचारधारा के निकट तो थे ही, जे॰पी॰ के संपूर्ण क्रांति के समर्थक भी। उन्होंने बौद्ध धर्म अपना लिया था और प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक के नाम पर अपना नाम नागार्जुन रखा। तिब्बत से श्रीलंका तक भटके। वह कभी भी किनारे पर बैठे तूफ़ान के ठहर जाने की प्रतीक्षा नहीं किया करते थे। आपातकाल में वह जेल भी गए और संपूर्ण क्रांति से मोह भंग होने पर उन्होंने उसके उसके ख़िलाफ़ भी कविता लिखी और इसे 'खिचड़ी विप्लव' कहने से नहीं चूके। काँग्रेस और उसके नेताओं के तो वह जबरदस्त आलोचक थे ही, मौक़ा पड़ने पर वामपंथियों को भी उन्होंने नहीं बख़्शा। उन्होंने 'जनसत्ता' अख़बार को दिए गए एक साक्षात्कार में कहा था, ''हम अपने विवेक को बहुत बड़ा स्थान देते हैं। कोई मुग़ालता नहीं है कि हम ग़लती नहीं करेंगे। लेकिन सही समय पर हमको अपने अंदर की आवाज़ जो कहती है, उसका बड़ा महत्त्व है।'' उन्हें जो सही लगा वह किया। वह ग़लत हो सकते थे पर बेईमान और गोटी-बिकाऊ धूर्त दरबारी नहीं थे। बाबा नागार्जुन एक ऐसे इंसान थे जिसने आजीवन दुनियादारी की परवाह नहीं की, जो कभी पद-प्रतिष्ठा, ऐशो आराम के पीछे नहीं भागे।

बाबा नागार्जुन केवल कवि ही नहीं थे, वह अपने सान्निध्य में आने वाले हर वर्ग के लोगों को ढेर सारे प्यार बाँटने वाले एक ममतालु और ज़िंदादिल इंसान भी थे। शायद यही वजह है कि उनका जाना पूरे हिंदी साहित्य जगत को इस क़दर विकल और मर्माहत किया, मानो हर किसी के घर का कोई पुरखा या कोई बड़ा बुज़ुर्ग चला गया हो। प्रगतिशील हिंदी कविता ने ऐसे प्रख्यात कवि बाबा नागार्जुन सत्तासी वर्ष की परिपक्व आयु में 5 नवंबर सन् 1998 ई॰ को इस संसार से चल बसे और उनके महाप्रयाण के साथ एक विप्लवी और विद्रोही कंठ-स्वर के साथ ही प्रगतिशीलता के नए

आयाम की छाया के समानांतर मुखर स्वच्छंदतावादी काव्य भी मौन हो गया। सचमुच बाबा नागार्जुन जैसा यायावर कवि जिन्हें 'यात्रीजी' कहकर पुकारा जाता था और जिनकी कविताओं में एक लंबे अरसे से छोटी-बड़ी राजनैतिक सुगबुगाहट, सामाजिक -सांस्कृतिक अकुलाहट, राष्ट्रीय जीवन में होने वाले परिवर्तन और युगीन संक्रमण की छवियाँ बड़ी प्रखरता से मुखरित होती थीं, हमें चाहकर देखने को नहीं मिलता।

कविता के 'यात्रीजी' ने कुछ अलग तरह के उपन्यास भी लिखे। उनके द्वारा लिखी बारह उपन्यासों में 'रतिनाथ की चाची' (1948), 'बाबा बटेसरनाथ' (1954), 'वरुण के बेटे' (1957) और 'दुखमोचन' (1957) विशेष चर्चित रहे। हिंदी ही में 'इमरतिया', 'अभिनंदन', 'पारो' और 'उग्रतारा' उनके अन्य उपन्यास हैं जबकि 'नवतुरिया' उनका मैथिल उपन्यास है। 'अयोध्या का राजा' और 'बम भोलानाथ' जैसे उनके निबंध- -संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। काव्य-संग्रह में 'चित्रा' (1949) तथा 'पत्रहीन नग्नगाछ' (1967) उल्लेखनीय हैं। सिहंली लिपि में उनकी लंबी संस्कृति कविता 'धर्मलोक शतकम' है। इसी प्रकार 'देश दशकम' संस्कृत की कविता है। बाबा नागार्जुन की कृतियों के अनुवाद कई भारतीय और विदेशी भाषाओं में प्रभूत मात्रा में किए गए हैं।

'यात्रीजी' की रचनाओं में स्थनीयता को बहुत महत्त्व मिला है। उनका गद्य लेखन तो कमोबेश मिथिलाँचल पर ही केंद्रित है। वहाँ के सवालों, वहाँ के प्रसंगों से निर्मित रचनाकारों का अपूर्व वितान जो धीरे-धीरे विस्तार पाने लगता है। वरिष्ठ पत्रकारों के वक्तव्य और आलोचनात्मक आलेख बाबा नागार्जुन की कविता-पंक्तियों से भरे रहते हैं। बाबा नागार्जुन के जीवन के अंतिम दो-तीन साल बीमारी और अवसाद में बीते। वह कहा भी करते थे, "'दमा' की दवा से नहीं, 'दया' से ज़िंदा हूँ भाई!" हर अवसर के लिए मौजूँ, अनुरूप और सटीक पंक्तियाँ उनकी रचनाओं में उपलब्ध हैं। हमेशा इस रूप में आम आदमी के स्वप्नों में, उसकी जिजीविषा में, उसके संकल्प और संघर्ष में बाबा नागार्जुन विद्यमान रहेंगे। अपनी महायात्रा के बारे में जिस यात्री ने पहले से ही लिख रखा था, उसकी पावन स्मृति को मैं उन्हीं की पंक्तियों से नमन करता हूँ -

मरूँगा तो चिता पर दो फूल देंगे डाल
समय चलता जाएगा निर्बाध अपनी चाल
सुनोगे तुम तो, उठेगी हूक
मैं रहूँगा, सामने तस्वीर में, पर मूक ...।

पद्मश्री डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव : जिनकी साहित्य और राजनीति में वरेण्यता सदैव बनी रही

स्वतंत्र भारत में जब राजनीति लोक-सेवा न होकर स्वार्थ-सेवा बन गई है, पद्मश्री डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव इसी राजनीति में रहकर कई बार सत्ता की कुर्सी पर रहते हुए भी न केवल प्रजातंत्र की नैतिकता और मूल्यवत्ता को टुकड़े-टुकड़े होने से बचाने का हर संभव प्रयास करते रहे, बल्कि हिंदी साहित्य को भी समृद्ध करने में उन्होंने अपना योगदान किया। सभा-संगोष्ठियों में वे बराबर कहा करते थे कि राजनीति लोक- सेवा के लिए है, जनता के संपूर्ण विकास के लिए है तथा जनतांत्रिक शक्तियों और प्रवृत्तियों के विकास के लिए है। इसी विचार के अनुरूप साहित्यकार और राजनीतिज्ञ दोनों की भूमिका में उनकी वरेण्यता सदैव बनी रही। अपनी इस भूमिका का निर्वह्ण करते हुए सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर लोक-सेवा तथा लोक-मंगल के लिए वे समर्पित रहे और अपने राजनीतिक दल भाजपा के पिछलग्गू तथा प्रवक्ता नहीं बन पाए। उन्होंने कभी भी संकीर्ण राजनीति का हिस्सा बनकर अपने दल के घोषणा-पत्रों और प्रस्तावों को साहित्य का जामा नहीं पहनाया। राजनीति में रहकर भी डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव उसके न तो दास बने और ना ही अनुयायी अथवा सहचर। सत्ता की शक्तियाँ भी इस साहित्यकार को अपना गुलाम नहीं बना पाई और निर्भय होकर कई बार वे राजनीति के दंश को झेलते हुए जनता में जागृति उत्पन्न करते रहे। उनकी यह विचार-दृष्टि उनके साहित्यिक-लेखों में स्पष्ट देखने को मिलती है। इनकी रचनाओं में सहनशीलता, कारुणिकता दृष्टिगोचर होती है। इसी सबब बुरे से बुरे व्यक्ति के भीतर भी एक अखंडित मनुष्यता की उदार करुणशीलता की तलाश वे कर लेते थे।

डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव की महत्ता इस बात में निहित है कि उनकी रचनाओं में साहित्यिक गहराई और मनोवैज्ञानिक बारीकियाँ इस प्रकार व्यक्त हुई हैं कि पाठकों के लिए वे सुलझी, सुगम और आकर्षक हैं, पेंचीली और उलझन पैदा करने वाली नहीं है। इसके साथ उनकी कृतियों में जीवन-दर्शन का सहज आभास होता है, कारण कि कोई आदर्श ऊपर से चिपका दिया गया नहीं है। डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव को साहित्य-शिक्षा

विरासत में मिली थी। उनके पिता प्रो॰ मुरलीधर श्रीवास्तव भी एक मूर्धन्य शिक्षाविद् थे। अपने पिता के पदचिह्नों पर चलकर डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव भी एक लोकप्रिय शिक्षक, हिंदी साहित्य के ख्याति प्राप्त लेखक, कर्मठ सामाजिक व राजनीतिक कार्यकर्ता रहे। वे एक प्रखर विद्वान, संघर्षशील जनप्रतिनिधि, तथा आत्मीयता से भरे मित्र थे। पटना मध्य का बिहार विधान सभा में तथा संसद में पटना संसदीय क्षेत्र का उन्होंने प्रतिनिधित्व भी किया। इसके अतिरिक्त तिलका माँझी भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति तथा बिहार अंतर विश्वविद्यालय बोर्ड के अध्यक्ष पद को भी उन्होंने सुशोभित किया। सन् 1958 ई॰ में पटना विश्वविद्यालय से हिंदी की स्नातकोत्तर परीक्षा में उन्होंने प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया था। भारतीय संस्कृति के उपासक डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव 'संस्कार भारती' के आजीवन राष्ट्रीय अध्यक्ष पद पर रहकर अपनी संस्कृति की रक्षा करने का हमेशा उन्होंने प्रयास किया।

डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव कहा करते थे कि यदि आप भारतीय संस्कृति को हरी-भरी देखना चाहते हैं तो अपना पानी उसे दें। भक्त रैदास ने भी पानी की महत्ता को समझाते हुए कहा था, 'तुम चंदन हम पानी ; प्रभुजी, तुम दिया हम बाती', चंदन पानी के साथ यदि नहीं घिसे तो वह काष्ठ खंड मात्र है। इसी प्रकार बाती के बिना लौ की कल्पना नहीं की जा सकती है। ठीक उसी प्रकार व्यक्ति ही किसी संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम होता है। इस संदर्भ में डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव ने व्यक्ति की करुणा को महत्त्व दिया। उनका मानना था कि आज के भौतिकवादी युग में करुणा संवेदना के सूखते जाने से इस देश व समाज को एक करने में न क़ानून सफल है, न शिक्षा और न समतावादी राजनीति-दर्शन; क्योंकि ये सभी व्यक्ति के स्तर पर भेद और असमानता में वृद्धि हो रही है जबकि भारतीय संस्कृति का प्रयत्न व्यक्ति को निरंतर संयोजित करना है वृहत्तर समष्टि में। करुणा के अभाव में सर्वमयता का कोई आधार नहीं बनता। करुणा के बिना सर्वमयता हवा में विचरण करती रहती है। करुणा से भरा व्यक्ति अपने आप दूसरे को अपनी बाँहों में समेट लेता है। यही कारण है कि डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव की गतिमय भारतीय संस्कृति में आस्था थी, रूढ़ियों में नहीं। जब आम्रपाली का अभिमान जर्जर हो गया था तब भगवान बुद्ध की अपने को साध ने के लिए करुणा बह निकली, और आम्रपाली को अंगीकारा। करुणा अनुग्रह नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति की महाशक्ति है। करुणा को कमल कहा गया

है। इस दृष्टिकोण से डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव का मानना था कि जब तक सब के लिए व्यक्ति के हृदय में और व्यक्ति के लिए सब के हृदय में करुणा की धारा उद्वेलित नहीं होती तक तक एकता महसूस नहीं की जा सकती।

डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव एक संवेदनशील एवं विश्वसनीय यथार्थ के अतिशयरहित संयमित साहित्यकार थे। वे कभी भी करुणा, सेक्स या आक्रोश की अतिशयता में नहीं गए। ऐसे साहित्यकार का प्रभाव भी अनंतकाल तक होता है। पद, पैसा, प्रभाव से संपन्न रहनेवाले व्यक्ति को ही जहाँ आज बड़ा माना जाता है, वहीं इन भिन्न आधारों पर ऊँचा स्थान स्थापित करने के बाद भी डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव ने अपने आपको कभी बड़ा नहीं समझा। कारण कि उन्होंने इस परंपरागत परिभाषा को खंडित कर एक नया, सहज, स्वाभाविक और मानवीय प्रतिमान उपस्थापित किया कि व्यक्ति के भीतर कितना बड़ा समाज है। यही कारण है कि समाज को जितना देना था, उन्होंने दिया। पिछले तीन दशकों से मैं उनके इतने निकट रहा हूँ कि वे मुझे अनुज तुल्य समझने लगे थे। यद्यपि मैं उनके दल में कभी नहीं रहा फिर भी राजनीति में मैंने जमकर उनका साथ दिया। यहाँ तक कि जब मैं लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग में (Indian Audit & Accounts Department) के प्रधान महालेखाकार (लेखा परीक्षा) कार्यालय, बिहार में विभिन्न पदों पर कार्यरत रहा उस अवधि में भी पटना संसदीय क्षेत्र से उनके चुनाव लड़ने पर निर्भय होकर मैंने नौकरी की बिना परवाह किए न केवल उनका प्रचार-प्रसार किया, बल्कि कई चुनावी सभा की अध्यक्षता भी की। यह सब उनकी आत्मीयता और मुझ पर स्नेह-भाव के कारण ही मैंने किया कोई अनुग्रह भाव से नहीं। सजग नागरिक होने के नाते वह मेरा नैतिक व राष्ट्रीय दायित्व था।

डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव के देहावसान के बाद आज जब मैं उनका स्मरण करता हूँ तो उनकी मूल निष्ठा एवं उनके गहन स्वाध्याय तथा सरस पांडित्य एवं अपनापन की छवि सहसा स्मृति पटल पर उभरने लगती है। अभी-अभी पिछले तीन माह पूर्व ही तो अणुव्रत आंदोलन के प्रणेता आचार्यश्री महाप्रज्ञ के काव्य रूप पर दिल्ली के महरौली स्थित अध्यात्म-साधना-केंद्र के अणुव्रत सभागार में जब एक अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ था, तो डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव ने इस अवसर पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा था कि महाप्रज्ञ ने अपनी कविताओं के माध्यम से हिंदी की नई परिभाषा दी है कि हिंदी हृदय की भाषा है। इनकी अध्यात्म एवं भक्तिपरक कविताएँ इतिहास के साथ-साथ समस्त मान्यताओं को भी

चुनौती देती हैं। मेरा यह सौभाग्य था कि मैं भी इस अवसर पर उपस्थित था। उस दिन डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव के साथ मैंने भोजन किया और लगभग पूरे दिन साथ-साथ दिल्ली में कई स्थानों के भ्रमण के दौरान बड़ी अंतरंगता से विभिन्न मुद्दों पर हम दोनों की बातें होती रहीं। मुझे क्या पता था कि उनसे मिलने का वह आख़िरी दिन था। उनके न होने की रिक्तता की वजह से मेरे मन में उदासी और विषाद की रेखा उभर आती है।

डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव का संस्मरण होते ही मेरे सामने आज के बदलते परिवेश में एक ऐसे सक्षम सर्जक की छवि उभरती है जिसने बदलते साहित्यिक-राजनीतिक परिदृश्य को अपनी रचनाओं एवं विचारों के माध्यम से अंकित करने में पहल की थी। वे साहित्यिक-राजनीतिक चेतना के द्रष्टा ही नहीं, भोक्ता भी थे। उनके पास पैनी अंतर्भेदी दृष्टि थी। वे सदैव अपने साहित्यिक-राजनीतिक परिवेश से जुड़े रहे और परिवेश से जुड़े बिना आदमी को कोई नहीं पहचान पाता। वसंत के बीच पिछले 12 फरवरी, 2007 को हृदय गति रूक जाने के कारण वे अचानक चल बसे और जिस आसक्ति के साथ साहित्य व राजनीति से जुड़े रहे उसे एकाएक निरासक्त होकर छोड़ दिया। अपनी पत्नी प्रो॰ वीणा रानी श्रीवास्तव, एक मात्र पुत्र पारिजात सौरभ और दो पुत्रियाँ सहित हमारे जैसे हज़ारों शुभच्छुओं से सदा-सदा के लिए उन्होंने विदा ले ली।

मुझे अच्छी तरह याद है पिछले वर्ष बिहार विधान सभा के सभागार में आयोजित मेरे सद्यः प्रकाशित काव्य-संग्रह 'जागरण के स्वर' के लोकार्पण समारोह में मुख्य अतिथि के पद से जब डॉ॰ शैलैन्द्र जी ने अपने उद्गार के ज़रिए हमारा मनोबल बढ़ाया था, हमें सहलाया और हमें क्रियाशील रहने की प्रेरणा प्रदान की थी, तो मैं भाव-विह्वल हो गया था। सच मानिए, ऐसे श्रेष्ठ साहित्यकार की प्रेरणा पाकर हमारी क्रियाशीलता ने मुझे कभी निष्क्रिय नहीं होने दिया, मुझमें सदा जिजीविषा बनी रही। उन्हीं से मैंने भी सीखा है अपना सबकुछ लुटाकर रीत जाना और रीतकर भी धरती से प्रतिदान की अपेक्षा न करना, बल्कि मिट्टी में मिल जाना मंगल घट की तरह।

वस्तुतः मेरे अस्तित्व की यही जिजीविषा मुझमें अदम्य साहस और ऊर्जा प्रदान करती है, जो किसी भी परिस्थिति में ढहने से रोकती है, अन्यथा कितने ही ऐसे अवसर पर मैं ढह सकता था। सच मानिए डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव की प्रेरणा का ही प्रतिफल है कि मेरे भीतर की जिजीविषा मुझे संभाले हुई है। जड़ों में व्याप्त ऊर्जा मुझे अपने कर्म-पथ से विचलित होने

नहीं देती। डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ के प्रति मेरे मन और हृदय में अनुभूति और सम्मान का जो रंग चढ़ा है यह नहीं छूटेगा, ऐसी मेरी समझ है। कारण उनके द्वारा चढ़ाया गया साहित्य और राजनीति का वह रंग बहुत गहरा है और उसकी गंध का वह रिश्ता अटूट है।

कहना नहीं होगा कि इस देश के सामाजिक जीवन में धर्म का विशिष्ट स्थान रहा है, बल्कि सच तो यह है कि धर्म सामाजिक जीवन का नियामक रहा है। यह धर्म का बौद्धिक-पक्ष दर्शन से संबद्ध रहा है और भाव-पक्ष आचार एवं कर्मकांड से। डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव का रूझान ध र्म के बौद्धिक पक्ष से रहा है, क्योंकि विदेशी संस्कृति और विचारधाराओं के पांव पसारते जाने की वजह से एक ओर जहाँ बौद्धिक- -पक्ष दुर्बल होता गया, वहीं दूसरी ओर धर्म में कर्मकांड एवं अंधविश्वासों का प्रसार होता गया। इसी का दुष्परिणाम है कि धर्म और भक्ति निराशा और भय से त्राण पाने के साध न मात्र बनकर रह गए। डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव का ध्यान इसी सांस्कृतिक गतिरोध को दूर करने की ओर हमेशा रहा। इसी के मद्देनज़र उन्होंने अपने विचारों को कुरूपता, शोषण, अनाचार, तीर्थव्रत, पंडा-पुरोहित-वर्ग की स्वार्थपरता, लोलुपता एवं पाखंडभरी मान्यताओं की कटु आलोचना की ओर केंद्रित किया। उन्होंने रूढ़ परिकल्पना का निषेध करके नैतिकता का मानव-जीवन के संदर्भ में औचित्य स्थापित किया। इनके साहित्य में राष्ट्रीय चरित्र की गहरी समझ, अद्भुत ग्रहणशीलता और गतिशीलता का स्पंदन महसूस होता है। वे अपने समय और समाज की सच्चाई और चेतना से सही मायने में संपृक्त थे। रचनाओं में उनकी गहरी मानवीय दृष्टि और निम्न एवं मध्य वर्ग के प्रति संवेदना के लिए डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव को भुलाया नहीं जा सकता। ऐसे वक़्त मुझे याद आती हैं किसी कवि की ये पंक्तियाँ-

वो चले भी गए और देखा नहीं
एक तमन्ना लबों पर मचलती रही

भारतीय संस्कृति और परंपरा को वे जितना समझते थे उतना ही परिवर्तन को भी। डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव भारतीय जीवन मूल्यों के पक्षध र थे। भारतीय संस्कृति को वे सदा जीवा की रसगर्भ समझते थे। कहना नहीं होगा कि वे अपनी जड़ों से गहरे रूप से जुड़े थे और वहीं से उन्हें जीवन का रस मिलता था। एक ललित निबंधकार के रूप में भाषा-संस्कृति, साहित्य, समाज और राजनीति के विमर्श में, चिंतक के रूप में तथा एक सुलझे व्याख्याता के रूप में उनके अवदान को भी विस्मृत नहीं किया जा

सकता। मात्र 71 वर्ष की आयु में अपनी जीवन-यात्रा से मुक्ति पानेवाले इस साहित्यकार-राजनीतिज्ञ का मूल्यांकन अभी शेष है, उनकी समग्र संपूर्णता में उनका विश्लेषण अभी शेष है, उनका मूल्यांकन तटस्थ दृष्टि से करने की आवश्वकता है।

मार्च, 1936 ई॰ में बिहार के बक्सर जिले में जन्मे डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव का रचना कर्म विपुल मात्रा में तो नहीं, पर जो कुछ उन्होंने लिखा वे जनमानस की संवेदना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हैं। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं– 'लिफ़ाफ़ा देखकर', 'ललित निबंध', 'निरला जीवन और साहित्य', 'अद्भुत रस और भारतीय काव्य शास्त्र' (शोध प्रबंध), 'क़लम उगलती आग' (का संपादन), 'बहुत दिनों के बाद', 'शब्द पके मन आँच में' (कविता-संग्रह), 'शिक्षा के नाम पर', 'समय और समाज', 'भारतीय कला संस्कृति' (निबंध संग्रह प्रकाश्य), 'दुर्गा सप्तशती' (हिंदी काव्यानुवाद), 'इतिहास का सच और जयप्रकाश जी का निरंतर संघर्ष' (जीवनी), ये रचनाएँ जोतिपुँज हैं, जो सदैव लोक को आलोकित करती रहेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है। राजनीति के पंडित और हिंदी साहित्य के मर्मज्ञ डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव को मैं अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ अनवर ग़ाज़ियाबादी के इस शेर से–

जब तक कि मेरे दिल पे तेरा अक्स न उभरा
मैं तुझे कब से शीशा बदन देख रहा हूँ

❖❖❖

प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' :
जिन्होंने आरंभिक यौवन पिता की छाया बनकर बिता दिया

आम तौर पर कोई भी बालक अपनी माँ के प्रति आकर्षित अधिक होता है, किंतु प्रफुल्ल चंद्र ओझा 'मुक्त' इसके अपवाद थे। चौबीस वर्ष की आयु तक अपनी माता की अपेक्षा उन्हें पिता का सान्निध्य ही मिला, बल्कि उन्होंने अपना सारा बचपन और आरंभिक यौवन उन्हीं के साथ बिल्कुल उनकी छाया बनकर बिता दिया।पूछने पर वह स्वयं कहते थे, ''कह नहीं सकता, उस आयु में मुझे माता की अपेक्षा पिता का साहचर्य इतना आकर्षक और प्रिय क्यों लगा था कि मैंने सारा बचपन और आरंभिक यौवन उन्हीं के साथ जैसे उनकी छाया बनकर बिता दिया था। उनका साथ मैंने तभी छोड़ा, जब मेरी चौबीस वर्ष की आयु में वे ही मुझे सदा के लिए छोड़ गए।''

दरअसल श्री 'मुक्त' जी के अपने पिता के प्रति आकर्षण का कारण यह था कि उनके पिता साहित्याचार्य चंद्रशेखर शास्त्री संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे, किंतु व आधुनिक विचार के थे और उनका अध्ययन अद्‌भुत था। जितने वे सरल थे उतने ही संवेदनशील और स्वाभिमानी तथा किसी भी शर्त पर परिस्थितियों से समझौता नहीं करने वाले थे। कहा जाता है कि ऐसे सम्मानित और दबदबावाले विद्वान पंडित से साधारण व्यक्ति से लेकर प्रकांड विद्वान भी सहज भाव से उनसे मिलते थे, यहाँ तक कि उस युग के गुंडे तक उनके चरणों में लोट जाया करते थे।

जीवन के चौबीस वर्ष ऐसे सुयोग्य पिता की छत्रछाया में रहकर 'मुक्त' जी ने देश-विदेश के विद्वानों को उनके साथ विचार-विमर्श और बहस करते देखा था। प्रारंभ में एक अबोध बालक गोष्ठियों में आने-जाने वालों की सेवा-सत्कार किया करता था, किंतु उम्र के साथ-साथ उसने इस साहचर्य से बहुत कुछ सीख लिया। फलत: उस अनूठी शिक्षा ने मुक्त' जी को साहित्यकार बना दिया। सुप्रसिद्ध आलोचक शांतिप्रिय द्विवेदी के कथनानुसार एक बार जयशंकर प्रसाद श्री 'मुक्त' जी की कहानी पढ़कर मुग्ध हो गए थे और उन्होंने 'मुक्त' जी को मिलने के लिए बुलावा भेजा। 'मुक्त' जी को इस बात पर विश्वास नहीं हो पा रहा था। उन्हीं के शब्दों में - ''क्या सचमुच में प्रसाद जी ने मेरी कहानी पढ़ी है। उन्होंने मेरी कहानियों को अपनी कहानियों के समकक्ष कहा है। वह मुझसे मिलना चाहते हैं। कहीं शांतिप्रिय मुझपर

एहसान तो नहीं कर रहे। लेकिन जब मैं उनके पास पहुँचा तो - कमरे में एक थैली-सी अँगोछी, बदन तेल से चुहचुहाता हुआ, चेहरा सफाचट, सिर पर विरल केश - ऐसे रूप में प्रसाद जी ने पुलकित होकर कहा, "अरे वाह! आपने ख़ूब दर्शन दिए। मैंने ही आपकी चर्चा की थी। 'आज' वाली तीनों कहानियाँ पढ़ी हैं मैंने। कहानियाँ मुझे बहुत अच्छी लगीं।" यह कहते हुए प्रसाद जी ने 'मुक्त' जी को मेवा मिश्रित दूध, बादाम का हलवा, पिसता की बर्फ़ी और न जाने क्या-क्या उन्हें आग्रह से खिलाया। कथाकार विष्णु प्रभाकर ने अपने संस्मरण में लिखा है कि साहित्यकार प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' जयशंकर प्रसाद से मिलकर 'मुक्त' हो गए, अपने पिता के कारण 'मुक्त' जी को राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन। रामनरेश त्रिपाठी, महामहोपाध्याय पं॰ रामावतार शर्मा, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक तथा सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जैसे साहित्य के शिखर पुरुषों से भी मिलने का मौक़ा मिला था।

श्री 'मुक्त' जी ने अपनी पुस्तक 'अतीतजीवी' में उस युग की प्रायः सभी महान विभूतियों के चित्र को निष्पक्ष और तटस्थ भाव से रेखांकित किया है। यूँ तो 'मुक्त' जी ने अपनी अनेक रचनाओं से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया, किंतु उनके 'पुलिना के पत्र', 'तलाक़', तथा 'जेल-यात्रा', जैसे उपन्यासों की काफ़ी चर्चा हुई। उनकी प्रतिनिधि कहानियों के संग्रह के साथ-साथ बाल कहानियाँ भी प्रकाशित हुई, किंतु दुःखद स्थिति यह है कि उनका सारा साहित्य लगभग जर्जर अवस्था में है। अँग्रेज़ी, हिंदी, बंग्ला, मराठी, गुजराती भाषाओं के जानकार 'मुक्त' जी ने इन भाषाओं के अच्छे साहित्य का अनुवाद करके हिंदी को समृद्ध किया।

प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' जी ने आकाशवाणी में अपनी सेवा प्रदान करने के साथ-साथ 'विद्यार्थी', 'मज़दूर संसार', 'प्रजानीति' और 'नया प्रतीक' जैसे पत्रों का संपादन भी किया जिसमें 'प्रजानीति' का संबंध जहाँ लोकनायक जयप्रकाश नारायण से था, वहीं 'नया प्रतीक' तो 'अज्ञेय' जी की पत्रिका थी। पटना के कंकड़बाग़ कॉलोनी में 'मुक्त' जी का निवास था और पटना में ही मेरा निवास होने के कारण मुझे उनसे मिलने, बातचीत करने तथा सभा-संगोष्ठियों में उन्हें सुनने का भी मुझे अवसर मिला है। जैसा उनका सौम्य मुखमंडल था वैसे ही उनका सहज सौम्य स्वभाव भी था। कुर्ता-धोती पहनकर और हाथ में छड़ी लेकर जब वह सड़क पर निकलते थे तब सहसा लोगों की नज़र उनपर टिक जाती थी।

'मुक्त' जी ने विनोदप्रियता के गुण भी अपने पिता से पाए थे। यही कारण है कि उनमें ऊँच-नीच तथा छुआछूत का भेद-भाव नहीं था। विष्णु प्रभाकर जी लिखते हैं, "एक बार 'मुक्त' जी बिना भोजन किए एक छोटी

जाति के सज्जन के घर पहुँचे। दिन के बारह बज रहे थे। उन्हें भूख लगी थी। सो उन्होंने उस सज्जन से कहा कि 'ब्राह्मण' आपके द्वार पर है। आप उन्हें भोजन के लिए पूछ नहीं रहे हैं।'' वह सज्जन एकाएक चौंक पड़े, ''आप, आप खाएँगे हमारे घर का?'' ''क्यों नहीं खाऊँगा? भूख लगी है मुझे'' 'मुक्त' जी ने कहा। फिर 'मुक्त' जी ने उस सज्जन के घर खाना खाया और विष्णु प्रभाकर से बोले, ''मैं छूत-पात को सफ़ाई से जोड़ता हूँ। गंदे ब्राह्मण के घर नहीं जाऊँगा, स्वच्छ अछूत के घर खाऊँगा।''

'मुक्त' जी के पिता जी ने वाल्मीकि रामायण के सातों भागों का अनुवाद किया था, मगर उनका प्रकाशन न हो पाया था। इसलिए 'मुक्त' जी ने उस अनुवाद को प्रकाशित कराने का निश्चय किया और इसी कार्य के लिए वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को अर्पित करने के प्रयास में लग गए। क़लम के इस धनी व्यक्ति ने काफ़ी मुश्किलों को झेलते हुए भी अठारह-अठारह घंटे काम करके अपनी अस्वस्थता के बावजूद रामायण के दोनों खंडों का मुद्रण पूरा कराया और संतुष्ट हुए। इसके प्रकाशन में जिस तरह और जैसा संघर्ष किया आज के आधुनिक युग में, जब रिश्तों की दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं, किसी पिता की पांडुलिपि को उसका पुत्र छपवाए, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। मेरा तो इस संबंध में बहुत कड़ुवा अनुभव है। एक समाज सेवी तथा स्वतंत्रता सेनानी की जीवनी तक़रीबन एक साल से अधिक अवधि तक बहुत परिश्रम से मैंने लिखी और कंप्यूटर पर शब्द-संयोजन कराकर सी॰डी॰ बनवाया और प्रकाशन के लिए दिल्ली ले गया, पर इसी बीच जीवनी नायक के पुत्र ने छपवाने का वायदा कर उस सी॰डी॰ को पटना मँगवा लिया, लेकिन लगभग एक साल बीत जाने के बावजूद संस्मरण लिखने की तिथि तक वह जीवनी नहीं छप पाई। हाँ, राजनेताओं के आश्वासन व वादे की तरह मुझे उसे प्रकाशित करने का आश्वासन बार-बार अवश्य उनसे मिलता रहा। यह करतूत उस सुपुत्र की है जिसके लिए पिता ने अकूत संपत्ति छोड़ रखी है। आख़िर काफ़ी मान-मनौव्वल के बाद वह पुस्तक छपी, पर उस व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं, जिसकी अपेक्षा की जाती थी। इस मायने में 'मुक्त' जी की जितनी भी तारीफ़ की जाए वह कम होगी।

'मुक्त' जी तब से बराबर अस्वस्थ ही रहा करते थे। नवंबर 1995 ई॰ में 70 घंटों तक मूर्छा में रहे। न जाने किस-किस को उन्होंने याद किया। आख़िरकार 2 दिसंबर, 1995 ई॰ को उन्होंने अंतिम साँस ली और मृत्यु ने इस आस्थावान साहित्यकार को अपने आगोश में ले लिया।

प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री :
युग-चेतना को प्रतिमानित करने वाले साहित्य-शिल्पी

हिंदी के अनन्य साधक और पटना कॉलेज के पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष प्रो॰ श्यामनंद शास्त्री का निधन हृदय गति रूक जाने के कारण पिछले अगस्त, 2004 ई॰ में पटना के टेकारी घाट रोड स्थित उनके निवास में हो गया। आर्य समाज के सच्चे अनुयायी और राज्य स्तर के पदाधिकारी प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री एक सत्पुरुष थे और हिंदी एवं संस्कृत साहित्य के उद्‌भट विद्वान थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है लगभग दो-ढाई वर्ष पूर्व मैं उनके सान्निध्य में आया और उनके सान्निध्य में रहकर हिंदी साहित्य के बारे में बहुत कुछ जानने और समझने का मुझे मौक़ा मिला। जैसे-जैसे समय बीतता गया उनके व्यक्तित्व एवं कत्तृव्य का प्रभाव मुझपर अधिकाधिक होता गया। पिछले चार-पाँच वर्षों से उनके संपादकत्व में बिहार के तत्कालीन राजस्व एवं कृषि मंत्री तथा स्वतंत्रता सेनानी स्व॰ वीरचंद पटेल की यादगार को ताज़ा रखने हेतु 'वीरचंद पटेल समाज सेवा संस्थान' की ओर से कई खंडों में प्रकाशित स्मृति ग्रंथ के लिए मुझसे आलेख प्राप्त करके मुझे कृतार्थ करते रहे और पटेल साहब से जुड़ी अपनी स्मृतियों को शब्दबद्ध कर मैं गर्व का अनुभव करता रहा।

प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री राष्ट्रभाषा हिंदी के सशक्त रचनाकार ही नहीं, वरन् उसके संरक्षक भी थे। काल के कराल हाथों ने शास्त्री जी को असमय ही न छीना होता तो हिंदी साहित्य और समाज को उनसे और भी बहुत कुछ मिलता। वास्तव में हिंदी साहित्य और वर्तमान समाज को उनकी ज़रूरत थी। हिंदी को आज ऐसे होनहार हस्ताक्षर की प्रतीक्षा है जो उसकी डगमगाती हुई नेया को किनारे लगा सके।

प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री जी राष्ट्रधर्म को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। राष्ट्रधर्म की उपेक्षा करके राष्ट्र का कोई धर्म, चाहे आत्मधर्म ही क्यों न हो, अपनी पूर्णता का दावा नहीं कर सकता, ऐसा उनका मानना था। राष्ट्र की भूमि से उन्हें जितना प्रेम था, उतना ही आदर उनके मन में यहाँ की संस्कृति के प्रति भी था। यही कारण है कि आर्य समाज में रहकर उन्होंने संस्कृति के सभी संघटक तत्त्वों के प्रति ममत्त्व का भाव जगाने का अथक प्रयास किया। हिंदी को उन्होंने भारतीय संस्कृति की आत्मा के रूप में देखा। उन्होंने यह भी महसूस किया था कि लोगों में भारतीयता के इन आधारभूत तत्त्वों के प्रति अपेक्षित

अपनत्त्व और सम्मान नहीं है और आचार-विचार से वे पाश्चात्य बनते जा रहे हैं। देशी भाषाओं को दासी बनाने वाली संस्कृति को विकृत करने वाली और आर्य संस्कारों को धूमिल करने वाली अँग्रेज़ी के विरोध में उन्होंने सदैव अपनी आवाज़ उठाई।

सामाजिक कुरीतियों और विसंगतियों पर भी शास्त्री जी ने प्रहार किया। पैसों के लालच में आकर अपनी फूल-सी कोमल कन्याओं को बूढ़े के जर्जर हाथों में सौंपने वाले क्रूर माता-पिता को उन्होंने आड़े हाथों लिया और अनमेल शादियों के विरोध में वे खड़े हुए। समाज में छोटी उम्र में होने वाले गठबंधनों का भी उन्होंने विरोध किया, क्योंकि ऐसे बाल विवाह शक्तिहीनता को जन्म देते हैं। उन्होंने विधवाओं पर होने वाले अत्याचार के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाते हुए विधवाओं के दुःख-दर्द की ओर समाज के प्रगतिशील लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए भी उन्होंने समाज का उद्‌बोधन किया। उनकी दृष्टि में स्त्री और पुरुष दोनों समान अधिकारों के पात्र थे वे महिलाओं में ऐसी शिक्षा के हिमायती थे, जो उनमें आत्मविश्वास और आत्मगौरव जगा सकें।

इस प्रकार हमने प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री को एक मानवतावादी साहित्यकार के रूप में देखा, जिनके जीवन में हिंदी साहित्य का प्रेरणादायक अध्याय तो था ही, वे हिंदी साहित्य के उस गौरवशाली परंपरा का प्रतिनिधित्व भी करते थे, जो ज़मीन से जुड़ी हुई, जनजीवन में घुली हुई है और मानवता के उद्धार की मंजुल कामना से संपृक्त है।

प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री स्वयं आदर्श की प्रतिमूर्ति थे। सत्यनिष्ठा तो उनमें कूट-कूटकर भरी थी। यदि पैसा अर्जित करना ही उनका ध्येय होता तो चिकनी-चुपड़ी बातों से शोहरत और दौलत दोनों उन्होंने बटोर ली होती। पर एक सच्चे ईमानदार लेखक की तरह उन्होंने अपनी आत्मा का सौदा नहीं किया। अपनी रूह की आवाज़ को दबाकर समाज के बनावटी मायालोक में रहना उन्हें क़तई मंज़ूर नहीं था। इसीलिए तो उन्होंने हर तरह के शोषण का विरोध करते हुए न्याय का सशक्त पक्ष लेकर सत्ताधीशों, पूँजीपतियों, सामंतों, ढोंगी समाज-सुधारकों से सदैव लोहा लिया। वे गाँधी और लोहिया से अत्यधिक प्रभावित थे। आख़िर तभी तो उनके साहित्य में उनका उदार मानवतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उनकी रचनाओं में व्यष्टि के स्तर पर सत्य, निष्ठा और समष्टि के स्तर पर सौहार्दपूर्ण मानवीयता की मंगलमयी स्थापना हुई।

पिछले 14 जुलाई, 2004 ई॰ को बिहार विधान सभा एवं 'राष्ट्रीय विचार मंच' की ओर से विधान सभा के वातानुकूलित सभागार में आयोजित मेरे सेन्र्‌यू काव्य-संग्रह 'जागरण के स्वर' के लोकार्पण समारोह में व्यक्त प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री के उद्‌गार को उपस्थित श्रोताओं ने मुक्त कंठ से सराहा। उनके इस विचार से बिहार विधानसभाध्यक्ष द्वारा लोकार्पित 'जागरण के स्वर' में मैंने अपनी जागरूक चेतना का परिचय दिया है, मैं भी अत्यंत भाव-विह्वल हो गया। मैंन इस रचना में लोक जीवन के महत्त्वपूर्ण बिंदुओं को विषय बनाया है इसकी भी उन्होंने चर्चा की। मैं तो उनकी असाधारण विद्वता का सदैव क़ायल रहा। उन्होंने हमेशा लिखने-पढ़ने में मेरा मनोबल बढ़ाया और मार्ग-दर्शन किया।

निधन के कुछ ही सप्ताह पूर्व पटना के जगत नारायण रोड स्थित स्व॰ डॉ॰ मोहन सिंह जी के निवास पर आयोजित डॉ॰ मोहन सिंह स्मृति-ग्रंथ समिति की बैठक में मेरे आग्रह पर न केवल वे उपस्थित हुए, बल्कि 'डॉ॰ मोहन सिंह स्मृति-ग्रंथ' के प्रकाशन हेतु मेरे संपादकत्त्व में गठित संपादक-मंडल के सदस्य के रूप में अपनी स्वीकृति प्रदान कर हर संभव सहयोग करने का उन्होंने आश्वासन दिया था। मैं भी उनकी सहमति के बाद पूरी तरह आश्वस्त हो गया था कि स्मृति-ग्रंथ के प्रकाशन में उनकी अहम भूमिका होगी, किंतु विधाता के क्रूर हाथों ने उन्होंने हमसे छीनकर मेरे साथ बड़ा अन्याय किया। 'विचार दृष्टि' के प्रारंभ से ही अब तक के अंकों को हमसे माँग कर उस पर समग्र रूप से आप एक समीक्षा लिख रहे थे, जो संभवत: अधूरा छोड़कर ही चल बसे। यही नही 'हम और हमारा समाज' तथा 'समकालीन यथार्थ बोध' शीर्षक से मेरी पुस्तकों की पांडुलिपि पर वे अपने अभिमत तैयार ही कर रहे थे कि अचानक वे काल-कवलित हो गए। दरअसल विधाता का विधान भी विचित्र है। जो व्यक्ति इस भौतिक संसार में कुछ अच्छा काम कर रहा है उसे शायद ईश्वर भी अपने पास कुछ अच्छा काम करने के लिए बुला लेता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि आज इस युग में अच्छे लोगों की कमी कुछ इसी ख़्याल से हो रही है। ख़ैर! ईश्वर कितना काम स्व॰ शास्त्री जी से ले सकेंगे मुझे नहीं मालूम, पर इतना अवश्य है कि जगन्नियंता ने उन्हें हमसे छीनकर अच्छा नहीं किया। क्या हमारे कार्य से भगवान का काम ज़्यादा ज़रूरी था? यदि हाँ, तो उन्होंने हमें इशारा क्यों नहीं किया? हम इतने स्वार्थी भी तो नहीं कि उनके अनुरोध पर हम उन्हें अपने काम से विरमित नहीं करते।

प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री आज हमारे बीच नहीं हैं, पर साहित्यकार की

गरिमा और गौरव जो उनमें विद्यमान था और जो आदर्श अपने जीवन काल में प्रस्तुत किया उसे तो हम सब अपने जीवन में ढालते हुए साहित्य को समृद्ध कर सकते हैं। क्या आज हम एक-दूसरे में गहन आस्था के भाव को जगाने वाले साहित्य की रचना, जिसे उभारना प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री का उद्देश्य था, नहीं कर सकते? जिस प्रकान उन्होंने अनेक सामाजिक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का संपादन कर हिंदी साहित्य की सेवा की, पुरानी एवं नई पीढ़ी के बीच एक सेतु का काम किया, न तो उन्होंने कोई गुट बनाया और न कहीं किसी खूंटे से अपने को बाँधा, आज हम सबों का दायित्व बनता है कि उनके पथ पर हम सब चलकर उनकी आत्मा को शांति प्रदान करें। उन्होंने न तो किसी की चाटुकारिता कर अपने उठने का प्रयास किया और न ही किसी को गिराने की हाँ, उन्होंने वही किया जिसे उनकी बुद्धि और विवेक ने उचित समझा। समय के सच को उन्होंने स्वीकार किया। मैंने इन्हीं चंद शब्दों में उनकी स्मृतियों को संजोने का प्रयास किया और श्री मद्‌भगवत् गीता की इन पंक्तियों से उसकी स्मृति को नमन करते हुए मैं उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैः करुणतः एव च।
निर्ममा निरहंकारः सम दुःख सुखक्ष्मी।।'

❖❖❖

कवि सुब्रह्मण्य भारती :
जो राष्ट्रीय चेतना के शिखर कवि थे

प्रत्येक वर्ष 11 सितंबर को राष्ट्रीय चेतना के अमर कवि सुब्रह्मण्य भारती को 'राष्ट्रीय विचार मंच' को ओर से भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है। यद्यपि कवि सुब्रह्मण्य भारती का लेखन मात्र दो दशकों तक ही सीमित रहा, किंतु इसी अवधि में तमिल काव्य एवं गद्य ने क्रमशः देशभक्ति की भावना और लोक साहित्य को समृद्ध किया। आज भी उनका युग तमिल प्रेम और तमिल दर्शन की गहराई को प्रवाह दे रहा है। किसी साहित्यकार के जीवन में मानव से ज़्यादा मानवता का महत्त्व होता है। राष्ट्र चेतना के महाकवि सुब्रह्मण्य भारती एक ऐसे ही मानवतावादी कवि थे, जो संपूर्ण विश्व को प्रेम और राष्ट्र प्रेम का पाठ पढ़ाना चाहते थे। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता 'कृत्रिम पाट्टु' में प्रेम से संबंधित चिंतन को व्यक्त किया है। उन्होंने तमिल साहित्य को नई गति, नवभाव, विकास तथा नवछंद दिए। शोषण व दमन के विरूद्ध उन्होंने हमेशा आवाज़ उठाई तथा नारी शिक्षा एवं नारी मुक्ति के आंदोलन को भी उन्होंने रेखांकित किया। बहुआयामी व्यक्तित्व के कवि सुब्रह्मण्य भारती बहुभाषाविद् थे जिन्होंने 'पाँचाली सपथ', 'गीतांजलि', 'जन्मभूमि', 'वंननपतू', 'बहेल पत्त' जैसी रचनाएँ रचीं। सुब्रह्मण्य भारती महामानव के साथ महाकवि तो थे ही, वे कविद्रष्टा और सृष्टा भी थे। भगवान से सुष्टित महान वस्तुएँ क्षणकाल में अनायास ही काल कवलित हो जाती हैं, परंतु भारती जैसे महाकवियों की पंक्तियाँ सदा-सवदा कालजयी और सर्वजयी होती हैं। पंक्तियों-

उनकी काव्य पंक्तियों के भावार्थ को देखें -

एक अकेले व्यक्ति के लिए इस समाज में खाना प्राप्त न होगा, तो ऐसे समाज को जिस दुनिया की नीति ने रचाया, उस दुनिया को सर्वनाश कर देंगे। जीवित रहने के लिए हर शख्स को खिलाना समाज का कर्त्तव्य है। ऐसा न किया जाए, तो क्या वह भी एक समाज कहलाने योग्य है?

महात्मा गाँधी के राजनीतिक मंच पर उपस्थित हाने के पश्चात् ही और सुब्रमण्य भारती के काव्य क्षेत्र में प्रवेश के साथ ही, तमिल क्षेत्र में राष्ट्रीयता की भावना जोर पकड़ने लगी। देश व्यक्ति के भारती प्रथम वैतालिक के रूप में अवतरित हुए। उनकी बहुप्रचारित देशभक्तिपूर्ण कविताएँ उस युग में राष्ट्रीय भावना के जगाने में अहम भूमिका अदा करती हैं।

सुब्रह्मण्य भारती की साहित्यिक सेवा की अवधि तकरीबन 10 वर्ष की थी। इस वर्ष की इस अल्प अवधिा में ही उन्होंने अनेक देशभक्ति-गीतों और लघुकाव्यों की रचना की। भारती देश के राष्ट्रीय आंदोलन के सक्रिय सदस्य और स्वतंत्रता सेनानी थे।

हिंदी कवियों की भाँति भारती ने भारत के गौरव-गरिमा का, विशेष रूप से उसके ज्ञान और दर्शन की महत्ता का वर्णन विस्तार से किया है। अपने खंडकाव्य 'पांचाली शपदम' में उन्होंने भारत माता का मानवीकरण द्रौपदी के रूप में किया है। उन्होंने जन साधारण के बीच राष्ट्रीय भावना का प्रचार किया। भारत देश की प्राचीन महिमा और उसकी उन्नति का वर्णन उनकी कविता देखा जा सकता है। पराधीन भारत का कारुणिक वर्णन तथा भारत माता को मुक्त करने का आह्वान भी उनकी कविताओं का प्रतिपद्य रहा है।

भारतीय सांस्कृतिक उत्थान में कवि सुब्रह्मण्य भारती का अमूल्य योगदान है। बहुत कम समय में उनकी ओजस्वी वाणी और तेजदीप्त लेखन से देश की जनता में नवजागरण का उन्होंने संदेश दिया। भारती ने सांप्रदायिक सद्भाव और सौहार्द्र के संबंध में अनेक स्थलों पर बड़े संतुलित विचार व्यक्त किए हैं। मैथिलीशरण गुप्त की तरह सुब्रह्मण्य भारत ने भी गौतम बुद्ध ईसा मसीह, मुहम्मद साहब, गुरु नानक देव आदि पर स्वतंत्र रूप से कविताएँ लिखी हैं। राष्ट्रीय एकता, अखंडता और सांप्रदायिक सद्भावना की बात भारती की कृतियों में सर्वोपरि है। भारती ने अपनी तमिल भाषा में गर्व और गौरव के साथ जीने का संदेश अपनी रचनाओं के माध्यम से दिया है। उन्होंने अपनी कविताओं में जिसे स्वर्णिम अतीत का भावविभोर होकर जयगान किया है। देशभक्ति भरपूर देखने को मिलती हैं। देखें उनकी इस पंक्तियों को उन्हीं के शब्दों मे -

उज्ज्वल हिमगिरि शृंग हमारा,
विश्व भर में यह है न्याय
सुधामयी गंगा हमारी
इसकी कोई नहीं सानी रे!

इसी तरह अनेक स्थलों पर अखंड भारत को कवि ने इन शब्दों में चित्रित किया है -

चाँदी जैसे हिम पर्वत पर विहार करेंगे हम परिश्रम के विस्तृत सागर में हम नित पोत चलाएँगे, शालाओं में हम सब मिलकर मंदि का निर्माण

करेंगे। भारत-सिंहल द्वीप मध्य सेतु का इस नवनिर्माण करेंगे, रामेश्वर के सागर पर हम सड़क नयी बिछाएँगे बंग भूमियों की जलधारा से मध्य प्रदेश में शस्य उगाएँगे।

भारत की सांस्कृतिक संपदा और भौगालिक महत्ता का जयघोष करते हुए भारत ने नवयुग की चेतना का शंखनाद किया था जिसके एक प्रसंग का देखें -

"एक माँ की कोख से ही जन्में हम और विदेशियों। हम अभिन्न हैं मनमुटाव से क्या होता है? हम भाई-भाई ही रहेंगे और कहेंगे वंदे मातरम्"

सुब्रह्मण्य भारती मूलतः शक्ति उपासक थे। भारती की अमरकृति 'कण्णन पाट्टू' अर्थात कृष्ण गीत उनकी आध्यात्मिक चेतना का उत्कर्ष है। इसमें उन्होंने कृष्ण को माता-पिता, स्वामी-सेवक, मित्र-सखा, गुरु-शिष्य, प्रेमी-प्रेमिका, कुलदेवता आदि अनेक रूपों में चित्रित किया है। निःसंदेह सुब्रह्मण्य भारती राष्ट्रीय चेतना संपन्न हमारी भारतीय संस्कृति के शला पुरुष के रूप में समादत हैं। वे जीवन भर सरस्वती की अराधना करते रहें और देशवासियों को बार-बार कहते रहे कि हीनतागंथि से मुक्त हो और अपने में आत्मबल संचित करें साथ ही अपनी मातृभूमि पर गर्व करें। आत्मविश्वास और आत्म गौरव को भाव उत्पन्न करने के लिए उन्होंने यह आवश्यक सामुदायिक पूर्वजों के शौर्य, पराक्रम, त्याग और बलिदान का स्मरण कराया जाए। सुब्रह्मण्य भारती इस देश की भाषाओं के अमर गायक के रूप में जनता के मन में जीवित रहेंगे।भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भूमिका अदा करने वाले कवि सुब्रह्मण्य भारती को डॉ० निर्मला एस० मौर्य की निम्न पंक्तियों से नमन करता हूँ-

हर नया युग नए मोड़ की निशानी है
हर नई क्रांति भारती की कहानी है ।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर :

जो भारतीय संस्कृति के महान योद्धा थे

प्रबंध काव्य की कृति में दिनकर को अनुपम सफलता मिली है। 'कुरूक्षेत्र' उनका सफल प्रबंध काव्य है जिसकी गणना हिंदी के उच्च कोटि के प्रबंध काव्यों में की जाती है। दरअसल 'कुरूक्षेत्र' के प्रबंध की एकता उसमें वर्णित विचारों को लेकर है कुरुक्षेत्र एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है, जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है। वस्तुतः कुरूक्षेत्र एक विचार प्रधान काव्य है। भीष्म और युधिष्ठिर के माध्यम से कवि ने अपने विचारों को बड़ी कुशलता से क्रमबद्ध किया है। इसी से इस काव्य में प्रबंधात्मकता आ गई है। भीष्म ने युधिष्ठिर को संबोधित करते हुए युद्ध के विरोध में जो स्वर मुखरित किया है, वह एक सनातन सत्य है–

जिए मनुज किस भाँति परस्पर,
होकर भाई-भाई।
कैसे रुके प्रवाह क्रोध का,
कैसे रुके लड़ाई ।।
बहे प्रेम की धार, मनुज को,
वह अनवरत भिगोए।
एक दूसरे के डर में नर,
बीज प्रेम के बोए।।

हर काल और हर युग में श्रम को महत्त्व मिला है। कविवर दिनकर ने कुरूक्षेत्र में श्रम की महिमा के संबंध में भी अपनी लेखनी चलाई है। कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

ब्रह्म से कुछ लिखा भाग्य में, मनुज नहीं लाया है
अपना सुख उसने, भुजबल से ही पाया है।
प्रकृति नहीं डर कर झुकती है, कभी भाग्य के बल से,
सदा हारती है मनुष्य के, उद्यम से, श्रम-जल से

इस प्रकार कुरूक्षेत्र काव्य-भाव, भाषा, शैली सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट कोटिका है और अहिंसा, शांति का संदेश देने में समर्थ है। जहाँ वर्त्तमान में इसकी उपयोगिता है, वहीं भविष्य में भी यह पाठकों को प्रभावित करता रहेगा। वस्तुतः कुरूक्षेत्र हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। इस प्रकार

हिंदी साहित्य में बिहार राज्य को अमर बनाने का श्रेय रामधारी सिंह दिनकर को जाता है। वह सदैव राष्ट्र प्रेम का राग अलाप करने के कारण सदा पठनीय बने रहेंगे। उनकी रचनाओं में ऊँचे आदर्श और जीवन-मूल्यों की भरमार हैं। दिनकर जी की रचनाओं में ओज और माधुर्य का अद्‌भुत संगम है। जन-चेतना उनका मुख्य स्वर है। उन्होंने बच्चों के लिए प्रेरक शिक्षाप्रद और अनुकरणीय कविताओं की रचना की 'चाँद का कुरता' और 'हिमालय' शीर्षक उनकी कविताएँ बहुत चर्चित हैं। उन्होंने सौ से अधिक बाल कविताएँ लिखी जो 'धूप-छांव', 'मिर्च का मजा', 'सूरज का ब्याह' आदि में संग्रहित हैं। 'उजली आग' उनकी प्रेरकबोध कथाओं का संग्रह है। दिनकर जी की बाल कविताएँ ज्ञानबर्द्धक मनोविज्ञान से ओत-प्रोत और प्रेरणा देने वाली हैं।

बिहार प्रांत के मुंगेर जिले के सिमरिया घाटग्राम में एक किसान परिवार में 23 सितंबर, 1908 को जन्मे दिनकर की प्रारंभिक शिक्षा घर पर हुई। फिर स्नातक उन्होंने पटना विश्वविद्यालय से किया। सर्वप्रथम वह पहले बिहार सरकार के जनसंपर्क विभाग में उप निदेशक, निबंधन विभाग में उप निबंधक और उसके बाद लंगटसिंह स्नातकोत्तर कॉलेज, मुजफ्फरपुर में हिंदी विभागाध्यक्ष के पद पर काम करते रहे। वर्ष 1952 में उन्होंने नौकरी से त्याग पत्र दे दिया और राज्य सभा के सदस्य मनोनीत हुए।

यायावर स्वभाव के दिनकर जी ने कई बार विश्व के अनेक देशों का भ्रमण किया। उन्होंने पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, जापान, चीन, जकार्ता, स्विट्जरलैंड, अरब आदि देशों में भारतीय शिष्टमंडल का नेतृत्व किया और वहाँ शौर्य गीत गाया। वह रूस भी गए जहाँ उन्होंने ताशकंद संग्रहालय में समरकंद, ताशकंद उज्बेकिस्तान में की गई खुदाई से प्राप्त भारत नरेश कनिष्क तथा कुषाण वंशी सम्राट वासुदेव के शिलाखंड, भगवान बुद्ध की गांधार शैली की मूर्त्तियाँ, भगवान. शिव का त्रिशूल, डमरू चक्र (बुखार) आदि भी देखा और उन्हें यह समझने में देर न लगी कि महाराज कनिष्क का शासन ताशकंद तक फैला हुआ था। उन्होंने संग्रहालय की पुस्तिका में लिखा 'भारतीय संस्कृति शाश्वत, और अमर है।'

भारत सरकार ने उनके कालजयी कृतित्व पर 'पद्‌म विभूषण', सम्मान से सम्मानित किया। भारतीय संस्कृति के 'इस महान योद्धा व पुजारी एवं सरस्वती के वरद् पुत्र का दुखद निधन 25 अप्रैल, 1974 को उस समय हुआ जब वह तमिलनाडू के मद्रास में थे।

निःसंदेह रामधारी सिंह दिनकर ने हिंदी काव्य जगत को उसपर छाए

छायावादी कल्पनाजन्य कुहासे से बाहर निकालकर प्रवाहमयी, ओजस्विनी कविता की धारा से आप्लावित किया। गद्य के क्षेत्र में उनका तकरीबन 700 पृष्ठों का 'संस्कृति के चार अध्याय, उनके गहन अध्ययन और उसमें से निर्मित दृष्टि को स्पष्ट करने वाली अपने आप में एक विशिष्ट रचना है जिसमें दिनकर ने संपूर्ण भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक विकास को चार कालखंडों में विभाजित करके देखा। यह कहना मुनासिब होगा कि भारत की संस्कृति का मुख्य गुण उसका सामाजिक स्वरूप है और इसे समझने में दिनकर जी की लेखनी ने हमारी बहुत सहायता की है। इस ग्रंथ के महत्त्वपूर्ण चौथे अध्याय 'भारतीय संस्कृति और यूरोप' में इस बात का विश्लेषण है कि अँग्रेजों के साथ बने संपर्क ने इस देश की जनता में किस प्रकार आत्म चेतना उत्पन्न की, किस प्रकार विभिन्न समुदायों में पुनर्जागृति की भावना उत्पन्न हुई। दिनकर की अनेक मान्यताओं से मतभेद हो सकता है, किंतु यह निश्चित है कि इस देश की सांस्कृतिक विरासत को समझने के लिए दिनकर का यह ग्रंथ बहुत सार्थक प्रयास है।

❖❖❖

कवि त्रिलोचन शास्त्री : जो अपनी शर्तों पर जीने वाले अद्वितीय कवि थे

लोकरंग के कवि त्रिलोचन शास्त्री छायावादोत्तर कवियों में सर्वाधिक चर्चित रहे। यों तो इन्होंने साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में अपनी लेखनी चलाई, किंतु सॉनेट को हिंदी साहित्य में इन्होंने जो प्रतिष्ठा दिलाई है उसका स्मरण सदैव किया जाता रहेगा। कहा जाता है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इन्होंने इतने सॉनेट लिखे जितने शेक्सपियर, मिल्टन या स्पेंसर ने भी नहीं रचे होंगे। कहना नहीं होगा कि कवि त्रिलोचन जी ने विजातीय कहे जाने वाले इस छंद में बोलचाल की भाषा और लय का प्रयोग कर सॉनेट को भारतीय साँचे में ढाल दिया। उन्होंने कोई 538 सॉनेट लिखे हैं। इनके पाँच संग्रहों यथा, 'दिगंत', 'फूल का नाम है एक', 'उस जनपद का कवि हूँ', 'शब्द' और 'अनकही भी कुछ कहानी है' में सॉनेट के कई रंग दिखते हैं। त्रिलोचन शास्त्री जी का मूल नाम वासुदेव सिंह था।

20 अगस्त, 1917 को उत्तर प्रदेश के सुल्तानपुर जिलांतर्गत कादीपुर तहसील चिरानी पट्टी के गाँव कटघरा पट्टी में जन्मे त्रिलोचन शास्त्री ने साहित्य रत्न, अरबी-फारसी शिक्षा के बाद काशी हिंदी विश्वविद्यालय, बनारस से शास्त्री स्नातकोत्तर (पूर्वार्द्ध) की परीक्षा पास की तथा पत्रकारिता 'प्रभाकर', 'आज', 'हंस' चित्र रेखा' 'समाज' आदि पत्रिकाओं में काम किया। इसके अतिरिक्त गौर हरि सिन्हा विश्वविद्यालय, सागर के मुक्तिबोध सृजन पीठ के अध्यक्ष पद को भी उन्होंने सुशोभित किया। फिर वे अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल द्वारा प्रकाशित 'भाषा' का त्रिलोचन जी संपादक भी रहे। इसी प्रकार 1957-58 में उत्तर प्रदेश हिंदी समिति पुरस्कार, 1981 में साहित्य अकादमी पुरस्कार, 1984 में उत्तर-प्रदेश हिंदी संस्थान सम्मान, 1990 में मैथिलीशरण गुप्त सम्मान, 1992 में हिंदी अकादमी का शलाका सम्मान तथा 1993 में भवानी प्रसाद मिश्र राष्ट्रीय पुरस्कार के अलावा मध्य प्रदेश साहित्य परिषद सम्मान और भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता की ओर से भाषा, कविता और पत्रकारिता में उल्लेखनीय योगदान के लिए सम्मानित हुए।

मुझे स्मरण हो रहा है हिंदी के इस लोकप्रिय कवि त्रिलोचन शास्त्री का सही मूल्याँकन करते हुए अमर कथा शिल्पी फणीश्वरनाथ रेणु ने कहा था-'त्रिलोचन में कुछ जोड़ा जाए तो शमशेर बन जाएँगे और घटाया जाए तो नागार्जुन।'

त्रिलोचन शास्त्री जी ने न केवल गीत, ग़ज़ल, कुंडलियाँ, बरबै और मुक्त छंद की रचना की, अपितु उन्होंने कहानियाँ भी लिखीं। राधाकृष्ण प्रकाशन द्वारा इनकी कहानियों का एक संग्रह 'देशकाल' प्रकाशित भी हुआ है। निबंध और आलोचना पर पुस्तक 'काव्य और अर्थ बोध' वर्ष 1995 में प्रकाशित हुई। साहित्य अकादमी का पुरस्कार इन्हें वर्ष 1981 में इनके काव्य संग्रह 'ताप के ताए हुए दिन पर, मिला था। इनके अन्य काव्य संग्रह दिगंत, गुलाब और बुलबुल, तुम्हें सौंपता हूँ, मेरा घर, सबका अपना आकाश और फूल एक नाम है भी काफी चर्चित हुए। उनका नवीनतम काव्य संग्रह 'जीने की कला' वर्ष 2005 में आया जो लोक से जुड़ी बातों और प्रकृति पर केंद्रीत है। जीवन से ऊर्जा ग्रहण करती इनकी कविताओं में आम आदमी का संघर्ष और सुख-दुःख है। उन्होंने जन-जीवन के अनुभवों को उसी की भाषा में उकेरा है। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ यथार्थपरक तो हैं ही, आत्मीय इतनी कि वे तपाक से मिलती हैं और गले लगाती प्रतीत होती हैं। इनकी अनगढ़ भाषा बनावटीपन से कोसों दूर है, क्योंकि वह लोकभाषा की बैशाखी पर टिकी है।

कवि त्रिलोचन शास्त्री जी ने लेखन किया, पत्रकारिता की और यहाँ तक कि घर-गृहस्थी चलाने के लिए इन्होंने पढ़ाया भी। रचना कर्म के साथ उन्हें आजीविका के लिए लगातार संघर्ष करना पड़ा, किंतु जीवन-मूल्यों और सिद्धांतों के साथ उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। इसी वजह से वे कभी लंबी अवधि तक एक जगह काम नहीं कर पाए। साहित्य रचना से लेकर अध्यापकों की जद्दोजहद के बीच कवि त्रिलोचन शास्त्री जी किसी आंदोलन के नेतृत्व में नहीं रहे, मगर हर हाथ को काम और सबको रोटी मिले इसकी चिंता उन्हें जरूर रही। उन्होंने लिखा भी है- 'जो रचेगा वह बसेगा।'

त्रिलोचन शास्त्री जी बाबा नागार्जुन के समकक्ष थे। वे युगांतकारी कवि थे और उन्होंने कविता के हर पक्ष को खंगाला। ग्रामीण परिवेश के लेखक और जमीन से जुड़े इस व्यक्ति को महानगरीय संस्कृति ने उनकी ग्रामीण छवि को धूमिल किया। कवि त्रिलोचन शास्त्री के अपने और कवि मन के तार उनके गाँव सुल्तानपुर जिले के चिरानी पट्टी से जुड़े रहे।

सागर विश्वविद्यालय स्थित मुक्तिबोध सृजन पीठ की अपनी दूसरी अध्यक्षीय पारी के दौरान पेट का अल्सर अचानक फट जाने से आकस्मिक शल्य क्रिया द्वारा त्रिलोचन शास्त्री जी किसी तरह से बच तो गए, किंतु इधर काफी लंबे अरसे से अस्वस्थ रहने के बाद वे बीमारी से उबर नहीं पाए। विगत 9 दिसंबर 2007 को वे इस संसार से विदा हो गए और मरने के बाद शब्दों से उनका संबंध सदा-सदा के लिए टूट गया। 'शब्दों से मेरा संबंध छूट जाएगा' शीर्षक अपनी कविता में कोई बीस वर्ष पूर्व आने वाले समय को जैसे उन्होंने देख लिया था–

'मैंने करने जैसा
क्या कोई काम किया
शब्द ही तो थे केवल
खेलता रहा जिनसे
मैं जी भर...............
मुझे अपने मरने का थोड़ा भी दुःख नहीं
मेरे मर जाने पर
शब्दों से
मेरा संबंध
छूट जाएगा।'

सचमुच शब्द शिल्पी त्रिलोचन शास्त्री जी अपने जीवन के अंतिम दिन अकेलेपन के सागर में डूबे थे। बेहद तंग, बंद गली के आखिरी मकान के कमरे में दिनभर निपट अकेले त्रिलोचन-पथ पर चलते रहे निरंतर..

पथिकचरण ध्वनि से दो उत्तर लिखने और जीने वाले कवि त्रिलोचन को विगत पाँच साल से ज्यादा इस भीषण एकांत को सहते हुए जैसे एक युग बीत गया। देहावसान के पूर्व दिल्ली से सटे ग़ाज़ियाबाद के वैशाली में सेक्टर-3 के मकान नं० 667 में महीने भर से अपने छोटे पुत्र अमीत प्रकाश, पत्रकार के साथ वे रह रहे थे और चुपचाप जी रहे थे। 'और क्या चाहिए' शीर्षक कविता में वे कहते हैं–

जी रहा हूँ ठीक वैसे ही अभी तक
पेड़ जैसे आम का चुपचाप
और अपने मूल दल से ले रहा हूँ
मुरस जीवन का जरूरी ताप
हवा जितनी चाहिए लेता रहा हूँ

और पानी पी रहा हूँ मौन
कौन जीता किस तरह किस ओर
बना है, यह जानता है कौन।

जन कवि त्रिलोचन शास्त्रीजी इक्कानवे वर्ष के हो चुके थे इसलिए उन्हें तो जाना ही था। लोग तो उनके जाने की प्रतीक्षा-सी कर ही रहे थे, क्योंकि उनकी डरावनी लंबी उम्र थी। मगर इतने उच्चस्तर के प्रतिष्ठित कवि का उचित इलाज न हो पाना किसी साहित्यकार के लिए चिंता की बात अवश्य है। गंवई दिल, कस्बायी मन, पहनावे में कुरता-पायजामा और पैर में चप्पल लिए यह कवि आज हमलोगों के बीच नहीं है, मगर त्रिलोचन यानी तीन नेत्रोंवाला, जिसने शंकर की तरह अपना एक नेत्र छिपा लिया था, धीरज, स्नेह का सजल प्रवाह आज भी जैसे हम सबों के सामने है। आज की पीढ़ी जो पचास आते आते हांफती लगती है को कवि त्रिलोचन शास्त्री के चेहरे को याद करना चाहिए कि वे न्यूनतम साधनों में नब्बे की उम्र खींच ले गए। मैं अपने को इस माने में सौभाग्यवान समझता हूँ कि दिल्ली में रहने की वजह से कई बार सभा-संगोष्ठियों में त्रिलोचन शास्त्री को सुनने-समझने का मुझे अवसर मिला है।

ऐसे रचनाकार अब बहुत कम दिखतें हैं, जो लेखन और व्यवहार दोनों में एक जैसे ही हों, किंतु त्रिलोचन शास्त्री जी में यह बात थी और व्यक्तित्व की सहजता ही उनके रचनाकार को और बड़ा बनाती है। अँग्रेजी का मुहावरा 'लार्जर दैन लाइफ' बिल्कुल सकारात्मक अर्थ में उन पर लागू होता है। त्रिलोचन हिंदी साहित्य के प्रति समर्पित होते हुए भी उनको अँग्रेजी से कोई गुरेज नहीं था।

त्रिलोचन शास्त्री जी के व्यक्तित्व की एक और विशेषता यह थी कि अपने से छोटों के प्रति सहज स्नेह का जो निर्झर उनके व्यक्तित्व से निरंतर झरता था, वह किसी को भी भिगों देने के लिए काफी था।

हिंदी में सॉनेट छंद का प्रयोग करने वाले त्रिलोचन कोई अकेले कवि नहीं हैं। उनके पहले जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत और महाप्राण निराला भी इस छंद का प्रयोग कर चुके थे, किंतु इटैलियन मूल के इस छंद को आज हिंदी में सिर्फ त्रिलोचन के नाते ही जाना जाता है। दरअसल त्रिलोचन जी का यह प्रयास था कि वह जो कहें वही समझा जाए। यही वजह है जो–

इधर त्रिलोचन सॉनेट के ही पथ पर दौड़ा
सॉनेट सॉनेट सॉनेट सॉनेट क्या कर डाला

वह उसने भी अजब तमाशा। मन की माला
गले डाल ली। इस सॉनेट का रस्ता चौड़ा
अधिक नहीं हूँ–, कसे कसाए भाव अनूठे
ऐसे आएँ जैसे किला आगरा में जो
नग हैं, दिखलाता है पूरे ताजमहल को।
गेय रहे एकान्वित हो।.............

ऐसा भी नहीं है कि वह आत्म श्लाघा से मुक्त हैं, तो आत्मबोध से भी मुक्त हों। अपने रचनात्मक अवदान के प्रति भी वह पूरी तरह सजग हैं और यह बात वह पूरी विनम्रता से कहते भी हैं–

सॉनेट से मजाक भी उसने खूब किया है,
जहाँ तहाँ कुछ रंग व्यंग का छिड़क दिया है।

कविता की भाषा के साथ भी जो उन्होंने किया, वह बहुत सचेत ढंग से किया है। गद्य के व्याकरण में उन्होंने कविता लिखी जिसमें लय उत्पन्न करना, छंदयुक्त नई कविता लिखने वालों के लिए भी बहुत मुश्किल है। लेकिन त्रिलोचन छंद और व्याकरण के अनुशासन में भी लय का जो प्रवाह देते हैं, वह दुर्लभ है। शायद यह वही 'अर्थ की लय' है जिसके लिए अज्ञेय जी आह्वान किया करते थे। दरअसल त्रिलोचन जी के लिए 'कविता लोगों तक अपनी बात पहुँचाने का माध्यम है। ठीक-ठीक वही बात जो वह सोचते हैं वह अपने समय और समाज के प्रति पूरे सचेत हैं–

देख रहा हूँ व्यक्ति, समाज, राष्ट्र की बातें
एक दूसरे पर कठोरता, थोथी बातें
संधि शांति की।...............

वह यह भी जानते हैं कि जो संघर्ष वह कर रहे हैं वह उनकी पीढ़ी में पूरा होने वाला नहीं है। इसमें कई पीढ़ियाँ खपेंगी, फिर उनके सपनों का समाज बन जाएगा। त्रिलोचन शास्त्री जी कहते हैं–

धर्म विनिर्मित अँधकार से लड़ते लड़ते
आगामी मनुष्य; तुम तक मेरे स्वर बढ़ते।

पुनः त्रिलोचन शास्त्री जी की 'धरती' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों पर भी गौर करें–

हंस के समान दिन उड़कर चला गया
पृथ्वी आकाश अभी उड़कर चला गया
डूबे स्वर्ण की तरंगों में

गूँजे स्वर
ध्यान हरण मन की उमंगों में
बंदी कर मन को वह खग चला गया
अभी उड़ कर चला गया
कोयल सी श्यामा सी
रात निविड़ मौन पास
आई जैसे बँध कर
बिखर रहा शिशिर श्वास
प्रिय संगी मन का वह खग चला गया
अभी उड़कर चला गया।

'मेरा घर' शीर्षक उनकी कविता की चंद पंक्तियों से मैं उनकी स्मृति को प्रणाम करता हूँ–

पेड़ अपनी उँगलियों ठहनियों को
हिंला-हिलाकर मुझे बुलाते हैं
कानों में कहते हैं
आओ आओ मेरे पास
बैठो जरा सुस्ताओ
लंबी सांस लेकर
बैठ जाता हूँ और
ऊँचे स्वर में
बोल पड़ता हूँ मैं
सर्वे भवन्तु सुखिनः ।

❖❖❖

कुर्तुल ऐन हैदर :
जो खुद आग का एक दरिया थीं

चाहने वालों के बीच अपने असली नाम कुर्तुल ऐन हैदर की बजाय ऐनी आपा के नाम से ही जानी जाने वाली 'आग का दरिया' की लेखिका खुद आग का एक दरिया थीं। जिन दिनों सुश्री हैदर ने लिखना प्रारंभ किया वह समय प्रगतिशील लेखन का वक्त था, लेकिन उर्दू की इस अदीब लेखिका के लिए आश्चर्य की बात यह थी कि उनके लेखन को यह कहकर लोगों ने नकार दिया कि वह सामाजिक चेतना से लैस लेखन नहीं है। हालांकि यह भी सही है कि इनके लेखन के विषय में काफी विविधता थी। गरीब और बेहतरीन ऐसे कलाकार, जिन्हें समाज ने हाशिए पर धकेल दिया, वे महिलाएँ जो शिक्षित होने के बावजूद अपने पैरों पर खड़ी होने के लिए कई स्तरों पर शोषण का शिकार होती हैं, वे अल्पसंख्यक, जो अपनी उपसंस्कृतियों में रह रहे थे, सभी इनके लेखन में चहलकदमी करते नजर आते हैं। जब इनके लेखन में सामाजिक चेतना नहीं बताकर लोगों ने नकारा, तब ऐन आपा ने खुद कहा, 'मुझे उनके इस निर्णय पर बड़ी हैरानी हुई। मैं तो अपने तरीके से समकालीन परिदृश्य और देश के मानस का चित्रण कर रही थी। अपने विषय खोजने के लिए मुझे कहीं दूर नहीं जाना पड़ा। मेरे आसपास का माहौल ही बहुत समृद्ध और विचारोत्तेजक था, वहाँ ग्रामीण भी थे, इंडो मुगल भी और इंडो यूरोपियन भी। ये ऐसे मिले हुए थे जैसे मालाएँ उलझ गई हों। सभी में अपने अतीत को लेकर एक खास तरह की टीस थी। इन सभी ने मेरी रचनात्मकता में योगदान किया।'

इस संदर्भ में यह भी बता दूँ कि ऐन आपा के पिता सज्जाद हैदर यलदरम नहटौर के एक एंग्लो इंडियन जागीरदार घराने के थे, जो उर्दू के पहले कहानीकार भी माने जाते थे। उनकी माँ नजर सज्जाद हैदर भी कहानी लिखा करती थीं। यही कारण है कि स्वयं कुर्तुल भी ग्यारह वर्ष की उम्र में ही कलम चलाने लगी थी। सुश्री हैदर के पिता सज्जाद हैदर ब्रिटिश राजदूत की हैसियत से कई देशों में रह चुके थे। आजादी के पूर्व जब हिंदुस्तान का बँटबारा हुआ, तो सुश्री कुर्तुल अपने पिता के साथ लखनऊ में ही रह गयीं जबकि उनके परिवार के अन्य सदस्य पाकिस्तान चले गए। पिता के देहावसान के बाद स्वयं कुर्तुल ऐन हैदर भी पाकिस्तान चली गई,

पर लखनऊ को वह भुला न पाई, क्योंकि उनकी शिक्षा-दिक्षा लखनऊ तथा दिल्ली में हुई थी। लिहाजा ये शहर भी उनके भीतर बसे थे। बमुश्किल अठारह साल की जब सुश्री हैदर थी जब उनका पहला कहानी संग्रह 'शीशे के घर' प्रकाशित हुआ। लखनऊ की जिंदगी ने उन्हें गंगा-जमुनी की मिली-जुली संस्कृति दी, जिसके परिणामस्वरूप उनकी रचनाएँ बेमिसाल हैं।

कुर्तुल का पहला उपन्यास 'मेरे भी सनमखाने' था। फिर 'चाँदनी बेगम' और 'आग का दरिया' भी लखनऊ की कथा अपने में समाए हैं। 'आग का दरिया' कुर्तुल का ऐसा उपन्यास है जिसमें न सिर्फ भारतीय संस्कृति, बल्कि इस देश के बरसों पुराने इतिहास को भी संजीदा तरीके से पेश किया गया है। अपनी इस रचना से न केवल उर्दू साहित्य में उसने भूचाल ला दिया था, बल्कि जिसकी नींव पर पाँव रखकर दक्षिण एशिया की लेखिकाओं ने जनद्रोही कट्टरपंथ से लोहा ली और धर्मनिरपेक्षता की वह इमारत भी खड़ी हुई, जिस पर सांप्रदायिक शक्तियों के हमले आज भी बार-बार नाकाम हो रहे हैं। चौथी सदी ईशा पूर्व से लेकर 1947 के रक्त रंजित दौर तक को अपनी जद में समेटता यह उपन्यास भारतीय उपमहाद्वीप की विघटित आत्मा का खाका खिंचता है। इसे पढ़कर ही आप जान सकते हैं कि विभाजन से आप क्या खो चुके हैं।

ऐन आपा की ख्याति के पीछे निश्चित रूप से 'आग का दरिया' उपन्यास है जिसकी तुलना सन् 1943 की इस्मत चुगताई की बहुचर्चित कहानी 'लिहाहु' तथा उनके उपन्यास 'टेढ़ी लकीर' से की जा सकती है जिसके साथ ही उर्दू साहित्यिक बने पारंपरिक पुरुष प्रमुख की नींव देख गई थी या फिर ऐन आपा की रचना 'आग का दरिया' का जोड़ अगर किसी विश्व साहित्य की किसी आधुनिक धरोहर से मिलाना हो, तो किसी को गैब्रिएल गार्सिया मार्वेज के 'वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलीच्युड' के अलावा शायद और कोई नाम नहीं सूझेगा। सन् 1959 में प्रकाशित 'आग का दरिया' से सुश्री हैदर को विश्व भर में ख्याति मिली। उनकी जैसी जबान की मजबूत पकड़ और साहित्य की समझ कम ही लोगों में नजर आती है। उनके 'आग का दरिया' उपन्यास में न सिर्फ हिंदुस्तानी संस्कृति, बल्कि इस देश के बरसों पुराने इतिहास को संजीदा तरीके से प्रस्तुत किया गया है। सच तो यह है कि कुर्तुल ऐन हैदर पाकिस्तान चली तो गईं थीं, मगर वहाँ के माहौल में उन्हें घुटन महसूस हो रही थी। ऐसा न होता, तो वह पाकिस्तान संस्कृति प्रसारण विभाग के प्रमुख के पद से इस्तीफा न देती। वह बीबीसी के लिए काम करने

लगीं और इससे खुली हवा में सांस लेने का उन्हें अवसर मिला।

'आग का दरिया' के अतिरिक्त 'मेरे भी सनमखाने, 'सेफीना ए गमे दिल', 'आखिरी शब के हमसफर', 'कार-ए-जहाँ दराज है', 'गर्दिशे रंगे चमन' और 'चाँदनी बेगम' उनके उपन्यास भी काफी चर्चित हुए। उनके प्रमुख कहानी संग्रहों में 'सितारों से आगे', 'शीशे के घर', 'पतझड़ की आवाज', और 'रोशनी की रफ्तार' की गिनती होती है। छोटे उपन्यासों में 'सीता हरण', 'चाय के बाग', 'अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो' और 'दिलरुबा' खुब पढ़े गए।

कुर्रतुल ऐन हैदर की रचनाओं में समीचीन ऐतिहासिक समझ तो है ही, वह आधुनिक बोध से भी लैस हैं। वह गंगा-जमुनी तहजीब को पूरे दिल से मानती और जानती थीं। उनका कहना था- 'बच्चा मुसलमान के घर होता है, गीत कृष्ण कन्हैया के गाए जाते हैं। मुसलमान बच्चे बरसात की दुआ माँगने के लिए मुँह नीला-पीला किए गली-गली टीन बजाते हैं, साथ-साथ चिल्लाते हैं- "हाथी घोड़ा पालकी, जय कन्हैया लाल की। मुसलमान पर्दानशीं औरतें जिन्होंने पूरी उम्र किसी गैर मर्द से बात नहीं की, जब ढोलक लेके बैठती हैं तो लहक-लहककर अलापती हैं-भरी गगरी मेरी ढलकाई तूने, श्याम हो तूने' 'वह मानती थीं कि मिली-जुली संस्कृति किसी सामाचार पत्र की सुर्खी नहीं कि दूसरे दिन ही भुला दी जाए। उनके साहित्यिक अवदान के लिए उन्हें भारत सरकार ने पद्मश्री से भी सम्मानित किया।

रिपोर्ताजों में भी उनकी जबान का एक रूप खूब देखने को मिलता है। गुलगश्ते जहाँ, छुटे असीर तो बदला हुआ जमाना था, कोहे दमावंद, खीज सोचता है, दकन-सा नहीं ढार संसार में, सितंबर का चाँद, कैदखाने में, तलातुम है कि हिंद आती है आदि रिपोर्ताजों में उनकी जबान का एक रूप काफी खिला है।

कुर्रतुल ऐन हैदर की रचनाओं के अनुवाद भारतीय भाषाओं के साथ-साथ अनेक विदेशी भाषाओं में भी हुए। उनकी सधी जबान और गहरी अध्ययनशीलता तथा सुगठित गद्य की सराहना दुनिया के अनेक सुप्रसिद्ध रचनाकार भी करते हैं। 'हमीं चराग, हमी परवाने' शीर्षक से किया उनका हेनरी जेम्स के उपन्यास' पोर्ट्रेड ऑफ ए लेडी' का अनुवाद खूब सराहा गया। 'कलीसा में कत्ल' शीर्षक उन्होंने मर्डर इन द कैथेड्रल का अनुवाद किया। इस दृष्टि से 'तलाश', 'आदमी का मुकद्दर' और 'आल्प्स' के गीत भी उल्लेखनीय हैं।

दरअसल, कुर्रतुल ऐन हैदर एक ऐसी लेखिका थी जिनके साहित्यिक योगदान की चर्चा किए बिना उर्दू उपन्यास की बात पूरी नहीं हो सकती। उर्दू उपन्यास की उम्र तकरीबन 175 साल मानी जाती है और अंतिम साठ सालों में ऐनी आपा इस विधा पर हावी रहीं। वे उन साहित्यकारों में से ही जिनके योगदान से उर्दू कथा साहित्य अपना मौलिक अस्तित्व बनाए रखने में समर्थ हुआ। ऐसी ऐन आपा पिछले करीब तीस साल से तब बेहद खीजने लगतीं जब उनके कालजयी उपन्यास 'आग का दरिया' के बारे में बात छेड़ी जाती– 'अरे, क्या आप लोगों ने 'आग का दरिया' के अलावा मेरा लिखा कुछ पढ़ा ही नहीं! 'कहीं न कहीं' उन्हें इस बात से चिढ़ होने लगी थी कि 'आग का दरिया' की प्रसिद्धि के आगे उनकी अन्य रचनाओं पर ईमानदारी से चर्चा नहीं होती और उनके पूरे साहित्य पर नजर डालने वाले भी 'आग का दरिया' में बहते हुए ही उनके लेखन के बारे में राय बनाते थे। अपनी ही कृति से उनकी ऐसी खीझ को सामने वाला मुश्किल से ही समझ पाता था।

अंतिम दिनों में ऐनी आपा लोगों से बहुत कम मिलने लगी थीं। उनकी शिकायत थी कि उनसे बात करके जाने वाले लोग उनके साक्षात्कार के नाम पर वह सब कुछ लिख देते हैं, जो उन्होंने कहा ही नहीं और लोगों के पास उनसे 'आग का दरिया' के अलावा बात करने को कुछ होता ही नहीं।

अपने जैसे मिजाज का इंसान शायद ही मिल पाए, यह सोचकर इस अदीब ऐन आपा ने उम्र भर शादी नहीं कीं। वह बेहतरीन इंसान तो थीं ही, इंसानियत को अपने लेखन में बराबर तरजीह भी देती रहीं। उनके लेखन का स्तर इसी बात से आंका जा सकता है कि उर्दू मं फिराक गोरखपुरी के बाद सन् 1969 से 1983 के बीच सर्वोत्तम साहित्यिक योगदान के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार से उन्हीं को नवाजा गया था। सन् 1975 में सुश्री हैदर सेंसर बोर्ड की सलाहकार तथा सात साल बाद वह अलीगढ़ विश्वविद्यालय की विजिटिंग प्रोफेसर भी रहीं। उनके उपन्यास 'आखिरी शब के हमसफर' का अनुवाद कथाकार असगर वजाहत ने हिंदी में 'निशांत के सहयात्री' शीर्षक से किया जिसे साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। फिर 1969 में उन्हें गालिब अवार्ड और सोवियत लैंड अवार्ड प्रदान किया गया।

मुंबई प्रवास के दौरान ऐन आपा 'इलस्ट्रेड वीकली ऑफ इंडिया' की साहित्य संपादक थीं तथा उस अवधि में उन्होंने कई वृत्तचित्रों की पटकथा भी लिखीं। उन्होंने एक हिट फिल्म की कहानी भी लिखी वह थी जॉय

मुखर्जी अभिनीत 'एक मुसाफिर एक हसीना'। लेकिन इसके बाद उन्होंने फिल्म लेखन में हाथ नहीं आजमाया। मुंबुई प्रवास के दौरान फिल्मकार और पत्रकार ख्वाजा अहमद अब्बास से उनकी गहरी मित्रता हो गई थी जिससे लोगों को यह लगने लगा था कि यह मित्रता शादी में परिणत हो जाएगी, लेकिन ऐन आपा का इस रिश्ते से दिल उचट गया और वह मुंबई छोड़ अलीगढ़ चली आई। फिर वह जीवनभर अविवाहिता ही रह गई और 'आग का दरिया' की यह लेखिका अकेलेपन के गम के दरिया में ही गोते लगाते रही।

अस्सी वर्ष की उम्र में नोयडा (उत्तर-प्रदेश) के कैलाश अस्पताल में जब 21 अगस्त 2007 को ऐन आपा ने आखिरी सांस ली, उस समय सुबह के तीन बजे थे। सूरज तो उस दिन भी उसी तरह उगा, किंतु रोज की तरह वह प्रसन्नचित्त नहीं, बल्कि उदास था, क्योंकि उर्दू अदब की एक बड़ी हस्ती अस्त हो चुकी थी। इस्मत चुगताई, बेदी और मंटो की विरासत को संभालने वाली अपनी तरह की उर्दू अदब इस अंतिम लेखिका ऐन आपा को तहेदिल से हमारी श्रद्धांजलि।

❖❖❖

रामवृक्ष 'बेनीपुरी' :
जिसने सोने की मूरतें बनाकर माटी के मोल बेचा

राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने रामवृक्ष 'बेनीपुरी' की लेखनी को जादू की छड़ी बताते हुए कहा था–"लोग माटी की मूरतें बनाकर सोने के भाव बेचते हैं, पर बेनीपुरी सोने की मूरतें बनाकर माटी के भाव बेच रहे हैं।.. यह लेखनी है या जादू की छड़ी आपके हाथों में।" वस्तुतः बहुमुखी प्रतिभा के धनी बेनीपुरी जी क़लम के एक ऐसे जादूगर थे जिनकी कृतियाँ विश्व के साहित्यिक मानदण्ड पर कुचन रेखा खीचने वाली मानक साबित हुई हैं और वे एक अन्यतम शब्दशिल्पी के रूप में परिलक्षित होते हैं। इसी प्रकार बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक शब्दचित्रकार के रूप में बेनीपुरी जी के व्यक्तित्व के बारे में कहा है– "हिंदी का सर्वश्रेष्ठ शब्द चित्रकार कौन? निस्संदेह बेनीपुरी।" शब्दचित्र के रूप में बेनीपुरी जी की बहुचर्चित एवं प्रख्यात कृतियाँ हैं 'लाल तारा' और 'माटी की मूरतें' जिनमें उनका सफल और सार्थक व्यक्तित्व उभरकर आया है। शब्दकाल की दृष्टि से उनके शब्दचित्र महत्त्वपूर्ण हैं। जहाँ तक बेनीपूरी जी के उपन्यास का संबंध है सन् 1930-32 ई० की अवधि में 'पतितों के देश में' और सन् 1940 ई० में 'क़ैदी की पत्नी' दो ऐसे उपन्यास आए जिनमें उनकी कला के दर्शन तो होते ही हैं, वे पाठक को भी काफ़ी प्रभावित करते हैं। उनके नाटक रंगमंच के लिए बहुत उपयोगी हैं तथा नाट्यकला एवं अध्ययनशीलता की दृष्टि से उपयुक्त भी हैं। बेनीपुरी जी ने संस्मरण तथा जीवनी भी लिखी है। संपूर्ण क्रांति का नारा देने वाले सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता जय प्रकाश नारायण के जीवन पर आधारित बेनीपुरी जी के 'जय प्रकाश' नाम्नी कृति में जे०पी० के जीवन-चरित्र को जिस प्रकार उभारा गया है, वह प्रशंसनीय है। कार्लमार्क्स के जीवन का जहाँ उन्होंने बड़ी सरसता, रोचकता एवं सफलता से प्रस्तुत किया है, वहीं विश्व की श्रेष्ठतम समाजवादी महिला 'रोजा लक्जेम्बर्ग' का चित्रांकन करने में बेनीपुरी जी की लेखनी अत्यधिक सफल हो पाई है।

बेनीपुरी जी के ललित निबंधों में 'वंदेवाणी विनायकौ' उल्लेखनीय है जिसमें उनके भावायोग का अधिक्य एवं शैली का चटपटापन देखा जा सकता है। बेनीपुरी जी के व्यक्तित्व को 'चिता के फूल' में सफल कथाकार के रूप में देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'सियार पांड़े' एवं 'बगुला भगत'

नामक पुस्तकें लिखकर बेनीपुरी जी ने बाल साहित्य को समृद्ध किया है। उन्होंने यात्रा-वृत्तांत भी लिखा। युरोप की यात्रा के विविध अनुभवों का चित्रण उन्होंने डायरी शैली में किया है, जो 'पैरों में पंख बाँधकर' के नाम से चर्चित हुआ।

बेनीपुरी जी एक प्रखर एवं सशक्त पत्रकार भी रहे। 'तरूण भारत', 'किसान मित्र', 'बालक', 'युवक', 'लोक संग्रह', 'कर्मवीर', 'योगी', 'जनता', 'जन वाणी', 'चुन्नू-मुन्नू', 'तूफ़ान', 'हिमालय' तथा 'नई धारा' जैसी पत्र-पत्रिकाओं का उन्होंने सफल संपादन किया। उनकी संपादकीय टिप्पणी ज्ञानवर्द्धक, प्रभावोत्पादक तथा रोचक तो होती ही थी, उनके अग्रलेख भी पठनीय, मानवीय एवं संग्रहणीय होते थे। कहा जाता है कि 'नई धारा' उनकी मानस पुत्री पत्रिका रही जो आज भी पटना से प्रकाशित हो रही है। पत्रकारिता-कला उनकी यथार्थता, अनूठी और अनोखी थी। बेनीपुरी जी ने 'बिहारी सतसई की सुबोध टीका' एवं 'विद्यापति पदावली' का भी संपादन किया जिसमें सफल संपादक के रूप में आपका व्यक्तित्व बहुचर्चित रहा है। हिंदी के साथ-साथ उन्होंने मैथिली साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'सीताक माय' उनका ख्यातिलब्ध मेथिली नाटक है जो स्वोक्ति नाटक अथवा एक पात्रीय नाटक (डवदवकतंड) का उत्कृष्टतम निदर्शन है। मैथिली के साथ ही बेनीपुरी जी ने बंगला और उर्दू से रूपांतर कर एक सफल रूपांतरकार एवं अनुवादक के रूप में भी साहित्य की उल्लेखनीय सेवा की है।

बिहार राज्य के मुज़फ़्फ़रपुर ज़िलांतर्गत बेनीपुर नामक गाँव में 23 दिसंबर, 1899 ई० को एक साधारण किसान परिवार में जन्मे रामवृक्ष 'बेनीपुरी' के जीवन में साहित्य और राजनीति का मणिकांचन योग मिलता है। देश के स्वतंत्रता-आंदोलन में बेनीपुरी जी ने सक्रिय भूमिका अदा की। सन् 1930 ई० से 1945 ई० तक की अवधि में स्वतंत्रता-संग्राम के क्रम में उन्हें सब मिलाकर क़रीब दस वर्षों तक जेल की हवा खानी पड़ी। काँग्रेस के सक्रिय सदस्य एवं निष्ठावान स्वतंत्रता-सेनानी के रूप में उन्होंने सफलतापूर्वक कार्य किया। बिहार सोशलिष्ट पार्टी के पार्लियामेंटरी बोर्ड के आप अध्यक्ष भी रहे जिस पद पर रहकर आपने पार्टी का महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न किया। सन् 1952 ई० एवं 1957 ई० के आम चुनाव में विजय हासिल कर बेनीपुरी जी साहित्य सम्मेलन, पटना के प्रधानमंत्री एवं सभापति के पद को सुशोभित किया। इस प्रकार देखा जाए, तो साहित्य के क्षेत्र में अपनी एक अलग पहचान बनाने के साथ-साथ एक कुशल एवं धुरंधर राजनीतिज्ञ के रूप में भी

बेनीपुरी जी का व्यक्तित्व बहुत चर्चित रहा। बाद के दिनों में वे पक्षाघात से पीड़ित हो गए और 7 सितंबर, 1968 ई० को उनका निधन मुज़फ़्फ़रपुर में हो गया। ब्रजकिशोर नारायण ने अपनी इन पंक्तियों से उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की थी--

महीनी के सुख में मसक्कत लबालब,
मुहब्बत के मयख़ाने में आइएगा।
तो रंगों का आलिम कमल जिसकी ज़ालिम,
ये तस्वीर प्यारी वहीं पाइएगा।
क़हर बरपाइएगा ज़हर दीजिएगा,
मगर क़हक़हों से कहाँ जाइएगा?
अदब का अजब जादूगर बेनीपुरी,
इसे जग में फिर कहाँ पाइएगा।

बेनीपुरी जी बिहार के एक ऐसे कवि थे जिन्होंने अपनी पूरी प्रतिबद्धता के साथ बेहद देशज बिंबों में लोक का अत्यंत वास्तविक किंतु कलात्मक चित्रण अपनी कविताओं में किया। 'रोपनी' उनकी ऐसी ही अस्तित्वगत जिजीविषा का समूहगान है, जिसमें उन्होंने अपनी मौत पर मर्सिया नहीं, फिर से खड़े होने और लड़ने का हौसला बुलंद किया है। असली स्वाधीनता और श्रम गौरव के इस शब्द चित्र 'रोपनी' में कवि बेनीपुरी जी ने 'माल्थस के भूत' को भगाकर जनसंख्या विस्फोट पर स्यापा नहीं उसके बेहतर इस्तेमाल की सलाह दी है और तीसरी दुनिया की विशाल आबादी को कबाड़ घोषित कर देने के विकसित देशों के कुचक्रका पर्दाफ़ाश किया है। आज के भूमंडलीकरण, बाज़ारवाद और उदारीकरण के दौरान, जब अन्य विकासशील देशों के साथ भारत के किसान भी मौत के दौर से गुज़र रहे हैं, बेनीपुरी जी की 'रोपनी' के समूहगान उदारीकरण की प्रक्रिया का प्रतिरोध और प्रतिकार करते हुए किसानों के सामूहिक जीवन का बहुत अच्छा चित्रण प्रस्तुत करते हैं। आप देखें उसकी कुछ पंक्तियों को जिसमें बीयरा उपारने को बीहन के खेत की और जाती औरतों के एक झुंड से ये मीठे स्वर सुनाई देते हैं–

कहंमा लगइहों मैं जूही–चमेली,
कहंमा लगइहों अनार हे...
अनार के गछिया।।
दुअरे लगइहों जूही–चमेली

अँगने लगइहों अनार हे
नारियर के गछिया।।
देवरा छैला चीखे जूही-चमेली,
सइंया रंगीला अनार हे
नारियर के गछिया।।

बेनीपुरी जी 'रोपनी' में उधर बीहन के खेत में औरतों के झूमर के स्वर सुनाई दे रहे हैं तो दूसरी ओर हलवाओं द्वारा रोपनी के खेत में बिरहा की टेर भी मनभावन लग रहा है, देखें–

आम के गाछ कोइलिया कुहके
बनवा कूहके मोर।
मोरा अँगना कुहके सोना के चिरइया,
सुन हुलसे जिया मोर।

बेनीपुरी जी समाजवादी विचारधारा के पोषक थे। 'प्रताप' और 'प्रभा' में प्रकाशित रूस की क्रांति की ख़बर संबंधी लेख से उनकी आँखें खुलीं। उसके बाद ही उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की जिसमें धनी-ग़रीब के बीच भेद-भाव न हो और योग्यता को ही सबसे क़ीमती चीज़ नहीं समझी जाती हो।

बेनीपुरी जी ने स्वयं कहा है कि सन् 1921 ई० के असहयोग आंदोलन के बाद भारत के कुछ उत्साही नौजवानों में से एक शौकत उसमानी जब से स्वदेश लौटे, तो उन्होंने रूस की यात्रा पर एक पुस्तक लिखी जो 'प्रताप' पत्रिका के कार्यालय से प्रकाशित हुई जिसे पढ़कर बेनीपुरी जी स्वयं रूस को इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग समझने लगे और वहाँ लेनिन और ट्राटस्की दोनों नेताओं को ईश्वर का अवतार। इन दोनों की जीवनियाँ पढ़कर बेनीपुरी जी अत्यधिक प्रभावित हुए और समाजवाद के प्रति इनका रुझान और बढ़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् 1929 ई० में उन्होंने 'युवक' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया जिसके प्रवेशांक में ही उन्होंने समाजवाद पर एक लेख छापा और उसके बाद तो उसमें समाजवाद संबंधी लेख लगातार छपते रहे। फिर बिहार सोशलिस्ट पार्टी के गठन के बाद तो मानो 'युवक' पत्रिका समाजवादियों की मुख पत्रिका हो गयी। बेनीपुरी जी 'युवक' और पार्टी में बड़े जोश-ख़रोश के साथ लगे ही थे कि सरकार उनके पीछे पड़ गई। 'युवक' के प्रथम अंक ज़ब्त कर उनपर राजद्रोह के 124 दफ़ा, के अंतर्गत सरकार ने वारंट निकाला और इस मुक़दमें के तहत उन्हें एक वर्ष की सख्त

क़ैद और 250 रुपये का जुर्माना की सज़ा हुई। पटना के नामी-गिरामी अधिवक्ता बलदेव सहाय ने न केवल मुक़दमें की पैरवी की, बल्कि मुक़दमे का सारा भार अपने ऊपर लेकर काफ़ी ख़र्च किया। मगर उनके सारे प्रयासों के बावजूद उच्च न्यायालय ने बेनीपुरी जी की सज़ा बहाल रखी। उसी समय कर्णमूल सन्निपात की बीमारी से ग्रस्त हो जाने के कारण वे काफ़ी अस्वस्थ रहने लगे। मुज़फ़्फ़रपुर के अस्पताल में जब बेनीपुरी जी भर्ती थे उन्हीं दिनों लार्ड विलिंगटन की सरकार ने गाँधी-इरविन समझौते को रद्दी की टोकरी में फेंककर एक ही सख़्त तार में काँग्रेस के संगठन को चूर-चूर कर देने का प्रयास किया। एक ही साथ एक दर्जन के लगभग अध्यादेश जारी कर काँग्रस कमिटियों को ग़ैरक़ानूनी क़रार दिया गया। किंतु बेनीपुरी जी अस्पताल के बिस्तर पर पड़े सरकार के कार्यक्रमों को विफल करने की तरक़ीब ढूँढ़ते रहे। उनके बिस्तर के नीचे चारों ओर कंबल लगाकर रातभर साइक्लोस्टाइल चलती रही और इस प्रकार उन्होंने काँग्रेस को ज़िंदा रखा।

❖❖❖

विष्णु प्रभाकर :
'आवारा-मसीहा' जिनका पर्याय बना

हिंदी के गद्य साहित्य की लगभग हर विधा को समृद्ध करने वाले वयोवृद्ध साहित्यकार विष्णु प्रभाकर जी को सवाधिक लोकप्रियता शरतचंद्र चटोपाध्याय के जीवन पर आधारित उनकी लिखी जीवनी 'आवारा-मसीहा' से मिली, जो 1974 में प्रकाशित हुई। शरतचंद्र के व्यक्तित्व-कृतित्व पर रोचक रचनाएँ प्रस्तुत कर विष्णु प्रभाकर जी ने हिंदी साहित्य की जीवनी विधा को 'आवारा-मसीहा' से न केवल महत्त्वपूर्ण जीवनियाँ-अमृतराय लिखित प्रेमचंद की जीवनी 'कलम का सिपाही' और डॉ॰ राम विलास शर्मा लिखिति 'निराली की साहित्य साधाना, भाग-एक' प्रकाशित हुई थी। 'आवारा-मसीहा' लिखने के लिए उन्हें बारह साल बाहर रहना पड़ा।

21 जून, 1912 में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मुज्जफ्फरनगर जिले के मीरपुर गांव में जन्में विष्णु प्रभाकर ने बचपन में ही हरियाणा के हिसार में आकर यहाँ के चंदूलाल एंग्लो वैदिक हाई स्कूल में नामांकन कराया और 1929 में मैट्रीक की परीक्षा पास करने के बाद मई 1929 ये जून 1944 तक गवर्नमेंट कैटेल फार्म में उन्होंने 'हिंदी प्रभाकर', 'संस्कृत विशारद' और स्नातक कला की डिग्री प्राप्त की। करीब पंद्रह वर्षों तक नौकरी करने के बाद विष्णु प्रभाकर जी सन् 1944 में ही हिसार छोड़कर दिल्ली चले आए और यहाँ आकर 'अखिल भारतीय आयुर्वेद महामंडल' में लेखाकार के पद पद दो वर्षों तक नौकरी करने के बाद वे आकाशवाणी केंद्र पर बतौर नाटक निदेशक काम करने लगे। मार्च, 1957 में निदेशक काम करने लगे। मार्च, 1957 में निदेशक के पद से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और स्वतंत्र लेखन-कार्य में जुट गये यह जानते हुए भी कि हिंदी में सिर्फ लेखन के बल पर जीवन-यापन काफी कठिन है।

हालांकि विष्णु प्रभाकर जी ने हिसार में रहने की अवधि से ही लिखना प्रारंभ कर दिया था और इनकी पहली रचना 'बाल-सखा' में पत्र के तौर पर छपी थी, किंतु लाहौर से प्रकाशित 'हिंदी मिलाप' के नवंबर, 1931 अंक में इनकी पहली कहानी 'दिवाली के दिन' प्रकाशित हुई और नियमित लेखन सन् 1934 ये शुरू हुआ और तब से प्रभाकर जी लगातार लिखते रहे।

अब तक इनके चौबीस कहानी संग्रह, बारह नाटर, सत्रह जीवनी एवं संस्मरण, दस बाल एकांकी, एक बाल नाटक, तीन बाल जीवनियाँ, तेरह बाल कहानी संग्रह, दो लघु तथा संग्रह और उनतीस विविध पुस्तकें प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अलावा इनके आठ उपन्यास, तीन खंडों में संपूर्ण निबंध, छह खंडों में संपूर्ण नाटक और दो खंडों में संपूर्ण संस्मरण छप चुके हैं।

इस प्रकार विष्णु प्रभाकर के रचना संसार पर जब हमारी नजर जाती है, तो हम पाते हैं कि उसका दायरा बहुत व्यापक है। 'आवारा-मसीहा' के अतिरिक्त इनकी जिन कृतियों को लोगों ने सरहा उनमें 'अर्धनारीश्वर', 'सत्ता के आर-पार', 'एक आसमान के नीचे', 'धरती अब भी घूम रही है', 'पुल टूटने से पहले', 'निशिकांत', 'जिंदगी एक रिहर्सल', एक और कुंती', 'पाप का घड़ा', 'अमर शहीद भगत सिंह' 'कोई तो', 'गांधार की भिक्षुणी', 'हंसते निर्झर दहकती भट्टी', 'हमसफर मिलते रहे', 'स्वराज्य की कहानी', 'पंखहीन', 'मुक्त गगन में' आदि प्रमुख हैं। दिल्ली प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अध्यक्ष रह चुके विष्णु प्रभाकर जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार, पद्म अलंकरण सहित अनेक पुरस्कार और सम्मानों से नवाजा गया। विष्णु जी के महाप्रयाण के कुछ ही माह पूर्व सहित्यिक मासिक पत्रिका 'पाखी' ने प्रथम 'शब्द साधक शिखर सम्मान' प्रदान करने के साथ पत्रिका के प्रवेशांक में साहित्य के इस अप्रतिम साधाके अवदान पर विशेष खंड प्रकाशित कर जीते जी इनकी महत्ता रेखांकित की थी।

'जीने के लिए सौ वर्ष की उम्र छोटी है' कहने वाले 97 वर्षीय विष्णु प्रभाकर का लंबी बीमारी के बाद विगत 10 अप्रैल, 2009 को शुक्रवार की रात एक बजे, नई दिल्ली के एक निजी अस्पताल में निधन हो गया। साहित्य को तरोताजा करने वाले साहित्यकार विष्णु प्रभाकर जी भले ही आज हमारे बीच नहीं रहे, पर लोगों के सुख-दु:ख में झांकती उनकी 'पंखहीन' जैसी कृतियाँ हमेशा साथ रहेंगी। वे अपने पीछे दो पुत्र और दो पुत्रियों के अतिरिक्त हजारों-हजार साहित्य-बिरादरी को छोड़ गए। उनकी पत्नी का निध न काफी पहले हो चुका था। विष्णु प्रभाकर के पुत्र अतुल प्रभाकर ने बताया कि उनके पिता विष्णु प्रभाकर ने अपनी वसीयत में अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) नई दिल्ली को अंगदान करने की इच्छा व्यक्त की थी। इसलिए उनका अंतिम संस्कार नहीं कर उनके पार्थिव शरीर को एम्स को सौंप दिया गया था।

दरअसल, हर व्यक्ति अपने पीछे एक परंपरा छोड़ जाता है। विष्णु जी ने भी अपने पीछे एक स्वच्छ और आदर्श परंपरा छोड़ी है। सरल-सहज

स्वभाव के विष्णु जी न केवल कृति 'आवारा मसीहा' के लिए बल्कि एक साहित्यिक मसीहा के रूप में सदैव याद किए जाएँगे, क्योंकि उन्होंने लोगों का अपार स्नेह अर्जित किया और बदले अपार स्नेह अर्जित किया और बदले में अपार स्नेह दिया। मैं भी उन सौभाग्यशाली लोगों में हूँ जिसे उनसे मिलने और उन्हें सुनने का मौका अनेक बार मिला। कलम के मजदूर की तरह सदैव लिखने वाले विष्णु प्रभाकर जी के देहावसान के बाद आज जब मैं उनका संस्मरण लिखने बैठा हूँ तो मेरी आँखे गिली हो चुकी है और स्नेह के दो आँसू कागज के पन्नों पर टपक पड़े हैं। दिल्ली में रहने का मुझे यह लाभ तो अवश्य मिला कि समय-समय पर उनके मधुर बचन सुनने को मिले और आज जब वे हमारे बीच नहीं हैं तो उनके न रहने पर एक रिक्तता का एहसास हो रहा है। ऐसा लगता है कि हमारे बीच से कोई आडंबरहीन बुजुर्ग व्यक्तित्व हमारी आँखों से ओझल हो गया सदा-सदा के लिए। सच मानिए, सरलता और सहजता ही उनका सबसे बड़ा गुण था और उनकी एक और सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह प्रत्येक प्रश्न पर सहज भाव से विचार करते थे। उन्होंने एक गरिमामय जीवन जिया। दिल्ली का कॉफी हाउस उनकी कर्मस्थली थी जहाँ वे प्रतिदिन शाम को पहुँच जाते थे। उनका न तो कोई अपना दल और न ही कोई गुट था, इसलिए वे वाद-विवाद से परे रहे। गाँधीवादी विचारधारा के पोषक विष्णु जी आयै समाज में आस्था रखते थे, पर आर्य समाजी नहीं थे। व्र प्रगतिशील विचारों से जुड़े रहे।

उनके दरवाजे हमेशा सबके लिए खुले रहे, क्योंकि वे किसी खेमे से बंधे नहीं। उनके पास प्रशंसकों के जो भी पत्र आते थे, वह उनका उत्तर अवश्य देते थे। उनकी बहुत-सी शिकायतें रहती थी, पर उन्हें वे कभी व्यक्त नहीं करते थे। अंतिम दिनों से कुछ वर्ष पहले विष्णु जी किसी माफिया द्वारा अपना मकान हथियाए जाने को लेकर कुछ परेशान रहे, फिर भी उनके चेहरे पर कभी कटुता नहीं आई। मगर इस मामले को पूर्व-साहित्यिकार सांसद स्व. शंकरदयाल सिंह ने राज्य सभा में उठाकर तत्कालीन गृहमंत्री का जब ध्यान आकृष्ट किया, तो सभापति ने उन्हें आदेश दिया था कि वे पुलिस के उच्चाधिकारी के माध्यम से वस्तुस्थिति का पता लगाएँ और इसकी रपट संसद में प्रस्तुत करें। इस पर अधिकारी जब विष्णु जी के घर गए और उनसे पूछा कि उन्हें क्या कष्ट है, तो उन्होंने अधिकारी से विन्रमतापूर्वक कह दिया कि उन्हें न कोई कष्ट है और न कोई शिकायत। इस तरह मामला संसद में आया और समाप्त हो गया। हालांकि बाद में उक्त माफिया ने विष्णु जी का

मकान खाली कर दिया। यह बात सही है कि उनका शुरूआती जीवन कठिन था और उन्होंने गरीबी और अभाव में अपनी पढ़ाई-लिखाई की, किंतु इसके बावजूद उनमें न तो कड़वाहट आई और न ही असुरक्षा की भावना। आखिर तभी तो माफिया द्वारा उनके मकान पर कब्जा किए जाने के बावजूद पुलिस अधिकारी से वह शिकायत नहीं कर पाए। वह उनके सरल और सहज स्वभाव का उत्कृष्ट उदाहरण है।

विष्णु प्रभाकर जी का मानन था कि भारतीय संस्कृति अपने नाना रूपों में पूरे देश में व्याप्त है। एक ओर जहाँ प्राचीन काल में यहाँ ऋषियों-मुनियों की मंत्रध्वनि गूँजी, वहीं दूसरी ओर मध्यकाल में वही ध्वनि स्थापत्य और मूर्तिकला के रूप में विकसित हुई वास्तव में प्रकृति ही प्रेरणा रही है इन कलाओं की। हिमालय की अपनी यात्राओं में अनेक दृश्य विष्णु प्रभाकर जी ने देखे। सन् 1966 में जब चंबल के डाकुओं ने आत्मसमर्पण किया था, तो उस समय विष्णु प्रभाकर जी जब उनके साथ सात दिन जेल में रहकर चंबल के बीहड़ों में घूमने निकले थे, तो उन्हें वहाँ वीराने में एक अद्भूत शिव मंदिर के दर्शन के दर्शन हुए। विष्णु जी अपने एक निबंध में लिखते हैं कि सास-बहू के अभिलेख से ऐसा मालूम होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास चंबल घाटी में कच्छपघात राजा 'कीर्तिराज' ने सुहानियाँ में एक शिव मंदिर का निर्माण कराया था। अपनी रानी ककनावती की इच्छा से। मुरैना से तकरीबन 35 किलोमीटर की दूरी पर आसन नदी के पश्चिमी किनारे बसे सुहानियाँ गांव में स्थित इस ककनमठ मंदिर के गर्भगृह का वर्णन करते हुए विष्णु जी लिखते हैं कि इसकी दीवारें अंदर से साधारण होकर भी बाहर से नाना रूप में मूर्तियों और अलंकृत पट्टिकाओं से सुसज्जित है। यह मंदिर सिंहपानीय कला और स्थापत्य की श्रेष्ठता का प्रमाण है।

ईश्वर के बारे में विष्णु प्रभाकर जी का मत रहा कि ईश्वर अगर है, तो वह तो एक-सा ही होना चाहिए- ईश्वर अलग-अलग कैसे हो सकता है - चाहे वह हिंदू का भगवान हो, मुसलमान का अल्लाह हो या फिर ईसाई का गॉड हो। इस संदर्भ में विष्णु जी रामकृष्ण परमहंस की एक कथा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि रामकृष्ण जी के पास एक शिष्य आया, तो उसने कहा कि 'गुरुदेव! आज आपके बगीचे में हमने हरे रंग का गिरगिट देखा, दूसरा शिष्य आया, तो उसने कहा कि मैंने लाल रंग का गिरगिट देखा, तीसरा शिष्य आया तो उसने कहा कि उसने पीले रंग का गिरगिट देखा, किसी ने नीले रंग का गिरगिट देखा तो इतने सारे गिरगिट यहाँ पर कैसे आ

गए। तो रामकृष्ण परमहंस ने कहा कि गिरगिट तो एक ही है, लेकिन वह रंग बदलता है, इसी तरह ईश्वर तो एक ही हैं, वह रंग-रूप बदल लेता है। यदि हम इस सत्य को मान लें तो झगड़े-फसाद का, दंगों का कोई कारण ही न रह जाए। साहित्य के संबंध में विष्णु जी का मत था कि शब्द जब सम से मिलता है तो संगीत बन जाता है और शब्द जब सह के साथ मिलता है तो साहित्य बना जाता है। तो शब्द तो कहीं जाने वाला है नहीं। सह की भावना, सम की भावना तो बराबर होगी।

गौर वर्ण, स्वस्थ काठी पर सफेद कुर्ता और पायजामा के साथ सिर पर सदैव गांधी टोपी धारण करने वाले सुदर्शन व्यक्तित्व के विष्णु जी में एक अजीब किस्म की तेजोदीप्ती थी। सरल, सहज किंतु विलक्षण व्यक्तित्व के विष्णु जी पत्र-लेखन कला के अवसान के वक्त भी रोज लगभग साठ पत्र बोलकर लिखवाते थे। खुद न लिख पाने की अवस्था में भी पत्रों का उत्तर देना उनके लिए मानसिक विवशता थी। विष्णु जी जिज्ञासु तो थे ही, अपनी जानकारियों को बाँटना भी जानते थे। साहित्य के स्वरूप के बारे में उन्होंने एक पंक्ति में कहा था कि अच्छा आदमी ही अच्छा साहित्यकार हो सकता है। उनके द्वारा पद्मभूषण लौटाने को घोषणा करना एक बात को स्पष्ट करती ही है कि अपने साहित्यक कद को लेकर न तो उन्हें कोई गुमान था और न कोई गलतफहमी। देश के सर्वाधिक लोकप्रिय राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने उनसे व्यक्तिगत रूप से माफी माँगी थी।

विष्णु जी अपने जीवन में दो काम और करना चाहते थे जो वह कर न सके। एक तो अपनी आत्मकथा का चौथा खंड लिखना और दूसरा उन पत्रों का संकलन, जो उन्हें दुनिया भर में फैले उनके पाठकों ने समय-समय पर लिखे। काश! जिंदगी ने उन्हें थोड़ा और वक्त दिया होता, तो उनकी यह अभिलाषा भी पूरी हो गई होती।

विष्णु प्रभाकर जी की हिंदी के महान् गद्यशिल्पियां की उस पीढ़ी का आखिरी उत्तराधिकारी माना जा सकती है जिसने आजादी के पहले लिखना शुरू किया और जिनके लेखन से आजादी के आंदोलन के आदर्श और आजाद भारत के यथार्थ की धूप-छांव का मेल है। कहना नहीं होगा कि विष्णु प्रभाकर जी हिंदी साहित्य के एक गौरवशाली युग के प्रतिनिधि थे और उनका लेखन उनके और उनके युग के रचनात्मक आदर्शों को हमे याद दिलाता रहेगा, क्योंकि उनका रचनाधर्म अत्यंत अविस्मरणीय है। अतएव विष्णु प्रभाकर जी का नाम साहित्यकाश में ध्रुवतारे की तरह मानिंद रहेगा।

अमीर खुसरा :
जो खड़ी बोली हिंदी के प्रथम महाकवि थे

हिंदुस्तान और हिंदवी के रंग में पूरी तरह रंगे अमीर खुसरो खड़ी बोली हिंदी के प्रथम महाकवि थे। उन्होंने जिस मुक्त कंठ से हिंदी का यश-गान किया है, उस पर न केवल भाषियों को बल्कि पूरे हिंदुस्तान को गर्व होना चाहिए। सच तो यह है कि वे जितना गर्व अपनी फारसी भाषा पर करते थे, उतना ही हिंदी पर। उन्होंने अपनी गद्य और पद्य रचनाओं में अपनी मातृभाषा को 'हिंदवी' कहा है। 'मसनवी' नामक अपनी कृति में अमीर खुसरो ने अपने समय की 12 भारतीय भाषाओं की सूची प्रस्तुत की है। वे इस प्रकार है:- सिंघी, लाहौरी, कश्मीरी, कन्नड़, तिलगी (तेलुगु), गुजर (गुजराती), गोरी (पहाड़ी), धुरसमुद्री (तमिल), माबरी (घाटी), बंगाली, अवधा(अवधी) तथा देहलवी। इन सभी भाषाओं को वे हिंदवी कहते हैं और बारहवीं श्रेणी की देहलवी भाषा को वे दिल्ली और उसके आसपास की भाषा बताते हैं। दिल्ली के आसपास का आज जो क्षेत्र राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र कहा जाता है खुसरो के समय उर्दू भी इसी क्षेत्र से विकसित हो रही थी जो फारसी से मुक्त होकर पलटनों के बाजार की भाषा का रूप ले रही थी। खुसरो की 'हिंदवी' भी इसी क्षेत्र में अपना रूप पा रही ब्रजभाषा भी 'भारवा' कहा जाता था। खुसरों के कुछ पद 'भारवा' में भी रचित है।

'हिंदवी' किस प्रकार अमीर खुसरों की मातृभाषा बनी, इसे जानने के लिए उनकी पारिवारकि पृष्ठभूमि की जानकारी जरूरी है। अमीर खुसरों के पिता अमीर सैफुद्दीन एक तुर्की कबीले के सरदार थे जो चंगेजी युद्धों के दौरान हिंदुस्तान आ गए थे और उत्तरप्रदेश में गंगा के तट पर बसे एटा जिले के पटियाली नामक कस्बे में बस गए थे। यह दिल्ली से अधिक दूरी पर नहीं है। यही एटाके पटियाली में अमीर खुसरो का जन्म सन् 1253 में हुआ था। बचपन से ही वे बड़े में धावी थे। इसी वजह से उनके पिता सैफुद्दीन ने उनकी बेहतर शिक्षा-दीक्षा के लिए उन्हें दिल्ली ले जाकर अच्छे शिक्षकों की हवाले कर दिया और तत्कालीन प्रसिद्ध सूफी संत हजरत निजामुद्दीन औलिया की शिष्यता में रख दिया। तब से जीवन पर्यन्त अमीर खुसरों उनके शिष्य रहकर 50 वर्ष की उम्र तक पूरी तरह उन्हीं को समर्पित हो गए।

अमीर खुसरों महज आठ वर्ष के ही थे तब उनकि पिता की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात उनकी माता उनके नाना एमानुमुल्क के यहाँ ले

आयी। उनके नाना का घर हिंदुस्तानी सभ्यता और संस्कृति का केंद्र था। ऐसे उदार वातावरण में अमीर खुसरो का कैशेर्य परवान चढ़ा किंतु सन् 1323 ई0 में खुसरों के गुरु ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया के निधन के पश्चात् अमीर खुसरों दीवानों की तरह अपने गुरु को याद करते हुए दिल्ली चले आए हो गए। गुरु की समाधि पर झाड़ आदि लगाकर वहीं के होकर रहे गए। गुरु के प्रति श्रद्वा-प्रेम व्यक्त करते हुए उन्होंने यह दोहा लिखा।-

'गोरी सोवे सेज पर मुख पर डोर केस
चल खुसरों घर अपने रैन भई चहुँ देस'

दिल्ली के निजामुद्दीन में आज भी हजरत निजामुद्दीन औलिया के सालाना उर्स के अवसर पर कार्यक्रम की शुरुआत इसी दोह से की जाती है। गुरु से खुसरों की इतनी गादी प्रीति थी कि उनकी मृत्यु के बाद अमीर खुसरो भी कुछ ही माह तक जीवित रह सके और सन् 1325 ई में उनके देहावसान के बाद उनकी समाधि भी ख्वाजा निजामुद्दीन के पैताने ही बनाई गई। जहाँ आज भी गुरु के साथ अमीर खुसरो को भी श्रद्वांजलि दी जाती है। अपने जीवन काल अमीर खुसरों दी जाती है। अपने जीवन काल अमीर खुसरों को अपार यश, आदर सम्मान, भेंट-उपहार और उपाधियाँ मिली। मुल्कशोअरा (राष्ट्रकवि) की उपाधि से उन्हें दो बादशाहों ने अलंकृत किया था।

राष्ट्रीयता के उन्मेष के प्रथम हिंदी कवि अमीर खुसरो ने अपनी कृति नुह् सिपहर में भारत की प्रशेसा में तकरीबन 500 'काव्य-पंक्तियों की रचना की है जो प्रत्येक दृष्टि से अद्वितीय है। उन्होंने अपनी अंतरात्मा से प्यारे भारत की भूमि, यहाँ के पेड़-पौधों, फूल-पत्ती, पक्षी, रीति-रिवाज, ज्ञान, ज्ञानी पंडितों आदि की प्रशंसा खुले कंठ से अपनी कविताओं में की है। यहाँ तक कि हिंदुस्तान को वे रोम, इराक और खुरासान से भी उत्तम समझते थे। देखें उनकी कुछ पंक्तियों को-

'तरजी हे मुल्के हिंद व अवस आज हवाय खुश
बर रुम ब कर इराक व खुरासाने बर्फ बार।।'

अमीर खुसरो ने अपनी मसनवी 'नुह सिपहर' में हिंदुस्तान की प्रतिष्ठा के लिए दस तर्क प्रस्तुत किए हैं जो इस प्रकार है-

1. हिंदुस्तानी संसार की सभी भाषाएँ शुद्ध बोल सकता है, पर विदेशी भारतीय भाषा शुद्ध बोल सकता है, पर विदेशी भारतीय भाषा शुद्ध नहीं बोल सकते।
2. हिंदुस्तान में विद्या प्रत्येक देश से अधिक है।
3. प्रत्येक देश के लोग यहाँ शिक्षा के लिए आते हैं किंतु कोई ब्राह्मण

(हिंदुस्तानी) शिक्षा के लिए बाहर नहीं जाता है।
4. गणित में शून्य की खोज भारत की है।
5. 'दमना कलैला' प्राचीन हिंदुस्तान की ऐसी रचना है जिसके अनुवाद अरबी, फारसी तथा तुर्की में हुए है।
6. 'शतरंज' यहीं की देन है।
6. गणित, दमना तथा शतरंत' ये तीनों हिंदुस्तान के घर-घर केंदी प है।
8. 'गीत-संगीत' हिंदुस्तान जैसा पूरी दुनिया में नहीं है।
9. यहाँ की संगीत कला हिरण जैसे पशुओं को भी मोहित कर लेती है।
10. हिंदुस्तान का 'अमीर खुसरो' जैसा कवि संपूर्ण पूरी दुनिया में नहीं है।

अमीर खुसरो की कुल 45 कृतियाँ बताई जाती हैं, किंतु आज उनकी गद्य और पद्य की कुल 28 पुस्तकें ही उपलब्ध है। आज आवश्यकता इस बात की है कि उनकी काव्य-कृतियों का सुसिंचित पाठ प्रस्तुत कर अमीर खुसरो की प्रमाणिक 'ग्रंथावलि' प्रकाशित की जाए। इस कार्य को हिंदी फारसी और तुर्की भाषाओं के ज्ञान रखने वाले ही सही अंजाम दे सकते हैं।

संस्कृत का फलक बहुत व्यापक होता है। संस्कृति कोई स्थिर वस्तु नहीं होती। यह मावन समुदाय के अनुभवों से अपने को समृद्ध करती चलती है। यह सदा गतिमान रहती है। एक ओर जहाँ यह अपने समुदाय की परंपरा में संस्कृति करती चलती है, दूसरी ओर यह समन्वय की प्रक्रिया में जिस खूबसूर विधा को आत्मसात किया गया उसका नाम था गजल और जिस व्यक्तित्व ने इसे हिंदुस्तानी पोशक और भाषा प्रदान की उसका नाम था अमीर खुसरों। अमीर खुसरो की एक गजल देखिए-

जब यार देखा नैन भर, दिल की गई चिता उतर,
ऐसा नही कोई अजब, राखे उसे समुझाय कर।
जब आँख से ओझल भया, तड़पन लगा मेरा जिया,
हक्का इलाही क्या किया आँसू चले भर लाय कर।
तू तो हमारा यार है, तुझे पर हमारा प्यार है
तुझ दोस्ती बिसियार है, एक सब मिलो तुम भायकार

अभी खुसरों की खाँटी हिंदुस्तानी ग़जल न केवल भारतीय साहित्य की पहली गजल है बल्कि हिंदुस्तानी ग़जल की वह पहली मुख्यधारा या परंपरा है जिसे आज हिंदी गजल के नाम से जाना जाता है। अमीर खुसरों इस ग़जल परंपरा को आगे ढ़ाने वाले साहित्यकार थे-संत कबीरदास, वजही वली ढकनी, हाशिम अस्ति, मीर तकी मीन, नजीर अकबारबादी, बाबू गिरध

ारी दास, भारतेदु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, स्वामी रामतीय सनेही, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, फिराक, रामप्रसाद बिस्मिल, शमशेर बहादुर सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, दुष्यंत कुमार आदि

अमीर खुसरों की हिंदी-फारसी मिश्रित भाषा को देखें आप-

जे हाले मिसकी मकुन तगा फूल
दुष्य नैना बनाय बतियाँ।
के ताबे हिजरा न दारम् ऐ जां
ना लेहु काहे लगाय छतियाँ।

अमीर खुसरों की पहली ग़ज़ल में छंद जरुर फारसी भाषा का है किंतु उसका तुकांत पूर्णत या हिंदी का है। भाषा भी काफी साफ़ सुथरी है। जबकि अमीर खुसरों यह भाषा तेरहवीं सदी में लिख रहे थे जो अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं का संधिकाल था। उस वक्त प्राकृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होता था जबकि अमीर खुसरों ने तदभव शब्दों को ज्यादा प्रश्रय दिया है। इस परिप्रेक्ष्य में उनकी कुछ पहेलियों और मुकरियों को आप देखें-

श्याम बरन और दांत अनेक
लचकत जैस नारी।
दोनों हाथ से खुसरों खीचे
और कहें तू आ री।

उनकी मुरियां देखें-

देखन में है, बड़ उजियारी।
है सागर से आती प्यारी।
सिगरी रैन संग ले सोनी
ऐ सखि साजन ना सखि मोती।

कहने का अर्थ यह है कि अमीर खुसरों की ग़ज़लों में जो ढेढ हिंदी है वह मात्र दुर्घटना या अपवाद नहीं है। उनकी पहेलियाँ और कुकरियों में भी यही ढेढ हिंदी देखने-पढ़ने को मिलती है। जब अमीर खुसरो फारसी से हटकर अपने जबान हिंदी में बोलते हैं, तब उनकी संस्कृति और समाज दोनों झंकृत और मुखरित हो उठते है-

अम्मा मेरे बाबो को भेजो जी कि सावन आया
बेटी तेरे बाबा तो बूढ़ों कि सावन आया

अमीर खुसरों के गीतों और उनके भावों की अनुगूँज अनेक भारतीय लोकगीतों में सुनी जा सकती है। भोजपुरी लोकगीत की कुछ पंक्तियों का देखें

हमरेधिया के जोग बर खोजूँ बाबा हो
धिया मोर मइली सेयान हो
या
सेर भरि सतुआ बरिस दिन खइबों
सइयां के जाय न देबों विदेसवा।

अमीर खुसरों ने अपनी ग़ज़ल के छंदों में स्पष्ट संकेत दे दिया था कि यदि ग़ज़ल को हिंदुस्तान की धरती पर पांव जामाना है, तो उसे हिंदुस्तान की जबान में हिंदुस्तान के दुर्ख-दर्द, हँसी-खुशी और संस्कृति-बोध को व्यक्त करना होगा। लोक-राग और लोक-तत्व को आत्मसात करना होगा। उन्होंने विषय-वस्तु का निर्धारण तो किया, ही साथ ही भाषा की भारतीय परंपरा में अपने को जोड़ते हुए भाषा को वह तेवर भी दिया जोन केवल हिंदुस्तानी ग़ज़ल की पहली परंपरा की भाषा हुई, बल्कि उत्तर-मध्य भारत की प्रमुख संपर्क और साहित्यिक भाषा भी बनी। कुछ लोगों को अमीर खुसरों की इस भाषा पर आश्चर्य होता है कि इतनी खड़ी भाषा उन्होंने कहाँ से गढ़ ली:

एक अचंमा देखो चल
सूची लकड़, लागफल

अमीर खुसरों के गीतों और ग़ज़लों में जो देशीपन और लोक-तत्व है वह उनके सौदर्यबोध की उपज है जो यह बतलाता है कि एक लोक बोध और स्थान बोघ से अनुस्यूत रहनेवाला कवि किस तरह और कहाँ से अपना काव्य-रस ग्रहण कर रहा होता है।

दरअसल, 'लोक-संस्कृति ही समाज और राष्ट्र की भित्ति है।' इसके कमजोर होने से राष्ट्र गहरा कर गिर जाएगा। भोजपुरी धरती और लोकराग में डॉ॰ कृष्णा बिहारी मिश्र द्वारा कही गई इस बात को कहने का तात्पर्य यह है कि अमीर खुसरों की लोक संस्कृति के प्रति रागात्मकता उन्हें आम आदमी का कवि बना दिया। उनका मानवीय प्रेम और दृष्टिकोण धर्म, एवं मजहब के बनावटी विभदों को मानने को तेयार नहीं था। आगे चलकर यही तीक्ष्ण अभिव्यक्ति हम कबीरदास में बाते है। भारतीय साहित्यिक परंपरा और लोक बोध को आत्मसात का हिंदी ग़ज़ल की आधारशिला रखने वाले अमीर खुसरों को उनकी निम्न पंक्तियों से मैं श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ-

तुमने जो मन मेरा लिया तुमने उठागम को दिया,
तुमने मुझे ऐसा किया जैसे पतंगा आग पर।

डॉ० मणिशंकर प्रसाद : जो सामाजिक दायित्व और मानवीय सरोकारों के हिमायती थे

विधाता का विधान भी विचित्र है। सरस्वती का यशस्वी वरद् पुत्र डॉ० मणिशंकर प्रसाद, जो वर्तमान दौर के घने कोहरे में सार्वकालिक और सार्वदेशिक अक्षर चेतना कै पुँज बने, उनकी वाणी का अग्नि-आलोक ही हमारी राहें रोशन करेगा। उनकी स्मृति को समर्पित यह संस्मरण प्रस्तुत करते हुए और उन्हें शत्-शत् श्रद्धांजलि देते हुए मुझे गीतकार हरीश निगम के 'ना बादल, ना मोर' शीर्षक गीत की ये पंक्तियाँ याद आ रही हैं, जो डॉ० प्रसाद पर सटीक बैठती हैं-

'दूर-दूर ना भोर दिखे
अँधियारे हर ओर दिखे
आँखों रेगिस्तान रूके
ना बादल, ना मोर दिखे
जब भी अपनापन ढूँढ़ा
सब रिश्तों के भोर दिखे।'

मगध विश्वविद्यालय, बोध गया के बिहारशरीफ स्थित नालंदा कॉलेज में राजनीति विज्ञान के पूर्व विभागाध्यक्ष डॉ० मणिशंकर प्रसाद राजनीति के ज्ञाता होते हुए भी एक सुलझे साहित्यकार और लेखक के साथ इंसान भी थे। उनकी वैचारिक दृष्टि साफ थी और सिद्धांतों को लेकर उनके मन में कोई संशय नहीं था। वैचारिक प्रतिबद्धता पर वह आजीवन अडिग रहे इसलिए उनकी इस वैचारिक प्रतिबद्धता के हम कायल रहे। डॉ. मणिशंकर प्रसाद में अदम्य जिजीविषा तो थी ही कर्त्तव्यपरायणता भी थी।

डॉ० मणिशंकर प्रसाद के भव्य व्यक्तित्व, ओजस्विता और उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा ने नालंदा के सभी वर्गों को आकर्षित किया। समाज के सजग और प्रबुद्ध लोग बिहारशरीफ के धनेश्वर घाट स्थित उनके निवास में आकर उनसे भेंट करने में गर्व का अनुभव करते थे। जब कभी भी मैं राजगृह या अपने ससुराल बिंद के पास स्थित रसलपुर अथवा मानपुर या अस्थावाँ गया, बिहारशरीफ में उनसे जरूर मिला और समाज को जागरूक बनाने के उनके मिशन को मैंने सराहा।

डॉ० प्रसाद ने अपने वक्तृत्व कला से सभा-संगोष्ठियों के तमाम

श्रोताओं को प्रभावित किया करते थे। तभी तो आज उनकी अनुपस्थिति में एक अच्छे वक्ता का अभाव खटकता है। पटना या उसके आसपास राष्ट्रीय विचार मंच, विचार दृष्टि अथवा अखिल भारतीय भाषा साहित्य सम्मेलन की बिहार इकाई के द्वारा जब कभी शैक्षणिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए गए मणिशंकर बाबू न केवल अपनी उपस्थिति से उसे गरिमामय बनाते थे, बल्कि अपने विचार व्यक्त कर संगोष्ठी को जीवंतता प्रदान करते थे। इनका सारा जीवन साहित्य साधना में लगा रहा। दरअसल, साहित्य साधना करने वाले अपना सारा जीवन इसका ज्ञान और दक्षता प्राप्त करने में लगा देते हैं, किंतु उन्हें यही महसूस होता रहता है कि अभी तो समुद्र में से सिर्फ एक बूँद ही मिल पाई है। उनकी खोज का सिलसिला आजीवन चलता रहता है। वह कभी नहीं रूकता। यही नहीं, ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, साहित्य-साधक की समझ बढ़ती जाती है। यह वास्तविक साधना है।

डॉ० मणिशंकर प्रसाद का सान्निध्य मुझे काफी अरसे तक मिला, क्योंकि मैं भी नालंदा जिला का निवासी हूँ और उनके सान्निध्य में रहकर मैं सदैव गौरवान्वित महसूस करता रहा। उन्होंने साहित्य, समाज, पत्रकारिता अथवा संगठन के माध्यम से मेरे द्वारा किए जा रहे कार्यों की सराहना की। हर सृजनशील व्यक्तित्व की तरह उनमें भी यह गुण मौजूद था। पटना विश्वविद्यालय, बी.एन.कॉलेज के पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष तथा संप्रति बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी एवं बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के निदेशक प्रो० राम बुझावन सिंह द्वारा मेरे जीवन पर विरचित पुस्तक 'सिद्धेश्वर व्यक्तित्व और विचार' में सम्मिलित अभिमत में डॉ० मणिशंकर प्रसाद ने 'एक कर्मयोगी की जीवनी का जीवंत चित्रण' शीर्षक में लिखा-'सिद्धेश्वर जी अपनी जीवन यात्रा में एक अनजान मुसाफिर की तरह भटक नहीं रहे हैं, एक निर्धारित मंजिल की ओर नपे-तुले कदमों से बढ़ रहे हैं। कोई द्वंद्व नहीं, कोई संशय नहीं। इस दृष्टि से ये एक साधक हैं और इनका जीवन इनकी साधना है। समाज सेवा से राजनीति तक अविरल यात्रा करने वाले सिद्धेश्वर जी प्रलोभनों से परे निस्पृह एवं निर्द्वंद्व भाव से देश और समाज की सेवा कर रहे हैं। राजनीति के अनेक शिखर पुरुषों से जुड़े रहने के बावजूद इन्होंने कभी किसी पद या लाभ की कामना नहीं की।' सच मानिए, डॉ० प्रसाद के ये विचार ही मुझे सदैव साहित्य व समाज के प्रति समर्पित भाव से कुछ करते रहने को प्रेरित एवं प्रोत्साहित करते हैं जिसके लिए मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

दरअसल, मणिशंकर बाबू के व्यक्तित्व में भी इन गुणों का समावेश था।

डॉ० मणिशंकर प्रसाद को जहाँ तक मैं जानता हूँ वे गुरु-शिष्य परंपरा के पक्षधर होने के साथ ही सत्यवादी और आशावादी भी थे। वे सही कदम पर चलते थे। उनकी यही विशेषता युग-युगांतर तक उन्हें चैतन्य और जीवंत बनाए रखेगी, क्योंकि उनके सान्निध्य में रहने वाले लोग और उनके साहित्य के पाठक सदैव आनंद का अनुभव करेंगे। नाटककार होमर ने अपने सुप्रसिद्ध नाटक 'इलियड' में लिखा है कि सूर्य देवता ने शास्त्रीय श्लोकों की मधुर ध्वनि सुनकर और प्रसन्न होकर प्लेग के रोग को फैलने से रोक दिया था, तो फिर इंसान तो आनंदित होगा ही। इस दृष्टि से मुझे लगता है समकालीन साहित्यकारों में डॉ० मणिशंकर प्रसाद के अवदान रहनुमाई के रूप में आदर्श प्रस्तुत करते हैं। यदि हम बारीकी से इनके साहित्य का विश्लेषण करें, तो हम पाएँगे कि उससे नई पीढ़ी को दिशा मिल सकती है। विशुद्ध परंपरावादी डॉ० प्रसाद उसूलों की खातिर अपनी प्रस्तुतियों में इन्होंने कभी भी किसी कीमत पर समझौता नहीं किया। प्रयोगधर्मी के रूप में जिस तरह से आज के रचनाकार सस्ती लोकप्रियता के शिकंजे में फँसते दिखते हैं उससे डॉ० प्रसाद अछूते रहे। डालडा से परहेज रखकर इन्होंने अपने लेखन में देसी घी के बघार ही लगाए। कहना नहीं होगा कि इसी की वजह से इनकी लेखन-शैली में मौलिकता और अपनी छाप है, और है साहित्यिक उत्कर्ष की अनुकरणीय छवि। जब हमारी नजर इनके स्वभाव और व्यवहार पर जाती है, तो पाते हैं कि ये निर्भीक, अव्वल दर्जे के स्वाभिमानी और गुणगाहक थे तथा सम्मान-पुरस्कार के मोहपाश में कभी नहीं फँसे। जिस एक बिंदु पर डॉ० मणिशंकर प्रसाद का दिल कचोटता रहा वह बिंदु है, मूल्यों और सांस्कृतिक अवधारणाओं का अवमूल्यन और उसमें निरंतर गिरावट। इन्हें मानवीय मूल्यों में गिरावट का घिनौनापन भी देखने को मिला। इस घिनौनेपन के खिलाफ डॉ० प्रसाद मुखर भी हो उठते थे। सामाजिक और प्रशासनिक अनियमितताओं और दोहरेपन की वह तीव्र भर्त्सना करते रहे। व्यावसायिक तुष्टि के लिए बाजारवाद से कभी भी ये प्रभावित नहीं हुए, साहित्य के भव्य प्रासाद के जिम्मेवार सुदृढ़ स्तंभ जो ठहरे। दरअसल ऐसे, साहित्यकार ही साहित्य के विकास की गाड़ी को आगे बढ़ाते हुए साहित्य के सबल प्रहरी का दायित्व निभाते हैं। साहित्य को इन्होंने जिंदा रखा, न कि अपने जिंदा रहने का जरिया बनाया। पर इतना जरूर है कि अंत-अंत तक इनकी सांसों में साहित्य के प्रति रूझान और लगाव समाए रहे।

मुझे अच्छी तरह याद है आज से लगभग दो वर्ष पूर्व जब डॉ० मणिशंकर प्रसाद अपने पेप्टिक अल्सर का इलाज कराने सुप्रसिद्ध सर्जन डॉ० नरेन्द्र प्रसाद के पटना स्थित खजांची रोड के क्लिनिक में दाखिल हुए थे, तो दिल्ली से पटना आने पर मुझे जैसे ही इस बात की जानकारी मिली, मैं अपने मित्र तथा राष्ट्रीय विचार मंच, बिहार के प्रचार सचिव राजेन्द्र कुमार प्रसाद को साथ लेकर उस क्लिनिक में जब मिलने गया, तो वहाँ भी वे साहित्य तथा हमारे लेखन एवं 'विचार दृष्टि' की स्तरीयता पर चर्चा करने लगे। अभी कुछ ही माह तो बीते थे अल्सर का ऑपरेशन कराए कि अचानक बोली लड़खड़ाने लगी और इनके जिस वक्तृत्व कला पर हम सब नाज करते थे वही जगन्नियंता ने इनसे छीन लिया और फिर एक दिन ऐसा भी आया जब वे हमारे बीच से सदा-सदा के लिए चल बसे। आज जब वे हमारे बीच नहीं हैं, इनका विद्यानुराग, ज्ञान-पिपासा, सोच, नजरिया, करतब और साहित्य व समाज में इनके अवदान को याद कर कहना पड़ता है--

बल ए-जां है ग़ालिब इनकी हर बात,
इबारत क्या, इशारत क्या, अदा क्या।

डॉ० मणिशंकर प्रसाद के तिरोधान के साथ बिहारशरीफ की सारी साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियाँ जिसके वे केंद्र हुआ करते थे खामोश हो गईं, मगर बिहारशरीफ ही नहीं, पूरे बिहार के साहित्य-प्रेमियों के दिल में वर्षों तक साहित्य में किए गए उनके अवदान प्रतिध्वनित होते रहेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। उनकी स्मृति को नमन।

❖❖❖

डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे : जिनके व्यक्तित्व की अमिट छाप आज भी हमारे मानस-पटल पर रेखांकित है

डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे न केवल हिंदी साहित्य के सुप्रसिद्ध हस्ताक्षर थे, बल्कि भारतीय संस्कृति के एक समर्थ व्याख्याता भी। डॉ० लक्ष्मीनारायण को भारत सरकार ने हिंदी साहित्य में उनके उल्लेखनीय योगदान के लिए 'पद्मश्री' की उपाधि से सम्मानित किया था। 25 अक्टूबर, 1999 ई० से लेकर 25 अक्टूबर, 2002 ई० तक डॉ० लक्ष्मीनारायण और मैं रेलवे हिंदी सलाहकार समिति का सदस्य रहा। चितरंजन लोकोमोटिव जैसे कई क्षेत्रीय रेलवे राजभाषा कार्यान्वयन समितियों में हम दोनों प्रेक्षक भी रहे और उसकी बैठकों में हमलोग भाग लेते रहे। इसी के चलते हमें उनका सान्निध्य मिला और उनसे बहुत कुछ सीखने का मौक़ा भी।

मध्य प्रदेश के सागर में हृदय गति अवरुद्ध होने के कारण सितंबर, 2000 में जब उनके देहावसान का समाचार मुझे मिला, तो 'राष्ट्रीय विचार मंच' सहित उसके मुख्य-पत्र 'विचार दृष्टि' परिवार के सभी सदस्यों को गहरा धक्का इसलिए लगा कि एक लंबे अरसे से वे इस संस्थान और पत्रिका से जुड़े रहे थे। इसलिए उनके निधन से हिंदी को तो अपार क्षति हुई ही, पत्रिका परिवार भी उनकी सेवा से वंचित हो गया। मुझे अच्छी तरह याद है, निधन से कुछ दिनों पूर्व ही तो हिंदी का सहस्राब्दी सम्मान ग्रहण करने के लिए दिल्ली पहुँचे थे जहाँ उनसे मेरी मुलाक़ात हुई थी और 'विचार दृष्टि' को लेकर बड़ी अंतरंगता से बातें भी हुई थीं। उन्होंने मुझसे वादा किया कि इस पत्रिका के संवर्द्धन और इसे स्तरीय बनाने के लिए वह हर संभव प्रयास करेंगे। हम उनकी रचनाओं की प्रतीक्षा ही कर रहे थे कि उनके निधन की ख़बर मुझे मिली। इस ख़बर ने व्यक्तिगत रूप से मुझे मर्माहत किया, क्योंकि वे हमारा मार्गदर्शन कर रहे थे।

विदेशों में तो हिंदी सेवा के लिए डॉ० दुबे जाते ही रहे देश के विभिन्न भागों की साहित्यिक गतिविधियों से भी उनका बहुत जुड़ाव रहा। बिहार से वे अपना लगाव महसूस करते थे। एक बार मुज़फ़्फ़रपुर में रेलवे बोर्ड द्वारा आयोजित रामवृक्ष बेनीपुरी शताब्दी समारोह में विशिष्ट अतिथि के रूप में उन्हें भाग लेने जाना था। वहाँ जाने के क्रम में वे दो दिनों पूर्व ही पटना पहुँच गए। हमने उनके सम्मान में 'बसेरा' निवास स्थित 'राष्ट्रीय विचार मंच', बिहार के कार्यालय प्रांगण में एक वृहत विचार गोष्ठी का आयोजन किया।

उस आयोजन में दिल्ली से पधारे एक सुप्रसिद्ध पत्रकार एवं कवि राधेश्याम तिवारी जी को भी मैंने काव्य-पाठ के लिए आमंत्रित किया था। जहाँ तक मैं स्मरण कर रहा हूँ डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे ने अपने अमेरिकी प्रवास के अनुभवों को सुनाते हुए हिंदी की प्रगति पर जो अभिभाषण किया, वह सचमुच अद्‌भुत था। पद्‌मश्री डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे ने हिंदी में लगभग दो दर्जन पुस्तकों की रचना कर हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। मध्य प्रदेश के कृष्णहरि सिंह गौड़ विश्वविद्यालय में डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे प्राध्यापक के रूप में अपनी सेवा प्रदान कर उन्होंने लगभग पचास से अधिक शोधार्थियों का दिशा-निदेश किया। अपनी महती हिंदी सेवा के लिए वे भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों की हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य भी रहे। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे का काफ़ी लगाव था।

'बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : लोक पथ से लोकसभा का शिखर पुरुष' शीर्षक अपने एक आलेख में डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे ने लिखा कि " 'नवीन' जैसा प्रखर, निर्भीक तथा साहसी पत्रकार एवं सलाहकार हिंदी में नहीं हुआ। इसी कारण उनका एक पैर जेल में रहा करता था। नेता जी की तरह उन्होंने दस बार जेल यात्रा की थी जबकि नेहरू जी नौ बार जेल गए थे।" इसी प्रकार डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे ने उसी रचना में जयशंकर प्रसाद के प्रति 'नवीन' जी की गहरी आस्था की चर्चा करते हुए यह भी कहा कि 'कामायनी' को अंतरराष्ट्रीय ग्रंथ बनाने का श्रेय भी 'नवीन' जी को ही है। 'नवीन' जी को ब्रजभाषा में लिखने वाला कवि बताते हुए डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे ने पुन: कहा कि यह कवि आईस्टाइन के सापेक्षवाद को अपनी कविता का विषय बनाता है और ममश्रीकृष्णशरणम् कहते हुए शरीर त्यागता है।

उत्तर रेलवे की त्रैमासिक राजभाषा पत्रिका 'सरस्वती' के राजभाषा स्वर्ण जयंती वर्ष 1999-2000 में प्रकाशित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' विशेषांक के डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे ने अतिथि संपादक के रूप में एक सुरुचिपूर्ण अंक निकाला जो पत्रकारिता के क्षेत्र में एक नमूना कहा जाएगा। मैं डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे की स्मृति को नमन करता हूँ 'नवीन' जी की अंतिम कविता 'बीत चली बासंती वेला' की इन पंक्तियों से -

लो बीत चली बासंती वेला जीवन की
धूमिल हो चली ललित स्मृति कल्पित फूलों की,
विहँसा होगा उद्यान कभी मन-आँगन में-
अब तो है स्मृति केवल जीवन की भूलों की।

गोपीवल्लभ सहाय :

टूट गई गीत परंपरा की एक और मज़बूत कड़ी

गीत परंपरा के एक सशक्त हस्ताक्षर और जे॰ पी॰ आंदोलन को अपनी रचनाओं के माध्यम से एक ख़ास पहचान दिलाने वाले गोपीवल्लभ सहाय के असामयिक निधन से साहित्य जगत को एक गहरा धक्का लगा। ख़ासकर बिहार के साहित्यकार उनके निधन से मर्माहत हैं। जीवन में चंद लोग होंगे जिन्हें रचनाकारों ने देखा-समझा और अच्छा पाया। उनमें गोपीवल्लभ सहाय जी एक थे। उनमें अपूर्व धैर्य, साहस और तितिक्षा का मेल था। अस्तु, उन्होंने अपने दु:ख और आँसुओं को अंदर ही अंदर सहा, उन्हें प्रकट नहीं होने दिया और न किसी हीन भावना को अपने पास फटकने दिया। वस्तुत: जीवन भर संवेदना का संबल लेकर पनपने वाले अक्षरवर गोपीवल्लभ सहाय जी ने संघर्षमय परिस्थितियों एवं कंटकाकीर्ण मार्गों में अपनी दृढ़ता को बनाए रखा। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च', अर्थात् जन्म लेने वाले की मृत्यु और मरने वाले का जन्म सुनिश्चित है। इस ब्रह्मसत्य को स्वीकारना ही आस्तिकता है। सो अपनी दीर्घकालिक अस्वस्थता के बाद भी गोपीवल्लभ सहाय अंत में विलीन हो गए 31 मई, 2003 ई॰ को। इसपर विश्वास तो नहीं होता, पर सत्य तो बहुत कठोर है। दरअसल, उनकी यह मृत्यु उनके मामलों में एक ईमानदार गीतकार के गीत-सृजन की मृत्यु है।

गोपीवल्लभ सहाय जी कवि थे, कवि हृदय रखते थे। जीवन ने उन्हें कई विकटतम परिस्थितियों में रखा। 25 वर्ष की उम्र में ही पत्नी-शोक भी उन्हें मिला। उससे उत्पन्न हृदय की टीस को भी उन्होंने इस प्रकार कविताबद्ध किया था-

गीत दो लिखे मैंने, जन्म के, मरण के।
एक तुम न सुन सका, एक मैं न गा सका।

1964 ई॰ में ही 25 वर्ष की उम्र में उन्होंने अपनी पत्नी कृष्णा के निधन पर पुन: लिखा-

बिखर जो गया स्वप्न मेरा तुम्हारा
न तुमने सँवारा न हमने सँवारा,
विदा लो, उसी हाथ से अब विदा लो
भरी माँग जिससे, उसी से चिता लो

दर्द से उनका अटूट रिश्ता था, दूसरे के दर्द को भी वे भलीभाँति अवगाहते थे। हिंदी में गीत तो बहुत लिखे गए और लिखे जा रहे हैं, किंतु अपने देश और समाज की वर्तमान स्थिति को विषय बनाकर गीत लिखने का जो प्रयास गोपीवल्लभ सहाय जी ने किया वह स्तुत्य है। उनके निधन से गीत-परंपरा की एक और मज़बूत कड़ी टूट गई। निश्चित रूप से स्वार्थपरक राजनीति के धरातल पर पनपने वाली अवसादवादी व्यवस्था की नींद में ख़लल डालने का कार्य उन्होंने जे० पी० आंदोलन के वक़्त किया। गोपीवल्लभ सहाय जी की क़लम ने आग को गीतों में ढालकर जनता की बेचैनी को शब्दों में बाँधा। उनका कहना था - "जो कविता जन-जीवन के दुःख-दर्द को नहीं सहलाती वह चिरजीवी नहीं हो सकती।" आख़िर तभी तो उनकी निम्न पंक्तियाँ अपने समय की धड़कनों पर ऊँगली रखती दिखाई देती हैं -

अगर चाहते नया सवेरा लाना तुम
सिर्फ़ सूर्य ही नहीं, गगन को भी बदलो
अगर चाहते हो बहार इस धरती पर
केवल माली नहीं चमन को भी बदलो।

गोपीवल्लभ सहाय जी का मानना था कि वास्तविक बदलाव मात्र सत्ता -परिवर्तन से नहीं, व्यवस्था के आमूल-चूल परिवर्तन से ही संभव है। आज की राजनीति से क्षुब्ध गोपीवल्लभ सहाय जी ने मुझसे एक साक्षात्कार में कहा था कि जे० पी० ने जिन आदर्शों और मूल्यों को लेकर संपूर्ण क्रांति के रूप में देश के अंदर समस्याओं के पैदा करने वाले पर चोट की थी उसे उनके सहयोगियों ने भुला दिया। जे० पी० की संपूर्ण क्रांति के अधूरे सपनों के सवाल पर उन्होंने कहा था - हमारे बेटे और बेटियों की पीढ़ी जब तक नहीं बदलेगी, तब तक संपूर्ण क्रांति के सपने अधूरे रहेंगे। हमको बदलना था, हम बदल गए। हमारी बेटियों और बेटों के रक्त में शायद वह तेज़ी और तनाव नहीं है, जो 74 के आंदोलन में हमसबों में था। भ्रष्ट राजनीति एवं जातिवादी नेतृत्व और निहित स्वार्थों के बोझ तले कराहते हुए देश में नागरिकों के आँसू पोछने वाला कोई नज़र नहीं आता, इस पर उनकी प्रतिक्रिया थी- राजनीति में अच्छे लोग जब तक नहीं आएँगे, तब तक गंदा साफ़ कैसे होगा।

लगभग तीन सौ गीतों, सौ कविताएँ, 'बंजर में बीज' क़ाव्य-संग्रह के रचयिता गोपीवल्लभ सहाय जी एक व्यक्ति नहीं, बल्कि आंदोलन थे, वे अँध कार के समय आलोक की एक जादुई किरण थे। उनका भाव-फ़लक व्यापक और विस्तृत था। कुछ लोग युग और सीमाएँ लांघने की क्षमता रखते हैं और

गोपीवल्लभ सहाय जी निश्चय ही उनमें से एक थे। उनके निधन से राष्ट्रभाषा हिंदी ने जहाँ एक ओर एक अनन्य अंकिचन खोया है, वहीं 'विचार दृष्टि' पत्रिका एक समर्थ मार्गदर्शक से वंचित हो गई। वे अपने पीछे एकमात्र बेटी, रूग्ण-शैया पर पड़े भाई रामजी, छोटे भाई प्रेमवल्लभ तथा हिंदी जगत के सैंकड़ों शुभेच्छु छोड़ गए हैं। वे अविस्मरणीय हैं। उनकी कर्मठता, पौरुष और सृजनशीलता के समक्ष हमसब मन ही मन नतमस्तक हैं। अचानक हमारे बीच से उठकर वे वहाँ चले गए जहाँ से कोई वापस आता नहीं। उनकी याद भर से आँसू आते हैं –

सुख के आँसू दुखी,
मित्रों की जाया के

❖❖❖

भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' :

जो स्वभाव के निश्छल कवि थे

कविवर स्व॰ भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' आज हमारे बीच नहीं हैं। विगत 27 अप्रैल, 1996 ई॰ को विधाता के क्रूर हाथों ने उन्हें हमसे छीन लिया। ''मृत्यु न केवल ज़िंदगी में एक दर्दनाक घटना है, बल्कि हमारे भीतर की बहुत सारी वस्तुएँ मृत हो जाती हैं। जब तक हम जीवित रहते हैं, मात्र यादें ही रह जाती हैं।'' आज हम उनकी बातों को याद कर स्फूर्ति से भर जाते हैं। किसी लेखक का मानवीय दायित्व और चिंता यही होती है कि वह मनुष्य को बेहतर जीवन की ओर बढ़ने की प्रेरणा दे। इसलिए निरंतर जटिल होते हुए भी यथार्थ को पकड़ना रचनाकार का महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। आख़िर इसीलिए तो कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' ने 'आओ पूजा करें, देश उज्ज्वल माटी का' शीर्षक कविता में इन पंक्तियों से हमें प्रेरित करने का प्रयास किया है –

जीवन में मत घबराना दुख-सुख की घाटी है।
आओ पूजा करें, देश की उज्ज्वल माटी है।
इस माटी में जन्म लिया जो, शेर हो गया।
टकराने आया दुश्मन वह ढेर हो गया।

पिछे दो दशकों में भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' ने हिंदी कविता में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। पाटलिपुत्र नगर को साहित्यिक-सांस्कृतिक स्थल बनाने में 'तोमर' की विशेष भूमिका थी। वर्ष 1994-96 के दौरान साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों और दोस्तों के उठने-बैठने का केंद्र अमरनाथ पथ या तो अवर अभियंता संघ का कार्यालय था या फिर बेली रोड, स्थित ज़ाकिर हुसैन संस्थान। पिछले दो-तीन वर्षों से 'बसेरा' पुरन्दरपुर स्थित 'राष्ट्रीय विचार मंच' का कार्यालय भी साहित्यानुरागियों के लिए एक अच्छी-ख़ासी जगह बन गई है, जहाँ साहित्यिक संगोष्ठी के बाद 'तोमर' जी के साथ हमलोग चाय की चुस्की लेते थे तथा देर रात तक राजकुमार प्रेमी, अनिमेष झा, बलभद्र कल्याण, विशुद्धानंद, डॉ॰ मेहता नागेन्द्र सिंह, आनंद किशोर शास्त्री, विजय गुंजन, चन्द्र प्रकाश माया, प्रो॰ अभिमन्यु प्रसाद मौर्य, अरुण कुमार गौतम, मनोज कुमार तथा राकेश प्रियदर्शी के साथ गप्पे लड़ाते रहते थे।

भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' से मेरी मित्रता सीधे, सपाट और सरल थी।

जबकि उनके स्वभाव से, ज़िंदगी जीने के उनके ढंग से और जीवन शैली की कोई समानता नहीं थी, तो भी उनके प्रति मेरे लगाव और आकर्षण में कोई कमी नहीं थी। हो सकता है इसका एक कारण यह रहा हो कि हम दोनों लगभग हमउम्र थे। वे 1 जनवरी, 1942 ई॰ को पैदा हुए और मैं 18 मई, 1941 ई॰ में। आज जब मैं उन्हें याद करता हूँ तो पाता हूँ कि उनमें खरापन और साफ़गोई हर सूरत में रहती थी। 'तोमर' अपने प्रति और अपनी कविताओं के प्रकाशन के प्रति लापरवाह थे। कविताओं को संभाल-सहेजकर रखना उनके बस की बात नहीं थी। वे एक चलता-फिरता कविता-संग्रह थे। यह तो कहिए कि 'राष्ट्रीय विचार मंच' ने कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' की स्मृति में गत 27 अप्रैल, 1997 ई॰ को उनकी प्रथम पुण्य तिथि के अवसर पर 'यादें' नामक एक काव्य-संकलन प्रकाशित कर आम आदमी की चेतना को उत्प्रेरित किया जो हमारे आज के साहित्य-संसार की ज़रूरत है।

कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' की काव्याभिव्यक्ति में मिथक और यथार्थ घुले-मिले रूप में उपस्थित हैं और पीड़ा अंतः सूत्र कई स्तरों पर खुलता जाता है। 'मैं सचमुच बीमार हो गई' शीर्षक कविता में कवि 'तोमर' कहते हैं –

पोर-पोर में दर्द हो रहा, पीड़ा से बेज़ार हो गई।
कुछ तो रहम करो अब प्रियतम मं सचमुच बीमार हो गई।

उनकी कविता भीतर से फूटती है तभी तो वे कहते हैं –

चुभती है रह-रहकर संध्या वसंत की
बंध्या-सी आकांक्षा परती से भाव हैं
पोर-पोर सिहरन है, अंग अंग घाव हैं।

बिहार के मुंगेर जिलांतर्गत धरहरा गाँव के तोमर टोला में भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' उस वक़्त जन्मे जब स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी महात्मा गाँधी के नेतृत्व में 'अँग्रेज़ों भारत छोड़ो' आंदोलन की तैयारी कर रहे थे। दशरथ सिंह एवं सुगावती देवी के सुपुत्र 'तोमर' ने भागलपुर के बरारी पोलिटेक्निक से सन् 1960 ई॰ में सिविल इंजीनियररिंग में डिप्लोमा की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उसी वर्ष प्रमण्डलीय आयुक्त, राँची के कार्यालय में कनीय अभियंता के पद पर अपनी सेवा शुरू की। फिर सन् 1989 ई॰ में सहायक अभियंता पद पर प्रोन्नति पाने के बाद उनका पदस्थापन पटना में हुआ और अंतिम पदस्थापन रोसड़ा में बिहार सरकार ग्रामीण अभियंत्रण संगठन में हुआ जहाँ इनकी असामयिक मृत्यु हुई।

अपनी सेवावधि में रहकर भी कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' को साहित्य-साधना के साथ-साथ साहित्यिक संगठनों में अभिरुचि रही। अवर अभियंता संघ, बिहार के तो वे पदाधिकारी भी रहे। कविता में इनकी विशेष रुचि थी। कवि रामप्रिय मिश्र 'लालधुआँ' के संपादकत्व में जमालपुर से प्रकाशित 'वीर बालक' पत्रिका में इनकी पहली कविता 'मैं कवि अमर रहूँगा' छपी। फिर तो इनकी कहानियाँ, कविताएँ, परिचर्चा, लघुकथा, एकांकी, निबंध, भेंटवार्ता तथा रेडियो नाटक आदि 'कादम्बिनी' से लेकर बिहार से प्रकाशित विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशित होते रहे।

इसी क्रम में आकाशवाणी के पटना, राँची, इलाहाबाद तथा दिल्ली केंद्र से इनकी लगभग सौ से अधिक कहानियों एवं नाटकों का प्रसारण हुआ। इसी बीच 'राँची टाइम्स', 'सरोवर', 'युवक धारा', 'चक्षुश्रवा', 'जागो बहन' तथा 'जनशक्ति' जैसी पत्र-पत्रिकाओं के साहित्य-संयोजन सहित अवर अभियंता संघ, बिहार के मुख-पत्र 'निर्माता निर्देश' का उन्होंने सफल संपादन भी किया। 'साहित्य संगम', 'संस्कार', 'साहित्य निष्ठा', 'राजेन्द्र साहित्य परिषद्', 'साहित्याँचल', 'जह्नु विचार मंच' तथा 'राष्ट्रीय विचार मंच' जैसे साहित्यिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्थाओं से जुड़े रहकर उनके कार्यकलापों को गति प्रदान की।

जहाँ तक पुरस्कार एवं सम्मान पाने का संबंध है बिहार राज्य अराजपत्रित कर्मचारी महासंघ की राँची, डालटनगंज, चाईबासा तथा धनबाद शाखाओं द्वारा सन् 1965 ई० और उसके आस-पास की अवधि में कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' सम्मानित एंव पुरस्कृत किए गए। और फिर सन् 1968 ई० में प्रयागराज टाइम्स, इलाहाबाद द्वारा 'मानव सेवा सम्मान' से तथा सन् 1989 ई० में गुलज़ारबाग, पटना, मुंगेर तथा बक्सर के साहित्यकार परिषद् द्वारा सम्मानित हुए।

कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' को जहाँ तक मैंने जाना और समझा, वह समतामूलक समाज की स्थापना के लिए सतत चिंतनशाल एवं संघर्षरत रहे। अपने ऊपर भरोसा रखने, दीन-हीन, दुर्बल, असहायों और उदीयमान प्रतिभाशाली रचनाकारों की सेवा और सहयोग करने का भाव इनके कार्यकलापों से परिलक्षित होता था। उदार हृदय, आत्मसम्मानी, कर्मठ और ध्येय के प्रति समर्पित भाई भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' स्वतंत्र प्रकृति के थे। उनकी सोच में जिजीविषा के दर्शन होते थे। वे चैतन्यपूर्ण और तेजस्वी जीवन-पद्धति से परिपूर्ण एक कर्त्तव्यपरायण हस्ताक्षर तो थे ही, उनमें मानसिक सजगता और

सूक्ष्म तथ्यों को पकड़ने की अद्‌भुत क्षमता थी। वे विलक्षण स्मरणशक्ति के सरल-सहज व्यक्तित्व व एक सदा सच्चा कर्मयोगी थे जिनमें जीवन की कठोरतम विपत्तियों को झेलने की शक्ति, अनुभव-संपन्नता और इनका व्यापक संपर्क था। इनके प्रति समाज के हर तबक़े का आदर और सम्मान का भाव था।

कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' हमारे समाज के एक ऐसे वर्ग से थे, जिसे आर्थिक दृष्टि से मध्य वर्ग कहते हैं। यह वह वर्ग है जो अभावों की चक्की में हमेशा पिसता रहता है, और खुशहाली के सपने देखता है, जो कभी पूरे नहीं होते। ग़रीबी की तकलीफ़ और तनावों को उन्होंने बहुत क़रीब से अनुभव किया था। जीवन के अंतिम वर्ष में लंबी बीमारी को झेलता हुआ और तपेदिक़ की एक छोटी-सी लड़ाई लड़ता हुआ कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' उसी उदासी और हताशा के, पीड़ा और अंतर्वेदना के अँधेरे दौर में गुज़रे थे। लगातार इलाज के बाद बहुत कुछ वह ठीक हो गए, लेकिन मायूसी और टूटन से मुक्ति न पा सके। ख़ैर, उन दिनों जब भी मैं उनसे मिला, एक छिन्न-सी मुस्कराहट चुप्पी। वह चाहते थे कि चुप्पी की चट्टान को खिसका दें। लेकिन एक लाचार हकलाहट के सिवा वह कुछ भी नहीं कर पाते थे।

बहुत कम उम्र में कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' का जाना एक बड़ी त्रासदी है। वे तमाम उम्र दोस्तों में रहे और उन्हीं की बाँहों में अलविदा कहकर गए। मैं कह नहीं सकता 'तोमर' के शेष दोस्त पटना में उस गर्मजोशी और स्निग्धता को कब तक और कितना बचाए रखेंगे जिस पटना को उन्होंने अपनी कविताएँ और ज़िंदादिली प्रदान की थी। पर इतना ज़रूर है कि कवि भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' की याद और उनकी कविताएँ उस गर्मजोशी, स्निग्धता और उनके स्वभाव की निश्छलता की ज़रूरत को अपनी शिद्दत से रेखांकित करती रहेगी।

❖❖❖

डॉ॰ सहदेव सिंह 'पाचर' :
जिनकी कविताएँ ही उनके होने का अर्थ प्रतिपादित करती हैं

जिस प्रकार तालाब के शांत जल में छोटा-सा कंकड़ फेंकने से उनकी गहराइयों में छिपी कितनी ही लहरें हरकत में आ जाती हैं और उन लहरों के वृत्ताकार लगातार आगे बढ़ते हुए किनारों को छूते हुए अंत में अनंत की ओर निकल जाते हैं, डॉ॰ सहदेव सिंह 'पाचर' के साथ भी ठीक ऐसा ही हुआ। जाना तो सबको पड़ता है, मगर डॉ॰ 'पाचर' जी इस तरह जाएँगे, इसकी कल्पना भी नहीं की जाती थी। इनके जीवन रूपी तालाब में कैंसर-सा एक कंकड़ फेंका गया और एकाएक चल दिए अनंत की ओर। भाई विपिन विप्लवी जी से दूरभाष पर जब यह दुखद समाचार मिला कि डॉ॰ सहदेव सिंह 'पाचर' का निधन 13 अप्रैल, 2006 ई॰ को मुग़लसराय में हो गया, मैं अवाक् रह गया। उन्होंने बताया कि वे कुछ महीनों से बीमार चल रहे थे और चिकित्सा के लिए उन्हें मुंबई भी ले जाया गया था। फिर मुंबई से वापस लौटने पर मुग़लसराय में अपने एक शुभेच्छु चिकित्सक के यहाँ रह रहे थे कि अचानक उनका देहावसान हो गया। उनके महाप्रयाण से मैंने अपना एक सच्चा हितैषी खो दिया। उनसे मुझे अभी बहुत कुछ सीखना बाक़ी था कि बीच रास्ते में बिना किसी स कुछ कहे-सुने वे चले गए।

मुझे अच्छी तरह याद है आज से कोई तीन दशक पूर्व पश्चिमी चंपारण के बगहा स्थित विद्युत बोर्ड के एक कार्यालय के ऑडिट इंस्पेक्सन के दौरे पर जब मैं था, तो डॉ॰ 'पाचर' उन दिनों सदर अस्पताल, बगहा के उपाधीक्षक थे और एक दिन वहाँ के साहित्य-प्रेमियों द्वारा उन्हीं के राजकीय आवास परिसर में मेरे सम्मान में एक कवि-गोष्ठी का आयोजन किया गया था, जिसमें उनसे मेरी मुलाक़ात हुई थी और उन्होंने मुझ पर अपनी नज़र गड़ाते हुए एक नितांत अप्रत्याशित प्रश्न पूछ डाला था, "अच्छा तो आप ही हैं, जो एक समर्पित कार्यकर्ता के रूप में जाने जाते हैं और केवल साहित्य-सेवा एवं पत्रकारिता ही नहीं करते हैं, बल्कि स्पष्ट ज़ुबान में भाषण भी देते हैं? मैं अक्सर ताज्जुब करता था कि केंद्रीय सरकारी सेवा के एक अच्छे पद पर रह कर भी राजनीति पर इतनी साफ़ भाषा कैसे बोल लेते हैं?" यद्यपि मुझे अपनी प्रशंसा अक्सर नहीं भाती, तथापि न जाने क्यों मुझे पसंद आ गया था उस दिन उनके कहने का लहजा। ख़ैर जो हो, मैंने उनकी

कविताएँ और बातें सुनीं, जिनमें मुझे कुछ ऐसा रास आया कि मैंने उनके साथ साहित्यिक संबंध बनाने का ठान लिया और अंत तक निभाया। ऐसा था उनका चमत्कृत व्यक्तित्व। डॉ० 'पाचर' जी चले गए, पर मुझपर उन्होंने अपनी एक अमिट छाप छोड़ दी। वह मेरे आदरणीय और बुज़ुर्ग मित्र थे, मुझसे विशेष स्नेह रखते थे और मैं भी उनकी बहुत इज़्ज़त करता था। दरअसल, डॉ० 'पाचर' जी का मन मेरे मन से मिलता था। इसलिए ज़रा-सा उनकी चेतना को कुरेदने पर उनकी अनुभूति अभिव्यक्त होने लगती थी। वे भावनाओं और एहसासों के जादूगर थे, जिसे निखारने में उन्हें महारत हासिल थी। 'विचार दृष्टि' के 26 वें अंक में प्रकाशित कविता उनके जीवन की आख़िरी प्रकाशित रचना सिद्ध हुई।

तकलीफ़ तो किसी भी व्यक्ति के बिछुड़ने की होती है, किंतु बिछुड़ने वाला डॉ० 'पाचर' जी जैसे खुले मन का मिलनसार, हँसमुख, मानवतावादी और गंगा-जमुनी सभ्यता का सच्चा नमूना व्यक्ति हो, तो दुःख कुछ ज़्यादा ही होता है। भेद-भाव, संकीर्णता, षड्यंत्र, एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश, ईर्ष्या, द्वेष और समानांतर चिकित्सीय, साहित्यिक क्षेत्र की कूटनीति के इस दौर में डॉ० 'पाचर' जी का व्यक्तित्व हमारे लिए एक मिसाल है। स्वस्थ समाज की स्थापना के लिए स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाने की ज़रूरत है। इसी प्रकार राजनीति के संबंध में उनका मानना था कि बहुलतावादी इस राष्ट्र में बहुलता की सच्चाई स्वीकार किए बिना न तो स्थायित्व की कल्पना की जा सकती है और न ही आत्मकेंद्रित राजनीति से उसे हासिल की जा सकती है। सच तो यह है कि संकीर्णता की ओट से सत्ता हथियाना या कुर्सी का शिकार करना यथास्थितिवादियों का सर्वसुलभ रास्ता है। बुद्धिजीवियों पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने एक बार अपने विचार व्यक्त किए थे- भारतीय राजनीति बांझ बुद्धिजीवियों को ही हमेशा संरक्षण देती रही है। इसी प्रकार दलितोत्थान को भी महज़ एक नारा कहा करते थे, जिसके पक्ष में बात करना भी लोग गुनाह समझने लगे हैं।

डॉ० सहदेव सिंह 'पाचर' को इस देश के लोगों से, साहित्य-प्रेमियों और समाजसेवियों से विभिन्न मुद्दों पर कितना कुछ कहना था। काफ़ी कुछ तो कहा भी, किंतु काफ़ी कुछ अपने साथ लेकर वे चले गए। मगर आज जब वे हमारे बीच नहीं हैं, मैं कहूँगा कि वे परिवर्तनशील व्यक्तित्व और गतिमानता एवं जीवंतता के प्रतीक थे। इसलिए इस सच्चाई से युक्त जीवन को उन्होंने बड़ी शिद्दत से जीया। अपने काव्य-संग्रह 'बूढ़ा बरगद' की

'अपनी बात' में डॉ॰ 'पाचर' स्वयं स्वीकारते हैं – ''मैंने गाँधी को देखा नहीं, उसे अनुभव किया है। कभी मैं स्वयं नाथूराम था – फिर गौतम-सा घर छोड़कर बुद्ध बनने का मन! बड़ी डूबकर ज़िंदगी जिया हूँ। हर घाट का पानी पिया हूँ। दुनिया जिसे पाप कहती है वह सब कुछ मुझमें था। मैंने सजदा के लिए हर दरवाज़ा खटखटाया। एक आदमी सा जीवन जिया।'' आख़िर तभी तो उनकी रचनाएँ सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विद्रूपताओं एवं विसंगतियों को बड़ी बेबाकी से चित्रित करती हैं जिसकी प्रासंगिकता, उपादेयता ही जनमानस को आंदोलित-उद्वेलित करती रहेगी। इसलिए बहुत अदब से एक बात मैं कहना चाहूँगा कि इस देश की आज जो सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति है उसमें वस्तुतः ऐसी कविताओं की ज़रूरत है, जिसमें अपने समय, रिश्तों, दुःखों-सुखों, व्यवस्था, आशंकाओं और संभावनाओं सब पर लेखकीय हस्तक्षेप हो और वह न केवल पाठकों तक पहुँचे, बल्कि उनकी ज़बान पर चढ़े और उनके अंदर बनी रहे, ठीक वैसे ही जैसे कवि 'पाचर' की कविताएँ आम आदमी की बात करती हैं, उसकी करुणा को उभारती हैं और उसके साथ खड़ी होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि उसके साथ है, उसकी अगुवाई कर रहा है।

जब मैं डॉ॰ सहदेव सिंह 'पाचर' होने का अर्थ ढूँढ़ने लगता हूँ तो कई अर्थ सामने खड़े हो जाते हैं। डॉ॰ 'पाचर' ने कवि और लेखक बनने का फ़ैसला अपने अंदर की छटपटाहट को अनुभव करने के पश्चात् किया था। इसलिए सरकारी सेवा में रहते हुए और रोगियों को अपनी चिकित्सा-सेवा प्रदान करते हुए भी वे साहित्य के पूर्णकालिक बनकर अपनी ज़िंदगी की लड़ाई लड़ना चाहते थे। यही कारण है कि सेवा निवृत्ति के बाद शुद्ध रूप से उन्होंने आजीवन साहित्य की सेवा की और हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। उनकी प्रमुख कृतियों में 'बूढ़ा बरगद', 'गुमनाम शहीद', 'ताज और रोटी', 'कौन था', 'हमारा गाँव', 'मानवाधिकार', 'बिरादरीवाद', 'चरवाहे की अंतिम विदाई', 'घेरे वहीं हैं लोग' और 'हलाहल' उल्लेखनीय हैं। कभी भी उन्होंने जीवन-मूल्यों से समझौता नहीं किया, किंतु दुखद स्थिति यह है कि डॉ॰ सहदेव सिंह 'पाचर' को समझने से समाज के लोग बचते रहे और साहित्यकारों ने उन्हें एक चिकित्सक के आइने में ही बराबर देखा। जबकि सच्चाई यह है कि चिकित्सक के आइने में ही उनका अर्थ नहीं खुलता, स्वयं उनकी कविताएँ ही उनके होने का अर्थ प्रतिपादित करती हैं। हिंदी साहित्य के लिए डॉ॰ 'पाचर' द्वारा किए गए अनमोल करिश्मों के लिए पाठक उनके

शुक्रगुज़ार हैं। कारण कि मज़हब अथवा धर्म की व्याख्या, धर्म के प्रति उनका नज़रिया उनकी बुद्धिजीविता को दर्शाता है। कैमूर के भभुआ निवासी कवि 'पाचर' ने अपनी कविताओं में समकालीन जीवन यथार्थ को प्रगतिवादी मुद्रा में प्रस्तुत किया। वे सदैव यह महसूस करते थे कि कविता में आधुनिकता का पाखंड कविता को हमेशा पाठकों से दूर करता चला गया, इसीलिए कविता और पाठकों के बीच फ़ासला आज बढ़ता जा रहा है। यही वजह है कि जहाँ कवि धीरे-धीरे अपनी शख़्सियत खोता चला जा रहा है, वहीं कविता अपनी पहचान खोती जा रही है, मगर डॉ॰ 'पाचर' की कविताओं ने सामाजिक और राजनीतिक क्रांति की भूमिका तैयार करने की कोशिश की, यह मैं दावे के साथ कह सकता हूँ। देखें इनकी कविता 'बूढ़ा बरगद' की कुछ पंक्तियों को –

बरगद बबूल में ठनी देख, मानव-दानव में ठना युद्ध
ललकारे अगुँलीमाल खड़ा, असहाय अकेले पड़े बुद्ध

फलदार वृक्ष की रखवाली, करता बंदर है बलशाली
खा रही लोमड़ी संग साथ, मीठी अँगूरों की डाली

किस मुँह से जश्न आज़ादी का, करतूत सामने खादी का
पश्चिम का दिल रखने वाले, हैं नाम बेचते गाँधी का

ये पंक्तियाँ लोगों तक सीधे पहुँचती हैं और वे क्रांति की संवाहक बनती हैं। कविता सब तक पहुँचे और अपने समय में हस्तक्षेप करे, इस मंतव्य को डॉ॰ 'पाचर' की कविता पूरी करती है। कारण कि उन्होंने ख़तरा मोल लेकर भी विषय, शिल्प और शैली के अनेक प्रयोग किए। राजनीति और राजनेता से लेकर अदीबों और जनसामान्य से लेकर मेहनतकश मज़दूरों और किसानों तक की पीड़ा और दुःख-दर्द को उन्होंने अपनी कविताओं में समेटा।

डॉ॰ 'पाचर' मनुष्य पर, नेताओं पर, समाज के लोगों पर सीधी बात न कहकर व्यंग्य के माध्यम से कविता में अपनी बात कहते थे। यही कारण है कि मंच पर कविता-पाठ में वे बहुत जमते थे और ख़ूब तालियाँ बटोरते थे। कवि-सम्मेलन से उन्हें काफ़ी ख्याति मिली, क्योंकि वे ख़ूब सुने और सराहे गए। इस प्रकार कविता-पाठ से उन्होंने हिंदी का भी प्रचार किया। इसलिए उनका जीवन और उनके सिद्धांत नई पीढ़ी के लिए किसी धरोहर से कम नहीं। वैसे भी सिद्धांततः आम आदमी के मूल सरोकारों से जुड़े कार्यों

में ही उनकी रुचि रहती थी। इसी वजह से हिंदी साहित्य में भी उन्होंने विशेष रुचि ली और आम आदमी की स्थिति को अपने साहित्य के ज़रिए लोगों तक पहुँचाने का प्रयास किया।

वर्ष 2002 ई॰ में 'राष्ट्रीय विचार मंच' के द्वारा नई दिल्ली में आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय अधिवेशन में जब डॉ॰ 'पाचर' ने बिहार का प्रतिनिधित्व किया था, तब पूरे भारत से आए प्रतिनिधियों को उन्होंने न केवल अपने काव्य-सुधा-रस का पान कराकर सुधीजनों को सराबोर किया था, बल्कि अधिवेशन के एक सत्र की अध्यक्षता कर अपने संचालन-कौशल का परिचय भी दिया था। मैं स्मरण कर रहा हूँ कि दो दिनों तक चले अधिवेशन की अवधि में बड़ी अंतरंगता से उनसे मेरी बात हुई थी, जो एक-एक कर मेरे मानस-पटल पर रेखांकित हो रही हैं। उनके मन की न जाने कितनी लिपियाँ मेरे मन में अंकित हुईं, जिनकी चर्चा करना स्थानाभाव के कारण यहाँ संभव नहीं, मगर जहाँ तक मैं याद कर रहा हूँ, तो ऐसा लगता है कि उनका लेखकीय और मानवीय मन मुझसे बतिया रहा है। डॉ॰ 'पाचर' गृहस्थ जीवन के रस और मर्यादा को और उसके ज़रिए सामाजिक जीवन के रस और मर्यादा को महसूस करने वाले सर्जक थे। उनके व्यक्तित्व का मूल रंग आत्मीयता का था और मुझे उनके स्नेहिल और आत्मीय व्यक्तित्व का रस मिला। उनका साहचर्य एक जीवंत साहचर्य बन जाता था जो केवल वायवीय नहीं, बल्कि वे उसे चरितार्थ भी करते थे। यही वजह थी कि वे मेरे प्रति सदैव सद्भाव और सम्मान का भाव दिखाते थे, जो आजकल के प्रदूषित वातावरण में कुछ अटपटा-सा ही है, जहाँ हर मित्रता के पीछे कोई न कोई प्रयोजन होता है।

फ़िजिसियन एवं शिशु रोग विशेषज्ञ डॉ॰ 'पाचर' मासूमियत के साथ-साथ स्वाभिमानी और निर्दोष अपेक्षाओं से परे थे, जिनका ध्येय केवल देशभक्ति ही नहीं, बल्कि समाज को दिशा देने वाली सच्चाई और उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई थी और हमसब इस बात से अवगत हैं कि मशाल को खुद जलना पड़ता है, तभी उससे दूसरों को रोशनी मिलती है। लोभ-लाभ से मुक्त साहित्य-साधना ही मशाल बन सकती है, केवल बौद्धिक कसरत या चमत्कार से उपजा साहित्य नहीं। डॉ॰ 'पाचर' एक ऐसे ही साहित्य-साधक थे, जिन्होंने अपने लेखन से पाठकों को समाजोन्मुख और आत्मोन्मुख बनाने की चेष्टा की, जिसका आज अभाव खटकता है। ऐसे वक्त डॉ॰ 'पाचर' को स्मरण कर और उनके साहित्य को पढ़कर आत्मविश्लेषण

और आत्मालोचन की भावना उत्पन्न की जा सकती है और उनकी रचनाओं को पढ़ना भारतीय होने और बनने की प्रक्रिया में सहायक हो सकती है, क्योंकि आज वह प्रक्रिया दिग्भ्रमित और बिखराव की स्थिति में है। इस मायने में डॉ॰ 'पाचर' आज के समाज के लिए प्रेरणास्रोत कहे जाएँगे। उनके चरित्र की एक और ख़ासियत यह थी कि वैचारिक स्थापनाओं से उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। इसीलिए उनकी पहचान को हमेशा राष्ट्रीय अस्मिता के साथ जोड़कर देखना होगा। साथ ही उनमें निहित एकता के भाव को समाज के समक्ष एक आदर्श मार्गदर्शन समझा जाना चाहिए।

सच है लेखकों का जाना सामान्य-जन के जाने की तरह नहीं होता। उनके जाने के बाद भी वे रहते हैं उन कृतियों में जो उन्हें हमारे बीच बनाए रहती हैं। इस दृष्टि से डॉ॰ 'पाचर' न रहकर भी आज हमारे बीच मौजूद हैं। 'विचार दृष्टि' के वे न केवल नियमित पाठक रहे, बल्कि इसे अपना रचनात्मक सहयोग प्रदान कर संपादक मंडल को प्रोत्साहित करते रहे। 'विचार दृष्टि' में उनका यह संस्मरण प्रकाशित कर उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त की गई है।

आत्मविश्वास और राष्ट्र के प्रति सच्ची आस्था और भक्ति से भरे ऐसे स्वाभिमानी, सिद्धांतप्रिय समाज-उन्नायक डॉ॰ सहदेव सिंह 'पाचर', जिन्होंने बिना किसी की तीमारदारी का मुहताज बने, मरण का वरण कर लिया, की स्मृति को उन्हीं की पंक्तियों से शत-शत नमन और 'विचार दृष्टि' परिवार की ओर से मैं हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ -

रथ रोक कि गाँधी मैं देखूँ
पूरब पश्चिम के बीच खड़ा
यह युद्ध न अंतिम हो जाए
है भोगवाद में विश्व पड़ा

रजनीकांत सिन्हा :

जिन्होंन बाल साहित्य को समृद्ध किया

जब जीवन निरस तथा अर्थहीन होने लगता है और व्यक्ति बेबस, लाचार, निस्सहाय और तनहा, तो मृत्यु जीवन की मूल समस्या ही नहीं, बल्कि केंद्रीय दर्शन भी बन जाती है। रजनीकांत सिन्हा, जिन्हें हम बहुत अदब से रजनी बाबू कहते थे, के आख़िरी जीवन पर जब हम एक नज़र डालते हैं तो पाते हैं कि शय्या-ग्रस्त हुए बच्चों के साहित्य को लेकर हो या समाज अथवा राजनीति, अपनी बेबसी, लाचारी और तनहाई की स्थिति में उनसे मुझे दर्शन की बातें ही सुनने को मिलीं। कारण कि उन्हें जीवन के निस्तार होने पर अपनी निकटतम दुनिया से कोई संबंध नहीं रह गया। फलत: उनके जीवन में एक शून्य उत्पन्न हो गया। अपनी वंचनाओं की व्यथा से साक्षात्कार करने, स्वत्व को पुनर्स्थापित करने, जीवन के मूल्यों को निर्धारित करने तथा मूल्यों को नए परिणामों से जोड़ने की अपेक्षा एवं प्रयास ने मुझे अत्यंत प्रभावित किया।

रजनी बाबू मुख्य रूप से एक बाल साहित्यकार थे। आज के बच्चों एवं युवा पीढ़ी को लेकर वह बहुत चिंतित रहा करते थे। घूम-फिरकर उनकी चर्चा में बाल व युवा वर्ग आ ही जाता था। एक बार ऐसे ही चिंतन की मुद्रा में उन्होंने कहा, "सिद्धेश्वर जी! आज बाल व युवा किस दिशा में जा रहे हैं?" मैंने उन्हें थोड़ा कुरेदा। बोला, "रजनी बाबू! अब ज़माना करवट ले रहा है।" वह आक्रामक होते हुए बोले, "क्या ख़ाक ज़माना बदल रहा है, ज़माना नहीं हमारे मूल्य बदल रहे हैं, मान्यताएँ बदल रही हैं।"

रजनी बाबू बड़ी शिद्दत से महसूस करते थे कि बच्चों के बालमन, उनकी बचपना, हिंसा और अपसंस्कृति फैलाती इलेक्ट्रॉनिक बिंबों के कारणों से कैसे बचाया जाए। उनकी इस चिंता से हम वाक़िफ़ हैं कि प्रतिस्पद्धात्मक समाज में आशा से अधिक उम्मीद संजोए अभिभावकों की बच्चों को उनके नैसर्गिक प्रकृति से दूर रखने की मानसिकता ने दूरदर्शन की सार्वभौमिकता को ग्राहक बना दिया है। बच्चों पर दायित्व बढ़े हैं और उनसे अपेक्षाएँ भी बदली हैं। ऐसे में उनकी चिंता यह थी कि बच्चों में बढ़ती जिज्ञासाओं को ध्यान में रखते हुए उनकी बौद्धिक एवं मानसिक खुराक की पूर्ति समृद्ध बाल साहित्य से की जानी चाहिए और बदलते परिवेश एवं बदलते मिज़ाज के साथ बाल

साहित्यकारों को भी किसी नएपन की आस जगानी चाहिए। यही नहीं बाल-साहित्य के लिए लिखी जाने वाली सामग्री हाइटेक और कंप्यूटरीकृत ज़माने के बच्चों के लायक़ सर्वथा उपयुक्त होनी चाहिए, ताकि बच्चे एक ओर तो समाज-संस्कृति से जुड़ सकें और दूसरी ओर वे सामाजिक-वैज्ञानिक बदलावों से भी अवगत होते रहें।

रजनी बाबू कहा करते थे कि बालक का जीवन निर्माण का जीवन है। अतः बाल-साहित्य के माध्यम से बालकों को ज़्यादा से ज़्यादा नैतिक आदर्शों और मूल्यों की शिक्षा दी जानी चाहिए, जिसका आज की शिक्षा में अभाव है। यही कारण है कि आज बाल पाठक कॉमिक्स से इतने अधिक प्रभावित हैं कि स्वस्थ साहित्य पर आधारित पत्र-पत्रिकाओं के प्रति बालकों का लगाव कम हो गया है। अभिभावक अज्ञानवश बालकों को अनपेक्षित कॉमिक्स से अलग नहीं कर पा रहे हैं, इसलिए रजनी बाबू अधिकाधिक मौलिक बाल साहित्य के लेखन की आवश्यकता पर बल देते रहे।

रजनी बाबू का सारा जीवन एक कर्मयोगी की तरह लक्ष्यनिष्ठ था। बाल साहित्य के काव्य पक्ष को उनके शिशु और बाल गीतों ने प्रसिद्धि दिलाई। बालकों के लिए उन्होंने विज्ञानपरक गीत देकर बहुत कुछ सफलता प्राप्त की थी।

रजनी बाबू की प्रसिद्ध बाल पुस्तकों में इक्कीसवीं सदी के पूर्व की गूँज, संतों के संदेश और गुनगुनाते बच्चे उल्लेखनीय हैं। उनके गीतों को सत्य की तलाश कैसेट में संजोया गया है, जिसके गीतकार पंडित श्यामदास मिश्र हैं।

एक बाल साहित्यकार होने के साथ ही वे कभी-कभी संगोष्ठियों का आयोजन कर नई-पुरानी पीढ़ी के रचनाकारों और शिक्षकों का सम्मान भी करते थे और उसी संगोष्ठी में अपने गीतों पर बने कैसेट्स भी सुनवाते थे। उनका जीवन अँग्रेज़ी तथा हिंदी की आधुनिक और अद्यतन जानकारियों से परिपूर्ण था। इसके अतिरिक्त वे सांस्कतिक और संस्कार-संपन्न थे। आख़िर तभी तो संगीत के मर्मज्ञ श्री श्यामदास मिश्र उनके समीप बैठकर अक्सर हर संगीत पर चर्चा किया करते थे। श्री मिश्र ने रजनी बाबू के बताए गीतों को कैसेट्स में संगीतबद्ध किया था।बाल-साहित्य उनकी प्राथमिकताओं में से सर्वोपरि था। उसमें भी बाल गीत व कविता में उनकी विशेष अभिरुचि थी। बाल गीत से न सिर्फ़ वे जुड़े थे, बल्कि उसे पल-पल जीते रहे। उनके भीतर बच्चों के प्रति एक विराट हलचल थी जिससे वह अपने पोपल मुँह के स्फुट स्वरों में बाँधने की कोशिश कर रहे थे।

साहित्य में गुटबंदी को लेकर मेरी उनके चर्चाएँ होती रहती थीं। उन्हें बार-बार लगता था कि साहित्य में गुटबंदी हो रही है, क्षेत्रीयतावाद पनप रहा है और चाटुकारिता प्रमुख हो गया है।

रजनी बाबू एक ऐसे कवि थे, जिन्होंने बाल गीत को जीवन-साधना का काम माना और बराबर सृजनरत रहे। जीवन के आख़िरी वर्षों में अपने पुत्रों ख़ासकर बड़े पुत्र शशि के साथ पटना के पार्क रोड स्थित मकान में पड़े रहे और उनका मन जहाज के पंछी की तरह अंततः बालकविताओं में ही रमता रहा। उनकी मैत्री साहित्य व समाज की दुनिया में कम लोगों से थी, पर उनसे उनका वास्ता आजीवन बना रहा। प्रो॰ राम बुझावन बाबू के अतिरिक्त उन खुशनसीब लोगों में से एक मैं भी था। इस लिहाज़ से जनवरी, 2005 ई॰ में जब मैं दिल्ली से पटना लौटा, तो राम बुझावन बाबू से उनकी मृत्यु की ख़बर सुनना मेरे लिए आघात जैसी थी, कहते हैं - अटूट संबंधों को नियति उससे अधिक पहचानती है। एक बार उन्होंने बहुत विकल और आर्द्र होकर कहा था - "सिद्धेश्वर जी! जिन हालात में मैं रह रहा हूँ, उनमें मैं जीवित कैसे हूँ, खुद मेरी समझ में नहीं आता, क्योंकि क़ायदे से तो जिन हालात में हूँ, उनमें मुझे जीवित नहीं रहना चाहिए था ..."

रजनी बाबू अपने यशस्वी जीवन काल में एक लंबे समय तक साहित्य एवं पत्रकारिता से जुड़े रहे। अपने आकर्षक और व्यवहार-कुशल व्यक्तित्व, उत्कृष्ट बाल गीत सर्जना और प्रभावपूर्ण वाक्य-शैली के माध्यम से वे सामाजिक एवं साहित्यिक मंचों पर सदैव आदर और सम्मान के साथ सुने जाते थे। उन्होंने अपने जीवन काल में प्रेस से जुड़े होने के कारण प्रेस मालिकों तथा उनके कर्मचारियों से भी अच्छे ताल्लुक़ रखे। रजनी बाबू के बारे में एक बात दो टूक शब्दों में कही जा सकती है कि वह शुरू से लेकर देहावसान के पूर्व तक 'स्वतंत्र पथ' के पथिक रहे। बड़ी-बड़ी बातें करने की बजाय, अपने अनुभवों पर ज़्यादा भरोसा करते थे और सदैव चिंतनशील रहे। ऐसे समय में जब वे बहुत कुछ भुलाकर अब जा चुके हैं उनकी कृतियों को एक बार फिर पढ़ना, अजीब-सी करुणा से भर देता है। इसलिए कि एक ओर ये कृतियाँ उनके कठिन संबंधों की गवाही देती जान पड़ती हैं तो दूसरी ओर पता चलता है कि वे अनुभव कितने मूल्यवान थे जिनसे गुज़रकर उन्होंने इन्हें लिखा होगा। सच तो यह है कि आज के निरंतर नीले पड़ते संबंधों के दौर में जबकि असली जीवन रस बहुत कम रह गया है, रजनी बाबू की कृतियों एवं समय-समय पर लिखे गए उनके आलेखों को पढ़ना एक गहरी

आदरभावना या सघन अनुभूतियों से जुड़ जाने जैसा है। वह पूरी तरह एक सामाजिक एवं पारिवारिक व्यक्ति थे और उन तमाम सभ्य लोगों से अलग थे, जो अहं से जीवन भर लिपटे रहना चाहते हैं। आप कह सकते हैं कि समाज रजनी बाबू की सोच और संवेदना के केंद्र थे।

रजनी बाबू जीवन के अंतिम दशक में काफ़ी अस्वस्थ रहे। उन्होंने इस अवधि में भयंकर दारुण स्थितियाँ देखीं और उन्हें भोगा भी, किंतु देखे-भोगे हुए को भी तटस्थ रहकर सदैव वही दिखाने की कोशिश करते रहे जिसे नंगी आँखें या कैमरे का लेंस नहीं पकड़ पाता। जब भी उनके समीप घंटों बैठकर मैंने उनकी बातें सुनीं वे तमाम मानवीय संस्कारों, उनके स्वार्थी और परोपकारी मनोवृत्तियों को जगाने वाली बातें करते रहते थे। कठोर पठारों के भीतर से निकाला गया अर्क़ जो विपरीत से विपरीत परिस्थितियों की अग्नि-परीक्षा से तप जाए, वहीं ज़िंदगी के मायने समझा जा सकता है। वही मनुष्य को मनुष्य के द्वारा समझे जाने का माध्यम हो सकता है, सामाजिक संदर्भ में वही तप उपेक्षित ज़िंदगी जी रहे उन करोड़ों लोगों का साक्षात्कार करा सकता है, जो रजनीकांत सिन्हा के सान्निध्य में रहा है। संवेदना सुने और देखे हुए से जाग्रत हो सकती है, भोगा हुआ उन्हें गहराता है। नि:शब्द की संगीतात्मकता को वही मर्म तक पहुँचा सकता है।

अपनी तमाम शारीरिक कठिनाइयों और पारिवारिक विसंगतियों के बावजूद रजनीकांत बाबू में मेहमाननवाज़ी ग़ज़ब की थी। उनके घर जब भी मैं अपने कुछ मत्रों के साथ गया या कोई भी लेखक अथवा सामाजिक कार्यकर्ता जाता उसे अल्पाहर के साथ चाय अवश्य पिलाते थे। मेरा न जाने कितना वक़्त उनके साथ साहित्य, समाज तथा पत्रकारिता की चर्चा करते हुए उनके शयन-कक्ष में गुज़रा। शायद मेरी उपस्थिति से वे थोड़ी-बहुत राहत पाते थे और तनाव से मुक्त हो लिया करते थे।

ज्ञान विकास केंद्र द्वारा प्रकाशित रजनीकांत बाबू की बाल रचनाओं में गुनगुनाते बच्चे, संतों के संदेश तथा इक्कीसवीं सदी के पूर्व की गूँज उल्लेखनीय हैं। ज्ञान विकास केंद्र के निदेशक श्री सिन्हा ने इक्कीसवीं सदी के पूर्व की गूँज को भारतीय बच्चों के तृतीय उपहार के रूप में केंद्र की इस पुस्तक में कहा कि आज़ादी के पूर्व तक भारतीय बच्चों के मस्तिष्क में अँग्रेज़ी हुकूमत ने दासवृति के बीज को उनकी शिक्षा व्यवस्था के ढाँचे की संरचना में ही बो कर उनके ख़ून में ही दासवृत्ति के विष घोल दिए थे जिसे आज़ादी के बाद अकेले गाँधी जी ने समझा और उन्होंने सबसे पहले भारतीय

शिक्षा के ढाँचे में ही श्रम के आधार पर रोटी कमाने वाली शिक्षा-व्यवस्था की संरचना करना अपना धर्म समझा और उन्होंने इस बुनियादी शिक्षा व्यवस्था के नाम से देश में शिक्षा व्यवस्था चालू करने की अनुशंसा की। किंतु गाँधी जी के निधन के बाद सभी बुनियादी विद्यालय उपेक्षा के शिकार होते चले गए। फिर जब जनप्रतिनिधि तथा शासक वर्ग ही सामंतवादी संस्कृति के पोषक हो गए और शिक्षा के मंदिर ही गंदी राजनीति एवं गुंडागर्दी के केंद्र बन गए तब पानी की सतह आज नाक के नीचे तक पहुँच चुकी है। ऐसी स्थिति में राजनेताओं क गले से तरह-तरह के स्वर, जो इस पुस्तक में रचनाकार रजनीकांत सिन्हा द्वारा व्यक्त हुए हैं को भारतीय बच्चे इसे पुष्पमाला में सुन सकते हैं। श्री सिन्हा की धारणा थी कि बच्चे ही देश की संस्कृति और उसकी विरासत को अक्षुण्ण बनाए रख सकते हैं, बशर्ते उनको दी जाने वाली शिक्षा में मॉडल की संरचना में ही उक्त तत्त्व को समाहित कर दिया जाए। उनका मानना था कि आज अक्सर बच्चे स्कूल जाना नहीं चाहते या स्कूल जाकर भी आधा से अधिक बच्चे स्कूल छोड़ देते हैं। इसका कारण ग़रीबी के साथ-साथ स्कूली शिक्षा का उबाऊपन नीरस पाठ्यक्रम और भयावह परीक्षा प्रणाली है।

बाबू राधे सिंह के सुपुत्र रजनीकांत सिन्हा का जन्म नालंदा ज़िला के हरनौत प्रखण्ड में सन् 1919 में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा हरनौत में होने के पश्चात् बिहार टाउन स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा पास की। फिर बी॰एन॰ कॉलेज, पटना से आईएस॰ सी॰ करने के बाद राजनीति विज्ञान का अध्ययन किया। लगभग बीस वर्षों तक उच्च विद्यालय में शिक्षक पद पर काम करते हुए अपने विद्यालय की ओर से एन॰ सी॰ सी॰ ऑफ़िसर भी रहे। प्रेस से जुड़े रहने के कारण न केवल बिहार मुद्रक परिषद् के उप सभापति के पद पर कई वर्षों तक आसीन रहे, बल्कि परिषद् द्वारा संचालित मुद्रक तकनीकी प्रशिक्षण संस्थान का इन्हें प्राचार्य भी बनाया गया।

अमर कथा शिल्पी फणीश्वर नाथ रेणु की स्मृति में प्रकाशित ग्रंथ-रेणु स्मरण और श्रद्धांजलि: तथा 'रेणु' कर्त्तव्य और कृतियाँ के प्रकाशन का श्रेय रजनी बाबू को जाता है। बिहार एवं मगध विश्व विद्यालय के कुलपति बी॰ एम॰ के सिन्हा की दो कृतियों- 'मेरी दुनिया' और 'टुवर्ड्स लाइट' के प्रकाशन में भी इनका उल्लेखनीय योगदान रहा।

रजनीकांत बाबू ने अपने पुत्र अरुण का विवाह कथा शिल्पी रेणु तथा श्रीमती पद्मा रेणु की दूसरी सुपुत्री नवनीता के साथ बिना किसी तिलक-दहेज

के रचाकर एक उदाहरण प्रस्तुत किया। मुझे अच्छी तरह याद है कि इस शादी के अवसर पर लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने उपहार एवं आशीर्वाद स्वरूप वर-वधू को एक घड़ी भेंट की थी।

रजनी बाबू ने जो कुछ भी सोचा, समझा, उसके पीछे उनके जीवन का अनुभव था। उनकी कृतियों में जो कुछ भी है नितांत उनका अपना मौलिक है। वह उनके अनुभव का, उनके अपने जीवन-दर्शन का साहित्य है, उन अनुभवों से गुज़रना रोमांचकारी है। निश्चय ही समाज व साहित्य को आज जिस विपरीत परिस्थितियों से गुज़रना पड़ रहा है उसे देखने के लिए रजनीकांत बाबू नहीं बचे हैं और संभवतः हममें से कई लोग इस परिस्थिति की परिघटना को घटते देखने के लिए मौजूद नहीं रहेंगे, पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि आने वाली पीढ़ियाँ मौजूदा अन्याय को पहचानने और प्रतिकार करने में देर नहीं लगाएँगी। सच मानिए, रजनी बाबू की मृत्यु जैसे हममें नई चेतना जाग्रत करने और समाज, साहित्य तथा देश के प्रति और अधिक सोचने और करने के लिए ललकार रही है। इस मायने में मैं उनके प्रति श्रद्धावनत् हूँ और श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

❖❖❖

गोपाल सिंह 'नेपाली' : जो हिंदी साहित्य में स्वाधीन क़लम के अकेले सिपाही थ

यों तो साहित्य में क़लम के सिपाही अनेक हुए, मगर गोपाल सिंह 'नेपाली' हिंदी साहित्य में स्वाधीन क़लम के अकेले सिपाही थे। राष्ट्रीयता का जो स्वर उनकी कविता में मुखरित हुआ उसस कवि 'नेपाली' की स्वाधीन क़लम से निकली निम्नांकित पंक्तियों में इतिहास बदलने की ललक झलकती है –

पंद्रह अगस्त के दिन की जिसकी नीव पड़ी।
उस प्रजातंत्र की रखवाली में क़लम खड़ी।
ना मानो तो विश्वास बदलने वाले हैं।
हम तो कवि हैं, इतिहास बदलने वाले हैं।

साहित्य-सृजन की जन्मजात क्षमता लिए 'नेपाली' कभी गुटबंदी-दलबंदी के दलदल में नहीं फँसे और न ही राजनेताओं की नज़र चढ़कर राज्यसभा या विधान परिषद् के सदस्य ही बने। साहित्य में पनपती राजनीति देखकर ही 'नेपाली' का अंतर्मन खौल उठता था। वे कहते हैं –

लिखता हूँ अपनी मर्ज़ी से,
बचता हूँ कैंची दर्ज़ी से।
आदत न रही कुछ लिखने की,
निंदा-वंदना ख़ुदग़र्ज़ी से।
कोई छेड़े तो तन जाती है,
बन जाती है संगीन क़लम,
मेरा धन है स्वाधीन क़लम।

गोपाल सिंह 'नेपाली' में प्रकृति के प्रति संवेदना गहरा दिखाई देती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन्होंने अपने सैनिक पिता के साथ देश-देशांतर का भ्रमण किया और इनका अधिकांश समय प्रकृति की मनोरम गोद में बीता; प्राकृतिक सुषमा में रहकर ही तो 'नेपाली' ने अपनी आरंभिक कविता लिखी –

पीपल के पत्ते गोल-गोल,
कुछ कहते रहते डोल-डोल।

यह लघु सरिता का बहता जल,
कितना शीतल-कितना निर्मल।

....

दे ह रा दू न के म धु र बे र,
जंगल में मिलते ढेर-ढेर।

इन रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि 'नेपाली' के मन में सौंदर्य के प्रति जो आकर्षण उत्पन्न हुआ, उसमें प्रकृति से ही उन्हें प्रेरणा मिली। प्राकृतिक छटा के अंतर्गत रसभोने पावस में उनकी प्रसिद्ध कविता -'इस रिमझिम में चाँद हँसा है' की कुछ रसभीनी पंक्तियों को आप भी देखें-

अजब शोख़ यह बूँदा-बाँदी, पत्तों में घनश्याम बसा है,
झाँकें इन बूँदों से तारे, इस रिमझिम में चाँद हँसा है।

पड़ोसी देश नेपाल से सटे बेतिया, प० चंपारण की मिट्टी में उगे छतबहार के पौधे की छतनार छाया में 11 अगस्त, 1911 ई० को काली दरबार (नेपाली रानी महल) में एक निर्धन परिवार में जन्मे गोपाल सिंह 'नेपाली' जीवन भर अभाव में ही यहाँ से वहाँ भटकते रहे, एक बनजारे की तरह, किंतु अपनी क्षमता और प्रतिभा के ज़रिए छायावादोत्तर काल के कवियों में वे काफ़ी चर्चित हुए। उनकी कविताएँ कल्पना के पंख पर सवार होते हुए भी यथार्थ से जुड़ी रहीं। उनकी रचनाएँ यथार्थोन्मुख आदर्शा के बुनियादी ढाँचे में अपने युगबोध को लेकर साहित्य-जगत में आकर ग्रहण करती दिख पड़ती हैं। 16 वर्ष की उम्र से ही साहित्य-साधना की शुरुआत करने वाले कवि 'नेपाली' ने उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं की क्योंकि शुरू से ही वे अभाव, अकेलापन, तिरस्कार और घृणा की वजह से व्यथा झेलते रहे। फिर भी वे अंत:करण की चपेट में आकर अपनी ज़िंदगी से निराश नहीं हुए और सदैव उमंग-उल्लास के हिलोरे में हिचकोल खाते रहे। पूरी ज़िंदगी व्यथा के घटाटोप में रहकर अपने तन-मन की रस-माधुरी से प्रकृति के पोर-पोर में वे रस लेते रहे।

अल्प आयु में माता सरस्वती देवी के देहावसान के बाद मातृ-ममता और प्यार से 'नेपाली' वंचित रहे। इनके पिता रेल बहादुर सिंह भारतीय सेना में अधिकारी के पद पर फ्रांस में पदस्थापित थे। वहाँ से स्वदेश वापस आने के बाद देहरादून, मसूरी और पेशावर में जब पदस्थापित हुए, तब 'नेपाली' अपने छोटे भाई बंबहादुर के साथ सैनिक छावनी में पलते रहे जहाँ से उनकी विमाता भी इन्हें छोड़कर अपने भाई के साथ बर्मा चली गई और फिर वापस

नहीं आई। इसके परिणाम-स्वरूप 'नेपाली' मैट्रिक की परीक्षा भी उतीर्ण नहीं कर सके। बेतिया में 'नेपाली की कोठी' में जन्म लेने के कारण इनके नाम के साथ नेपाली जुड़ गया।

देहरादून और मसूरी के प्राकृतिक परिवेश में तथा बेतिया के बीहड़ जंगलों के बीच घाटियों एवं निर्झरों की कल-कल, छल-छल जलधारा के संग व्यतीत किए गए 'नेपाली' के नाम 24 फ़रवरी, 1934 ई॰ को लिखे पत्र में छायावाद के सुप्रसिद्ध कवि सुमित्रानंदन पंत ने 'नेपाली' के प्रकृति-प्रदत्त वातावरण का एहसास कराया है -

प्रिय 'नेपाली' जी,

"आपकी कविताएँ मुझे विशेष प्रिय हैं। उनकी पंक्तियों के अवलोकन से मैं बहुत पहले से ही परिचित हूँ। आपका सरस्वती स्नेह, सहृदयता और सौंदर्य की सजीव प्रतिमा है। आपका कवि कंठ 'निर्मल निर्झर के समान' अवश्य ही 'मसूरी' की तलहटी से फूटा होगा। इसलिए आपकी कविताओं में जो उन्मुक्त वातावरण एवं स्निग्ध अनिलातप मिलता है, वह पाठक की हृदय खिड़की खोल उसे 'नरम दूब' बिछी राहों से विलास की मसूरी से 'जंगल की मसूरी' में ले जाकर प्रकृति की मनोरम क्रीड़ा भूमि में छोड़ देता है, जहाँ जंगल की हरियाली 'आँचल पसार' कर उसका स्वागत करती है।"

आपका

सुमित्रानंदन पंत

कवि 'नेपाली' की कविताओं में प्रेम, रूप, शृंगार, विरह, मिलन, प्यास और दरस-परस की जो आकुलता अभिव्यक्त हुई है, वह मन को मोहित करती है। रानी-सौंदर्य के जिस रूप का चित्रण उन्होंने अपनी कविता में किया है उससे उनकी कविता प्रभावोत्पादक बन जाती है। देखें आप इन पंक्तियों को -

ओ मृगनेनी ओ पिकबैनी, तेरे सामने मधुर बंसुरिया झूठी है।
अंग-अंग में इतना रंग भरा, रंगीन चुनरिया झूठी है।
है दरस-परस इतना शीतल, शरीर नहीं है शबनम है।
गोरी तेरा मुखड़ा इतना गोरा, बिना चाँद का पूनम है।
मौस अलके-पलके इतनी काली, घनश्याम बदरिया झूठी है।
मौसम सच्चा, तू भी सच्ची, यह सकल बजरिया झूठी है।

वैसे तो राष्ट्रीय धारा के कवियों में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर', सियारामशरण गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा

'नवीन', सुब्रह्मण्यम भारती आदि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है, किंतु उत्तर छायावाद के राष्ट्रीय धारा के कवियों में गोपाल सिंह 'नेपाली' का क़द भी कम ऊँचा नहीं है। नजरिया, चुनरिया, डगरिया, बदरिया जैसे ठेठ हिंदी शब्दों का प्रयोग कर आधुनिक हिंदी काव्य में गीति-परंपरा को कवि 'नेपाली' ने जन्म दिया तथा कविता को ऊँचाई दी। इसी वजह से ये गीतों के राजकुमार कहे जाते हैं। उनकी कविता मंचों से बोलती थी और श्रोताओं के संग झूमती थी। सन् 1932 ई॰ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अभिनंदन समारोह के अवसर पर वाराणसी की काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सभागार में आयोजित एक विराट कवि-सम्मेलन में उपस्थित एक सौ पंद्रह कवियों में 'नेपाली' भी एक थे। कहा जाता है कि इस अभिनंदन समारोह में जहाँ दरभंगा, काशी ओरछा तथा हथुआ के नरेश विराजमान थे, वहीं कवि-सम्मेलन में मैथिलीशरण गुप्त, शिवपूजन सहाय, श्यामसुंदर दास, 'निराला' आदि साहित्यिक स्वनाम धन्य हस्ताक्षर भी मंचासीन थे। इस कवि सम्मेलन में जब गोपाल सिंह 'नेपाली' ने जीवन में पहली बार कविता का पाठ किया, तो वे ही सबसे अधिक चर्चित हुए। बस क्या था उसी दिन से उनकी साहित्यिक-यात्रा प्रारंभ हुई और देखते-देखते वे साहित्य के क्षितिज पर सर्वत्र छा गए।

'मनुष्य माँगता यही, यही नुष्य माँगता,
कि हो समाज में मुनष्य की समानता।

मनुष्य की समानता का गीत गाने वाले और वर्गहीन साम्यवादी समाज का सपना देखने वाले हिंदी के सुप्रसिद्ध प्रगतिशील कवि-गीतकार गोपाल सिंह नेपाली का प्रिय जन्मशताब्दी वर्ष मनाया गया।

गीत नेपाली की सर्वाधिक विधा है। हिंदी कविता में गीत की नई एवं अनूठी शैली के प्रवर्तक नेपाली छायावादोत्तर हिंदी कविता में नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा लेकर आने वालों में अग्रणी रहे हैं। वे अपने एक गीत में नए संसार की कल्पना करते हुए कहते हैं-

सड़ी-गली प्राचीन रूढ़ि के भवन गिरेंगे, दुर्ग ढहंगे
युग प्रवाह पर कटे वृक्ष से दुनिया भर के ढोह बहेंगे
पतित-दलित मस्तक ऊँचा कर संघर्षों की कथा कहेंगे
और मनुज के लिए मनुज के द्वार खुले के खुले रहेंगे
वह दिन आने वाला होगा, नए रंग का, नए ढंग का
एक नया संसार तरुण बनाएगा रच-रचकर एक नया संसार।

निःसंदेह नेपाली का काव्य मानव जीवन को सुखी और सुंदर बनाता

है। आर्थिक संकेतों और फिल्मों में घाटा झेलने के बावजूद कभी कवि नेपाली की कलम ने अपने संकेतों का रोना नहीं रोया। आज शताब्दी वर्ष में सबके साथ नेपाली के साथ भी न्याय करें। जो कवि चीन युद्ध के समय नगर-नगर घूमकर लोगों में अलख जगाने का साहस करे, जिसने लोकमानस में उतरने के लिए अपने अलग रूह तैयार की जिसकी कविता-हिमालय ने पुकारा' एक बड़े मोड़ का परिचायक बनी, जिन्हें बॉलीवुड की दुनिया बाँध कर न रख सकी, जो अपनी जवाबदेही से विमुख न रह सके और जनता-जनार्दन एवं राष्ट्र के स्वाभिमान को जगाने के लिए काव्य मंचों को समर्पित हो गए उस कवि नेपाली की जन्मशदी पर उनके प्रति सम्मान व श्रद्धा का भाव अर्पित करना हम साहित्यकारों का पुनीत कर्त्तव्य बनता है।

यद्यपि देशभक्ति और क्रांतिकारी गीतों के नेपाली का दौर फिल्मों से वापसी के बाद शरू होता है, पर फिल्मों में उनके लिखे गीतों ने जनमानस में एक गहरी छाप छोड़ी। बोलचाल की लय में ढले उनके गीतों के बोलों को सुनकर एक फिल्म के सेट पर उस समय की प्रसिद्ध अभिनेत्री नसीमा बानो ने यह प्रतिक्रिया व्यक्त की थी कि मैं तो समझती थी कि उर्दू ही सबसे मीठी जुबान है, लकिन आज पता चला कि हिंदी से मीठी कोई जुबान नहीं है। नेपाली के अनेक फिल्मों के लिए तकरीबन 300 गीत लिखें, किंतु फिल्म जगत से कोई समझौता नहीं किया।

चीन के साथ युद्ध के समय कवि नेपाली ने दुशमन को बुरी तरह ललकारा और समस्त देशवासियों को उठ खड़े हाने का आहवान किया। उनकी रचना 'चलो भई बोम दिला' गाते ही हजारों लोग एक साथ ताल देने लगते थे। वे मानते थे कि कवि छोटा-मोटा प्राणी नहीं, वह चाहे तो इतिहास बदल सकता है। देखें उनकी इन पंक्तियों को -

'हर क्रांति कलम से शुरू हुई संपूर्ण हुई,
चट्टानों जुल्म की, कलम, चल चली तो चूर्ण हुई
हम कलम चलाकर त्रस बदलने वाले हैं
हम तो कवि है इतिहास बदलने वाले हैं।

इस प्रकार गोपाल सिंह 'नेपाली' राष्ट्रकवि के आसन पर भले न विराजमान रहे हैं। मगर लोगों के दिलों के सिंहासन पर जरूरत आरूढ़ हुए।

नेपाली के प्रमाण गीत को सुनते ही धमनियों में लहू की गति तेज हो उठती थी, कुछ पंक्तियों को देखें-

भूला है पड़ोसी तो उसे प्यार से कह दो
लम्पट है लूटेरा तो ललकार के कह दो
जो मुँह से कहा है वही तलवार कह दो
और न कोई लूटे भारत को दूबारा
चालीस करोड़ों को हिमालय ने पुकारा

इस गीत को सुनकर राष्ट्रपति जाकिर हुसैन ने कवि नेपाली को बध ाई देते हुए कहा था कि इस कविता को हिंदी और उर्दू में छपाकर सारे भारत में बँटवा देना चाहिए।

गोपाल सिंह 'नेपाली' जिस व्यापक सौंदर्य चेतना और रूप वैभव के कवि हैं वह उन्हें छायावादी की नहीं, उत्तरछायावादी कवियों में भी प्रकृति के सबसे अनूठे कवि के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए यथेष्ट है। प्रकृति का शायद ही कोई कवि, इसकी कोई घटना या कोई परिवर्तन, कोई प्रखर कवि की कलम का संस्पर्श पाकर सजीव न हो उठा तो प्रकृति के साथ कवि को ऐसा आत्मीय और अंतरंग अपनत्व कि वह स्वयं ही प्रकृतिमय हो जाता है। उनकी निर्मण गान की निम्न पंक्तियों को देखें आप-

बना मैं झर-झर निर्भर रूप और जीवन बहता जल हुआ
हँस मैं उन्मुक्तों की हँसी, फूल जल बुंद-बुंद से झरे
सहज मेरी गाग से आज, लबालब कितने सागर भरे
चला मैं हटा-हटा उद्भ्रांत, तटों पर फैला हाहाकार
गजरता था, धारों में उदधि, बूंद में घूंघरू की झनकार।

गोपाल सिंह नेपाली का संपूर्ण जीवन संघर्षशीलता का पर्याय रहा। उन्होंने अनवरत संघर्षरत रहकर अनेक शिखरों का स्पर्श किया। फलस्वरूप उनकी रचनाओं में जीवटता, आशावादिता, यौवन की मादकता व अदम्य जिजीविषा के दर्शन होते हैं। सही मायने में नेपाली स्वाभिमानी कवि थे। उन्होंने आजीवन गलत कार्यों का विरोध किया। सन् 1935 में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन की स्थाई समिति के सदस्यों का जब चुनाव हो रहा था, तो अध्यक्ष गाँधी जी चरखा चला रहे थे और उन्होंने पूछा था- महात्मा जी सभापति आप हैं या प्रिंसिपल खन्ना?'' बापू ने खन्ना को डाँटते हुए मंच से नीचे उतर कर जब खुद चुनाव कराया तो नेपाली जी रेकर्ड मतों से विजयी हुए। हाजिरजवाबी नेपाली जी में कूट-कूटकर भरी थी। राजेन्द्र कॉलेज, छपरा के एक कवि सम्मेल में राष्ट्रकवि दिनकर ने मेर नगपति मेरे विशाल कविता का पाठ किया था। जब

नेपाली जी की बारी आई, तो उन्होंने एक ऐसी कविता पढ़ी जिसमें दिल्ली, पटना, पेशावर की चर्चा थी। दिनकर जी ने मजाक किया था- वाह वाह वाह! यह कविता है या ज्योग्राफी। नेपाली जी ने तपाक से कहा-जी, आपने हिस्ट्री सुनाई थी, मैंने ज्योग्राफी सुना दी! इस प्रकार आकाशवाणी, दिल्ली के प्रोड्यूसर इलोचंद्र जोशी द्वारा आयोजित एक राष्ट्रकवि सम्मेलन में आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री के काव्य-पाठ के बाद जब रस के प्रख्यात कवि श्याम नारायण पांडेय ने नेपाली जी से पूछा था- क्यों भाई! कैसी लगी शास्त्री जी की कविता? नेपाली जी ने मुस्कान बिखेरते हुए कहा था 'बहुत खूब'! ऐसा लग रहा था जैसे हाथी सीटी बजा रहा हो!

ईमान बेचकर सत्ता पर काबिज होना और महलों का सुख भोगना उन्हें स्वीकार न था। देखें उनकी कविता की इन पंक्तियों को -

''तुम सा लहरों में बहता, तो मैं भी सत्ता गह लेता, ईमान बेचता चलता, तो मै भी महलों में रह लेता।

हिंदी साहित्य में गोपाल सिंह नेपाली ने प्रतिरोधात्मक संस्कृति को जन्म देकर दृढ़ता और साहस के साथ चुनौतियों से लड़ने की सलाह दी। चाहे वह चुनौति आंतरिक कारणों से हो अथवा बाह्य कारणों से हर हालत में प्रतिरोधकों को वे जायज ठहराते थे। शांति के लिए कबूतर उड़ाने की बात को खारिज करके 1956 में ही सावधानी बरतने की सलाह देते हुए नेपाली कहते हैं, ओ राही दिल्ली जाना, तो कहना अपनी सरकार से,- वक्तव्य लिखो कि विरोध करो, यह भी कागज वह भी कागज। कब नाव राष्ट्र की पार लगियों कागज की पतवार से।

इस प्रकार कवि नेपाली ने अपने गीतों में जो कुछ लिखा, बेबाक और साहस के साथ सच लिखा। उसमें किसी को भरमाने की थोड़ी भी गुंजाइश नहीं थी। प्रारंभ से अंत तक एवं चरित्र एक, चेहरा एक और एक ही चाल बनी रही। उनका लेखन स्वतंत्र था और किसी दबाव से दूर, देखें-

''ओरों की कलम चिलम जैसी, फैलाए धुआँ भरम जैसी

पर मेरे पास कलम ऐसी, उड़ने को उड़ जाए नभ में, पर छोड़े नहीं जमीन कलम, मेरा धन है स्वाधीन कलम।

दलबंदी से दूर नेपाली बिकने वाला गीतकार नहीं थे। इसीलिए वे भीड़ में भी अकेले थे, सियासी दल से उनका कोंई सरोकार न था-

अपनापन का मतवाला था, भीड़ में भी मैं खो न सका, चाहे जिस दल में मिल जाउँ सस्ता हो न सका, राष्ट्र और राष्ट्रीयता नेपाली जी के लिए

सर्वोपरि थी। उनके जीवन का एक ही लक्ष्य था राष्ट्र।

देशभक्ति की भावना उनमें कूट-कूठकर भरी हुई थी। देश को कमजोर बनाकर मिटा न सके, इसके लिए वे सतत् जागरूक बने रहे। देखें इनकी पंक्तियों को -

हुआ देश खातिर जनम है हमारा कवि है तड़पता है हमारा,
कि कमजोर पाकर मिटा दे न कोई इसी से जागना धरम है हमारा

नेपाली जी जीवन भर देश के लिए जागते रहे और देशवासियों को जगाते रहे। राष्ट्रीय एकता और अखंडता के लिए गीतों की लड़ियाँ गूँथते रहे। वे सांप्रदायिक एकता को बनाए रखने के लिए प्रेरणास्पद गीत लिखते रहे-

हिंदू मुस्लिम क्रिस्तान है, लेकिन पहले इंसान है
है सिक्ख यही, पारसी रही जो है मिलन की शान है

जग और जागरण का गीत गाने वाला गीत-गंधर्व गोपाल सिंह नेपाली 17 अप्रैल 1963 को एकचारी ग्राम में ट्रेन द्वारा भागलपुर वापस लौटते समय भागलपुर रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म नं. 2 पर शाश्वत मौन साधना में लीन हो गया, किंतु पचास साल गुजरने के बाद भी ऐसा लगता है कि आज भी नेपाली समाज और सत्ता के सामने उपस्थित होकर जीवंत प्रश्नों का उत्तर माँगते हुए बहस कर रहे हैं-

चर्चा तो सदियों से है पर हर कुटी अटारी कब होगी
जो क्रांति पली झोपड़ियों वह राजदुलारी कब होगी
घर-घर का तिमिर बुझाने को जो दीप बुझे वे पूछ रहे
अब मूझको जलना नहीं पड़े ऐसा उजियारी कब होगी।

देश के उत्थान के लिए और जनता के प्रति नेपाली जी की जो भावना भी वह आज भी प्रासंगिक है।

उन्होंने जो जागरण एवं जन जागृति की वह सब आज यथार्थ है। अपनी कविताओं के माध्यम से नेपाली जी ने जो सावधानियाँ बरतने को कही थी और चेतावनी दी थी वे सब आज स्पष्ट झलक रही है।

राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक सरोकार, श्रृंगार प्रकृति के साथ-साथ जीवन के यथार्थ तक ही नेपाली जी की कविताएं सीमित नहीं थी, बल्कि उनकी रचनाओं में गाँव की खुशबू भी मिलती है। अपने देश की गरीब जनता के शोषण, अन्याय, भेदभाव, उच्च्च-नीच और आर्थिक विषमताओं से कवि नेपाली काफी दुखी रहते थे। आखिर तभी तो 1993 में छपे अपने प्रथम संकलन उमंग में वह कह उठते हैं-

लटक रहा है सुख कितनों का आज खेत के गन्नों में

भूखों के भगवान खड़े है दो-दो मुठी अन्नों में

कर जोड़े अपने घरवाली हमसे मिलो माँग हरे, किंतु देखते उनकी किस्मत हम पोली के पन्नों में

जिसका जीवन ही खप जाता है अपना दुखड़ा रोने में, छोड़ आँसू वह क्या है और आपके दाने में।

राष्ट्रकवि दिनकर, हरिवंश राय बच्चन, अज्ञेय, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल जैसे हिंदी के चर्चित साहित्यकारों-कवियों के समकालीन रहे गीतों के राजकुमार गोपाल सिंह नेपाली की भले ही जन्मशती मनाई जा रही हो, लेकिन साहित्यिक गलियारे में यह चर्चा आम है कि जो सम्मान अन्य साहित्यकारों को जन्मशती वर्ष पर मिल पाया। वह नेपाली को नहीं मिला।

सन् 1934 ई॰ में 'नेपाली' की कविताओं की ताज़गी और तेवर को देखकर, महाप्राण सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' 'नेपाली' में देदीप्यमान कवि की छवि निहारते हुए बोले-

''इधर दो वर्षों से नवीन तारकों के सदृश जितने कवि हिंदी के काव्याकाश में मुझे चमकते हुए दीख पड़े, सौंदर्य के सुख-स्पर्श-जादू से जिन्होंने मन को वशीभूत कर लिया तथा प्रकाश और तृप्ति दी, श्री गोपाल सिहं 'नेपाली' उन्हीं में से एक हैं।''

पत्रिकाओं के संपादन में 'नेपाली' की क़लम का कौशल देखने को मिलता है। मासिक पत्रिका 'सुधा' के संपादन विभाग से कुछ समय तक जुड़े रहने के बाद कवि 'नेपाली' ऋषभ चरण जैन के संपर्क में आए और इस क्रम में लखनऊ तथा दिल्ली आए। सन् 1934 ई॰ में दिल्ली की फ़िल्म पत्रिका 'चित्रपट' का उन्होंने संपादन किया। फिर सन् 1935 ई॰ में मध्य प्रदेश के रतलाम से प्रकाशित 'रतलाम टाइम्स' का उन्होंने संपादन किया जहाँ वे 1938 ई॰ तक रहे। सन् 1939 ई॰ में वे पटना से प्रकाशित साप्ताहिक पत्रिका 'योगी' का संपादन के क्रम में ब्रजशंकर वर्मा के सहयोगी बने। इस पत्रिका में वे बराबर 'बौड़मदास' के नाम से 'गोलघर के मुड़ेरे से' स्तंभ लिखते रहे। इस प्रकार लगभग सात-आठ वर्षों तक 'नेपाली' ने संपादन के क्षेत्र में अपनी कुशलता का परिचय देकर पत्रकारिता को एक नई दिशा और दृष्टि प्रदान की।

चित्रपट की दुनिया में 'नेपाली' जी के प्रवेश के पीछे भी एक कहानी छिपी है। सन् 1944 ई॰ में आयोजित एक कवि-सम्मेलन में जब

गोपाल सिंह 'नेपाली' कविता-पाठ कर रहे थे, तो संयोग से सम्मेलन में उपस्थित फ़िल्मी दुनिया की एक जानी-मानी अहंवादी हस्ती और अभिनेत्री काजल और रानी मुखर्जी के दादा तथा कंगन, बंधन, क़िस्मत, शहनाई और अनारकली जैसी सुप्रसिद्ध फ़िल्मों के निर्देशक शशिधर मुखर्जी की नज़र उनपर पड़ी, 'नेपाली' की कविताओं से प्रभावित श्री एस॰ मुखर्जी ने उन्हें फ़िल्मिस्तान नामक फ़िल्म निर्माण की संस्था में गीतकार नियुक्त किया और वे फिल्मों में रच-बस गए।

संवाद लेखक उपेन्द्रनाथ अश्क की फ़िल्म 'मज़दूर' में 'नेपाली' ने पहली बार गीतकार के रूप में उपस्थित हुए और संयोग यह रहा कि इस फ़िल्म के सभी गीत हिट हुए। यही नहीं बंगाल फ़िल्म जर्नलिस्ट एसोसियेशन ने 'नेपाली' को उस वर्ष के सर्वश्रेष्ठ गीतकार के रूप में पुरस्कृत किया। इस प्रकार वे आजीवन फ़िल्मों में गीत लिखते रहे और उन्होंने कुल 200 गीतों की रचना की। 'मज़दूर' के अतिरिक्त जिन फ़िल्मों में उनके गीतों को भुलाया नहीं जा सकता वे हैं 'बेगम', 'शिकारी', 'नागपंचमी', 'सफ़र', 'शिवभक्त' और 'तुलसीदास'। हिंदी फ़िल्मी गीतों को उन्होंने उर्दू शब्द की जगह ठेठ हिंदी का प्रयोग कर हिंदी कविता को लोकप्रियता के शिखर तक पहुँचाया, किंतु दुखद स्थिति तब आई जब फ़िल्मी दुनिया की चहारदीवारी में फँसे 'नेपाली' साहित्यकारों की मित्र-मंडली से अलग-थलग पड़ गए और फिर उनकी लोकप्रियता घटती गई। आख़िरकार सन् 1959 ई॰ में उन्हें मुंबई छोड़ना पड़ा। फ़िल्म की चकाचौंध भरी दुनिया में रहने से उनका स्वास्थ्य बिगड़ चुका था और 17 अप्रैल, 1963 ई॰ को गीतों का वह राजकुमार चाँद के उस पार चला गया। इस तरह गाँव से लेकर महानगर तक के सुख-दुःख के खट्टे-मीठे अनुभवों को साथ लेकर 'नेपाली' एक बनजारे की भाँति चल बसा अनजान जगह जहाँ से कोई भी पीछे मुड़कर नहीं देखता। कवि 'नेपाली' के जाने के साथ ही चले गए क़लम के सिपाही और गुम हो गई उनकी स्वाधीन क़लम।

'नेपाली' की स्वाधीन क़लम से जो रचनाएँ लिखी गई उनमें 'रागिनी', 'पंछी', 'हिमालय ने पुकारा' तथा 'उमंग' सहित उनकी सात काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हैं तथा असंख्य गीत पत्र-पत्रिकाओं की धरोहर बने हुए हैं। आज़ाद भारत में एक निष्ठावान जन कवि की भूमिका में कवि 'नेपाली' ने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। फिर भी उन्हें वह सम्मान जीवन-पर्यंत नहीं मिला जिसके वे सच्चे उत्तराधिकारी थे। मुक्ति संग्राम के कवि गोपाल सिंह 'नेपाली' ने मोहनदास करमचंद गाँधी को महात्मा गाँधी

बना देने में जो भूमिका अदा की उसकी बानगी हमें युग, जीवन और प्रकृति के इस अमर चितेरे कवि की इन पंक्तियों से मिलती है। जब लंदन में आयोजित राउंड टेबुल कांफ्रेंस में भाग लेने के लिए जाते वक़्त गीतकार 'नेपाली' ने उन्हें संबोधित किया-

तीस कोटि के मन में बसता
एक लंगोटीवाला

और ललकारा

छोड़ो रोटी का यह टुकड़ा
अपना चावल का दाना
मोहन तुम अब बीन बजाओ
पहन केसरिया बाना।

इस प्रकार 'नवीन कल्पना करो' शीर्षक कविता की निम्नांकित पंक्तियों द्वारा 'नेपाली' पराधीन भारत के नौजवानों को संबोधित करते हुए स्वतंत्र भारत में भी वे उनकी धड़कनों का हिस्सा बने रहे -

तुम कल्पना करो नवीन कल्पना करो
तुम कल्पना करो
अब घिस गईं समाज की तमाम नीतियाँ
अब घिस गईं मनुष्य की अतीत रीतियाँ
है दे रही चुनौतियाँ तुम्हें कुरीतियाँ
निज राष्ट्र के शरीर के सिंगार के लिए
तुम कल्पना करो नवीन कल्पना करो
तुम कल्पना करो ...

ऐसे तजस्वी व प्रतिभावान कवि को जैसे आज हम देशवासी भूल-से गए हैं। बिहार के लोग भी 'नेपाली' को शायद ही याद करते हैं। दरअसल, भूलना आज के आपाधापी और भाग-दौड़ के युग में एक स्वभाव है और ज़माने का दस्तूर भी। विस्मृति की नदी में डूब जाने का डर सबको लगता है। ख़ासकर उन्हें जिन्हें स्मृति में रहने की आदत बन गई हो। आज इतनी गतिशीलता है कि स्मृति अब एक्सीलेटर है, स्थिर सीढ़ी नहीं। एक्सीलेटर का स्वभाव ही है कि अपने सवार को खटा-खट उतार दे। किंतु एक्सीलेटर के ऐसे वक़्त में भी गोपाल सिंह 'नेपाली' की मिट्टी बेतिया निवासी विमल उनके साथ गुज़रे उन अविस्मरणीय दिनों को संजोए हैं। 'नेपाली' के साथ उनके बिताए क्षणों तथा कुछ खट्टे-मीठे अनुभवों को उजागर करने के ख़्याल

से 'विचार दृष्टि' के अंक 26 (अक्टूबर-दिसंबर, 2006) में हमने उनके संस्मरण प्रकाशित कर पाठकों के समक्ष सिपाही के बेटे कवि गोपाल सिंह 'नेपाली' की अपनी ग़रीबी पर उपजे दर्द को हज़म कर लेने की अपूर्व शक्ति, सहनशीलता और कष्ट सहने की क्षमता के गुणों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया। मार्मिक संस्मरण में विमल जी लिखते हैं, "भारत पर चीन का आक्रमण हुआ और एक ने नेपाली होने के कारण हिमालय में उनका जो स्वाभाविक लगाव था वह आक्रोश से ज्वालामुखी के लावे की भाँति फूट कर 'हिमालय ने पुकारा' के रूप में बह निकला। जैसे-तैसे कुछ पैसों का प्रबंध कर उन्होंने पुस्तक छपवाई और अर्थ बटोरने की मंशा से वे बिहार भ्रमण को निकल पड़े थे। शायद विधाता को यह मंजूर नहीं था और भागलपुर के प्लेटफ़ार्म नंबर दो पर मौत ने उन्हें अपने आग़ोश में समेट लिया। वीणा रानी के पास इतने पैसे भी नहीं थे कि वह अपने पुत्र को पिता के अग्नि-संस्कार करने के लिए भी भेज सकें। नतीजा यह हुआ कि पाँच अन्य व्यक्तियों को उनकी चिता को अग्नि के हवाले करना पड़ा। ... प्रति वर्ष लोग उनके 'स्टेच्यू' पर पुष्पांजलि अर्पित कर तस्वीरें खिंचवाते रहते हैं। किसी को पता नहीं कि नेपाली परिवार की दशा-दिशा क्या है? वे कहाँ हैं? किस हाल में हैं? मुझे भी नहीं। पता तो बस इतना है कि अमुक तिथि को है उनकी पुण्य तिथि।" श्री विमल जी के संस्मरण से यह भी जानकारी मिली कि 'नेपाली' जी के मुंबई प्रवास काल में उनके पिता राशन उधार खाते रहे और मात्र पंद्रह सौ रुपये में उनका क़ीमती घर नीलाम हो गया। 'नेपाली' जी चंपारण के मित्रों-शुभचिंतकों को अनुरोध-पत्र भेजते रहे, पर 'घर-बचाव' की उनकी दारुण व्यथा अनसुनी होती रही।

यह व्यथा-कथा थी सुकोमल भावनाओं से आपादमस्तक परिवेष्टित कवि गोपाल सिंह 'नेपाली' की जिनके पीयूषवर्षी काव्य-पाठ पर श्रोताओं को झूमते देख मंचासीन राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' हतप्रभ हो उठते थे और जहाँ 'दिनकर' गरजते थे, वहीं 'नेपाली' काव्य-पाठ के द्वारा फुहियाँ बरसाते थे। कहना नहीं होगा कि धरा पर कभी-कभी मानव रूप में ऐसी युगांतरकारी चेतनाएँ अवतरित हो जाती हैं जो अपने महत्त्व व सत् कार्यों की सुगंध से संपूर्ण परिक्षेत्र को तो सुवासित कर देती हैं मगर स्वयं उस सुगंध से वंचित हो जाती है। मानव रूप में कवि 'नेपाली' ऐसी ही युगांतरकारी चेतना अवतरित हुई जिसने अपनी रचनाओं की सुगंध से संपूर्ण समाज व राष्ट्र को सुवासित किया। ऐसे जीवंत एवं प्रखर कवि 'नेपाली' के अंतिम

वक्त की पीड़ा के परिप्रेक्ष्य में 'नेपाली' जी की ही कविताओं की, मेरे द्वारा हाइकु में रूपांतरित कुछ पंक्तियों से मैं उनकी स्मृति को नमन करता हूँ-

आदमियों की
संवेदना ही
मृत हो गई

क्या करूँ मैं
मनुष्यता ही आज
लुप्त हो गई

बहाना हो तो
करुणा की गंगा ही
बहाएँ आज

गीतों के राजकुमार कहे जाने वाले गोपाल सिंह 'नेपाली' के गीतों में विद्यापति की विलक्षणता, मतिराम की मादकता, बिहारी का चातुर्य और 'निराला' की व्यंजकता देखने को मिलती हैं। साहित्य की प्रत्येक विधा में लिखकर हिंदी साहित्य को समृद्ध करने वाले कविवर गोपाल सिंह 'नेपाली' ने देश में राष्ट्रभक्ति का अलख जगाया और हँसते-हँसते हम सबों से जुदा हो गए -

लगेगी ऐसी गहरी नींद,
बनी पर सो जाऊँगा मौन।

सोहन लाल द्विवेदी :
जिन्होंने 'वंदना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला दो' लिखा

मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामधारी सिंह 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जैसे राष्ट्रीय धारा के कवियों की पंक्ति में सोहन लाल द्विवेदी भी एक कवि हुए जिनसे एक प्रकार का लेन-देन आधुनिक युग के कवियों का रहा है– अज्ञेय, मुक्तिबोध, नागार्जुन और शमशेर का। यह भी ग़ौर करने वाली बात है कि जब मुक्तिबोध की 'मुझे तुम्हारा साथ मिला है, मुझे हिमालय हाथ मिला है। मंधा मिला विशाल गगन का/ वक्ष मिला मुझको जन-जन का' 'शमशेर की 'लेकर सीधा नारा कौन पुकारा' नागार्जुन की कविता 'जो नहीं हो सके पूर्णकाम, उनको प्रणाम' जैसी सन् 1953-54 की लिखी कविताओं को पढ़ता हूँ, तो सोहन लाल द्विवेदी की कविता 'वंदना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला दो' या 'चल पड़े जिधर दो डग में' की पंक्तियों में राष्ट्रीय धारा की गूँज सुनाई पड़ती है।

नि:संदेह सोहन लाल द्विवेदी की कविताएँ ओज भरी वाणी की कविता है जिसमें भाषा की ओज स्वत: स्पष्ट रूप से देखी जाती है। अपने एक 'जागरण गीत' में सोहन लाल द्विवेदी जी कहते हैं–

''तोड़ दो मन में कसी बस शृंखलाएँ
तोड़ दो मन में बसी सब संकीर्णताएँ
बिंदु बनकर मैं तुम्हें ढलने न दूँगा,
सिंधु बन तुमको उठाने आ रहूँगा।''

'सिंधु बन तुमको उठाने आ रहूँगा पंक्ति की ओजस्विता उसका उद्याम आवेग, आंदोलित करता है, हमें अछूता नहीं छोड़ता है। सोहन लाल द्विवेदी जी की कविताओं में, भाषा का यही गुण हमें आकर्षित करता है।

उत्तर प्रदेश के फ़तेहपुर ज़िले के बिंदकी तहसील में सन् 1906 ई॰ में सोहन लाल द्विवेदी की कविताएँ माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा', मैथिलीशरण गुप्त जी की 'भारत-भारती', 'दिनकर' जी की 'मेरे नागपति मेरे विशाल' सुभन्द्रा जी की 'ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' पंक्तियों की तरह किशोरों को

विशेष रूप से प्रिय थीं, ख़ासकर द्विवेदी जी की पंक्तियाँ 'वंदना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला दो' बच्चे-बड़े चाव से पढ़ते थे और मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि वे कविताएँ पचास-पचपन वर्ष बाद आज भी लोगों को अच्छी लगती हैं और लोग उसके महत्त्व को बेहतर ढंग से समझते-परखते हैं। आप देखिए ना 'चल पड़े जिधर दो डगमग में ...' पंक्ति में डग के साथ मग का जो जुड़ाव है वह और ध्वनि-साम्य टकराहट से जो संगीत की गूँज सुनाई पड़ती है, क्या वह आज भी हमें नहीं मोहती? सच कहा जाए तो कविता का महत्त्व भी इसी में है कि भले ही सामाजिक-भौगोलिक दृश्य बदल जाएँ और परिस्थितियों में भी बदलाव आ जाए, पर कविता का वह मर्म बीज रूप में सुरक्षित रहे और उससे नए अर्थों का प्रस्फुटन भी होता रहे। उदाहरण के तौर पर रवीन्द्र नाथ टैगोर की कविता 'जोदि तोमार डाक शुने केऊना आशे, तोबे तुमि एकला चलो, एकला चलो रे...' क्या आज भी प्रासंगिक नहीं है और क्या यह हर युग में प्रासंगिक ही नहीं बनी रहेगी?

सोहन लाल द्विवेदी जी बाल कविता के भी शिखर कवि थे और इनकी बाल कविता का प्रतिनिधि स्वर है राष्ट्रीय उद्‌बोधन और देशाभिमान। वे न सिर्फ़ बच्चों से जुड़े और अच्छी बाल कविताएँ उन्होंने लिखीं, बल्कि अपनी निरंतर ऊर्जा, प्रतिभा और समावेशी व्यक्तित्व की वजह से वे हिंदी बाल कविता की पहचान बने। हिंदी बाल कविताओं को सम्मानपूर्वक स्थान दिलाने में उन्होंने एक बड़ी और युगांतरकारी भूमिका निभाई। सच कहा जाए, तो बालकवि का प्रतीक पुरुष बनने के पीछे उनकी लंबी तपस्या के साथ-साथ निरंतर सक्रिय काव्य-मेधा और बच्चों से अनूठा प्रेम और समर्पण भी था। सोहन लाल द्विवेदी जी की तक़रीबन डेढ़ दर्जन साहित्यिक कृतियों में 'बासुरी', 'बिगुल', 'गीत भारती', 'बाल भारी', 'हँसे-हँसाओ', 'शिशु गीत', 'बच्चों के बापू', 'बाल वीर' और 'राम की बिल्ली' उल्लेखनीय हैं जिनमें देशभक्ति के अतिरिक्त सोहन लाल द्विवेदी जी की कविताओं के भिन्न-भिन्न स्वर और भंगिमाएँ देखने को मिलती हैं। पराधीनता के काल में जन्म लेने के कारण ही संभवत: उनकी बाल कविताओं का प्रतिनिधि स्वर है राष्ट्रीय उद्‌बोधन और देशाभिमान। उन्होंने ज़्यादा कविताएँ देशभक्ति और वीरता के भावों को लेकर ही लिखीं। बच्चों की उनकी सर्वप्रिय कल्पना है 'बालवीर'। बच्चों में ऊर्जा हो, उत्साह हो और कुछ करने का माद्दा हो, उनके मन में सदैव यही इच्छा रहती थी। तमाम मोर्चों पर बच्चे अपनी वीरता दिखाएँ, आगे बढ़कर कुछ कर दिखाएँ और किसी को सहायता की दरकार

होने पर उसकी सहायता करें। सोहन लाल द्विवेदी जी की 'बालवीर' कविताओं को आप देखें–

"हम बालवोहर, हम बालवीर
हम नहीं किसी से डरते हैं
हम सबकी सेवा करते हैं
हम दुखियों का दुख हरते हैं
हम बालवीर, हम बालवीर
औरों को राह बताते हैं
लंगड़ों को हम ले जाते हैं
जननी की जय-जय गाते हैं
हम बालवीर, हम बालवीर।"

सोहन लाल द्विवेदी जी की एक और कविता 'तुम वीर बनो' में वीरता के भावों की बड़ी सरल और स्पष्ट व्याख्या की गई है और सीधे-सादे शब्दों में मानो 'वीर कौन है' के सवाल का सोहन लाल द्विवेदी जी का सटिक उत्तर दे रहे हैं–

'दुख पड़ने पर मत घबड़ाओ, हिम्मत लाओ, साहस लाओ,
तुम धीर बनो, गंभीर बनो, तुम वीर बनो, तुम वीर बनो।
जो प्रण कर लो, कर दिखलाओ, प्रण पर मर जाओ, मिट जाओ,
पत्थर की अमिट लकीर बनो, तुम वीर बनो, तुम वीर बनो'

'विजय मुकुट' सोहन लाल द्विवेदी की आठ पंक्तियों की एक छोटी कविता है जिसमें एक छोटे बच्चे की आकांक्षा भी है और सपना भी। देखें एक छोटे बच्चे के बड़े सपने को जिसे उन्होंने वाक़ई बड़ी ख़ूबसूरत और मुकम्मल ढंग से अभिव्यक्त किया है–

नन्हें-नन्हें हाथ जोड़कर नन्हा शीश नवाऊँगा,
नन्हा कंठ खोलकर नन्हें-नन्हें गीत गाऊँगा।
नन्हें पाँवों बढ़ जाऊँगा दिल में भक्ति-भाव भरकर,
नन्हें हाथों पहनाऊँगा विजयमुकूट माँ के सिर पर।

सोहन लाल द्विवेदी जी ने 'बच्चों के बापू' शीर्षक से एक पुस्तक लिख डाली जिसमें भारतीय स्वाधीनता के महानायक गाँधी जी को भी बच्चों की नज़रों से देखा। उसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

सिर पर धर खादी का टुकरा, कसकर कमर लंगोटी,
बापू कहाँ चल पड़े बोलो लिए लकुटिया छोटी।

कहना नहीं होगा कि सोहन लाल द्विवेदी जी की कविताएँ बहुत प्रखर सौंदर्य-चेतना की हैं जो आज भी बहुत ताज़ा लगती हैं। 'छाया', 'ओस', 'घर की याद' उनकी ऐसी ही कविताएँ हैं। मगर दुःखद स्थिति यह है कि उनकी कविताओं की सहजता और ताज़गी को कम पहचाना गया और उनकी जीवंतता एवं ज़िंदादिली को जितनी दाद मिलनी चाहिए थी, नहीं मिल पाई।

सचमुच हिंदी में सोहन लाल द्विवेदी जी की जैसी सरल, सहज बाल कविताएँ बहुत कम ही लिखी गई हैं। आसमान के तारों को लेकर बड़ी रसपूर्ण और सुरीली कविता उन्होंने लिखी है–

प्यारे-प्यारे तारे चमको, नीचे चमको, ऊपर चमको,
नभ पर चमको, भू पर चमको, नदी और लहरों में चमको।
दूर करो दुनिया के तम को

सोहन लाल द्विवेदी जी की कविताओं में घर और पारिवारिक रिश्तों की आत्मीय सुगंध देखने को मिलती है, क्योंकि घर और रिश्तों की सुवास से उनमें एक अलग ही रस आ गया है। संभव है यह सोहन लाल द्विवेदी जी की सबसे अधिक भावुक मन से लिखी गई कविता हो जिसमें बच्चे का उत्साह चप्पे-चप्पे से परिचित करा देना चाहता है। देखें उसकी कुछ पंक्तियों को –

यही है मून्नू मेरा घर, सभी दुनिया से है सुंदर
यहीं रहती है मेरी बहन, यहीं रहते मेरे भैया,
कहानी कहती है नानी, यहीं रहती मेरी मैया।
खेलते-गाते हँस-हँसकर, यही है मुन्नू मेरा घर।

जैसा कि मैंने पूर्व में कहा है कि सोहन लाल द्विवेदी जी की कविताओं में देशाभिमान की रक्षा बखूबी की गई है। अपना पैसा विदेश न जाए, तभी तो देश प्रगति करेगा। देखें–व्यर्थ विदेश मैं नहीं जाता / नितस्वदेश से रखता नाता / भारत आज न ऐसा होता / अगर कहीं मैं पैसा होता।

सोहन लाल द्विवेदी जी ने ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें 'ऊँची जाति' नहीं बड़े गुणों के सम्मान की बात कही गई है। इसी प्रकार पोथा-पन्ना देखकर चलने वालों से वे साफ़-साफ़ कहते हैं–

नहीं भाग्य का मुख देखो तुम, अपने बनो विधाता आप,
चलो बढ़ो अपने पांव से, लो सारी दुनिया नाप।

सोहन लाल द्विवेदी जी के अपने अलग भाषाई संस्कार रहे, जिसे उन्होंने बच्चों से जुड़कर प्राप्त किए और जो भाषा को एक नए रूप में समृद्ध करते हैं।

भारतीय स्वतंत्रता संगाम के वक्त देश-प्रेम से प्रेरित और आत्मोत्सर्ग के लिए प्रस्तुत सोहन लाल द्विवेदी जी की ये पंक्तियाँ उच्च स्वर एवं मुक्त कंठ से कहते-गाते दिनों की याद दिलाते हुए किसी के मन में अंकित एवं प्रतिध्वनित हो उठती हैं-

वंदना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो,
हों जहाँ बलि शीश अगणित एक सिर मेरा मिला लो।

निःसंदेह इन पंक्तियों में वंदनीयता का संदर्भ है, किंतु वंदनीयता के अगणित प्रसंग हैं, जो मूल्यों की प्रतिष्ठा और प्रशस्ति करते हैं, मुझे याद आती हैं महाराणा प्रताप के समकालीन एक कवि की ये दो पंक्तियाँ जो उनके अपराजित स्वाभिमान-प्रतिष्ठा में कही गई हैं-

अकगरिए इस बार दागष्ठ की सारी दुनि
अणदागष्ठ असवार रहियों राणा प्रताप सी।

शैल चतुर्वेदी :
जिनकी हास्य कविता 'चलगयी' के चाहने वाले पूरी दुनिया में फैले हैं

प्रख्यात हास्य कवि एवं अभिनेता शैल चतुर्वेदी का व्यक्तित्व काफ़ी आकर्षक था और कविता पढ़ने का उनका अंदाज़ अनोखा था। यही कारण है कि काव्य मंचों पर उतरते ही वह छा गए। सन् 1936 ई॰ में जन्मे शैल चतुर्वेदी ने अपने कैरियर का आरंभ सरकारी नौकरी से किया था, लेकिन कवि हृदय होने की वजह से वह ज़्यादा दिनों तक नौकरी में खप नहीं सके। उन्होंने कविता को अपना पेशा बना लिया। प्रारंभ में उन्होंने वीर रस की कविताओं से अपना सिक्का जमाया, किंतु बाद में मित्रों के कहने पर पूरी तरह हास्य कविता को अपना मुक़ाम बना लिया। उनकी लंबी हास्य कविता 'चल गयी' के चाहने वाले पूरी दुनिया में फैले हुए हैं। काव्य-पाठ के लिए शैल चतुर्वेदी दुनिया के अनेक देशों के श्रोताओं से मुख़ातिब हुए। दिवंगत कवि रामरिख 'मनहर' उनके ख़ास दोस्तों में से एक थे। बच्चों जैसी दिल के मालिक शैल चतुर्वेदी वरिष्ठ होने के बावजूद युवा कवियों के बीच सहज ही घुलमिल जाते थे।

कवि शैल चतुर्वेदी जी को दिल्ली तथा पटना में कई बार सुनने का मौक़ा मुझे मिला है। कार्यालय महालेखाकार (लेखा परीक्षा), बिहार, पटना के केंद्रीय सचिवालय हिंदी परिषद् की ओर से जब प्रतिवर्ष कवि-सम्मेलन व मुशायरा आयोजित किया जाता था, तो उसमें देश भर के नामी-गिरामी सभी विधा के कवियों को आमंत्रित किया जाता था। ठीक उसी प्रकार बिहार प्रांतीय मारवाड़ी सभा की ओर से भी प्रतिवर्ष श्रीकृष्ण मेमोरियल हॉल, पटना के सभागार में हास्य कवि-सम्मेलन का आयोजन होता रहा है, जिसमें शैल चतुर्वेदी जी भी सादर आमंत्रित किए जाते रहे हैं। उनकी उपस्थिति से हास्य कवि-सम्मेलन में जान आ जाती थी और सम्मेलन की जीवंतता का आनन्द हम और हमारे मित्र कवि उमेश्वर सिंह भरपूर उठाते थे। शैल चतुर्वेदी जी की मशहूर कविता 'चल गयी' जब उनके द्वारा अपने अनूठे अंदाज़ में पढ़ी जाती थी, तो लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते थे।

शैल चतुर्वेदी जी बेहतरीन कवि तथा ग़ज़लगो ही नहीं एक अच्छे

अदाकार भी थे। मशहूर टी॰वी॰ धारावाहिक 'पक्कड़ जी कहिन' में उनका शानदार अभिनव देख प्रसिद्ध अभिनेता ओमपुरी भी उनके प्रशंसक बन गए थे। इस धारावाहिक ने शैल चतुर्वेदी जी को अपार लोकप्रियता दिलाई। इसके बाद तो उन्होंने अनेक धारावाहिकों और फ़िल्मों में काम किया। उन्हें मंच पर काका हाथरसी लेकर आए थे। बाद में गोपाल प्रसाद व्यास ओर नीरज जी के सान्निध्य में उन्होंने काव्य-मंच को समृद्ध किया। शैल चतुर्वेदी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व प्राध्यापक थे।

सुख्यात कवि और अभिनेता शैल चतुर्वेदी जी का पिछले 28 अक्टूबर, 2007 ई॰ को 71 वर्ष की उम्र में उत्तर-पश्चिम मुंबई के मलाड के निवास में निधन हो गया। वह पिछले काफ़ी समय से बीमार रह रहे थे। वह अस्थमा और मधुमेह से पीड़ित थे। पिछले दिनों उनकी दोनों किडनियों ने काम करना बंद कर दिया था। अपने पीछे वह पत्नी और तीन सुपुत्रों सहित हज़ारों शुभेच्छुओं को छोड़ गए। मंच और निजी जीवन में बहुत अधिक बोलने वाले प्रख्यात हास्य कवि और अभिनेता शैल चतुर्वेदी गहरे सन्नाटे का लबादा ओढ़कर जीवन से बाहर निकल गए, किंतु हास्य का यह सितारा अपने प्रशंसकों और प्रियजनों को एक शोकाकुल अँधेरे में छोड़कर उनकी स्मृतियों में बस गया है। उन्होंने 71 वर्ष की शानदार पारी खेली और ताउम्र लोगों को हँसाते रहे।

शैल चतुर्वेदी के घनिष्ठ कवि मित्र और मंच संचालक सुभाष काबरा ने उनकी मौत पर कहा कि वह एकदम बच्चों जैसा थे। लोग उन्हें भोला बाबा कहते थे। उनके भीतर कपट नाम की कोई चीज़ नहीं थी। इसी प्रकार अपनी यादों को खंगालते हुए प्रसिद्ध हास्य कवि और ग़ज़लगो हुल्लड़ मुरादाबादी ने बताया कि वे दोनों साथ-साथ मंच पर आए थे। कवि सोम ठाकुर ने उनका परिचय कराया था। उन्होंने हास्य को एक बेजोड़ और अर्थवान स्पर्श दिया। उनका व्यक्तित्व लाजवाब था।

निदा फ़ाज़ली जैसे गंभीर शायर को दिलोजान से चाहने वाला यह हास्य सम्राट मंच पर इस बात का आश्वासन था कि वह हैं तो कवि-सम्मेलन हिट है। इस बात की जानकारी बहुत कम लोगों को है कि शैल चतुर्वेदी का एक छुपा हुआ व्यक्तित्व गंभीर ग़ज़ल लिखने वाले क़लमकार का भी था। कहा जाता है कि नए कवियों की रचना पसंद आने पर शैल चतुर्वेदी उनकी तारीफ़ नाम लेकर मंच पर ही कर देते थे, जो एक विरल अनुभव है। शैल चतुर्वेदी एक अच्छे फ़िल्म निर्माता बनना चाहते थे, लेकिन खेद है कि उनका

यह सपना पूरा नहीं हो पाया। हाँ, उनके इस सपने को उनका बेटा विशाल चतुर्वेदी सीरियल निर्माता बनकर पूरा करने का प्रयत्न कर रहा है। उनके तीन सुपुत्र हैं– विशाल, विहान और विवेक। पत्नी दया अब उनकी यादों की गलियों में ठिठकी हुई हैं।

56 साल की उम्र में जब शैल चतुर्वेदी धीरेन्द्र अस्थाना के घर आए थे, उस समय की एक छोटी घटना है जिसे प्रस्तुत करना युक्तिसंगत जान पड़ता है। अस्थाना जी के घर पर शैल चतुर्वेदी को खाने पर आमंत्रित किया गया था। चिकन खाने से पहले शैल चतुर्वेदी ने जब अपनी बाँह में इंसुलिन का इंजेक्शन लगाया तो धीरेन्द्र जी ने उन्हें चिंता के साथ देखा। इस पर शैल चतुर्वेदी हँसे और फिर बेफ़िक्र तथा दार्शनिक अंदाज़ में बोले, ''देखो प्यारे, मरेंगे तो सब। इसलिए दाल खाकर मरने से बेहतर है चिकन खाकर मरना।''

शैल चतुर्वेदी बात-बात पर रोने लगते थे। पकी उम्र में भी उनके भीतर एक बच्चा रहता था। धीरेन्द्र जी ने एक बार पत्रिका में लिखा, ''शैल जी मंच की ज़रूरत भी हैं और जायदाद भी।'' उन्होंने पढ़ा और युवा हास्य कवि सुभाष काबरा को फ़ोन कर रोने लगे।

सच कहा जाए, तो मंच की मजबूरियों ने शैल चतुर्वेदी को हास्य कवि बनाया, लेकिन अपने तेवर से उन्होंने हास्य को भी नई ऊँचाइयाँ सौंप दी। 'उपहार', 'चितचोर', 'नैया', 'हम दो हमारे दो', 'चमेली की शादी', 'नरसिम्हा', 'क़रीब', 'जहाँ तुम चलो' और 'कक्काजी कहिन' उनके अभिनय से सजी अनेक फिल्में एवं धारावाहिक हैं। प्रसिद्ध अभिनेता ओमपुरी उनके अभिनय के मुरीद रहे हैं। उन्होंने शैल चतुर्वेदी के साथ काम भी किया था।

शैल चतुर्वेदी आज हमारे बीच नहीं हैं, मगर हमें रहना है शैल जी के बिना भी। सन्नाटे में डूबे हास्य के इस शालीन सितारे और बहुमुखी प्रतिभा के धनी शैल चतुर्वेदी को हार्दिक श्रद्धांजलि।

❖❖❖

हास्य सम्राट काका हाथरसी : जिन्होंने हास्य को हिंदी काव्य में आदर-सत्कार दिलाया

हास्य स्थितियों में वैषम्य को मनोरंजक ढंग से उभारने की ऐसी प्रक्रिया है जिसमें वाक्-वैदिग्ध्य की आवश्यकता है। वस्तुतः हास्य-व्यंग्य आत्मनिष्ठा में चुभोई गई नाजुक सुइयाँ हैं। किसी कवि ने तभी तो कहा है- 'जहाँ काम आवै सुई कहाँ करे तरवारि।' आज के आपाधापी और तनावग्रस्त जीवन में मनुष्य के पास समय ही नहीं है कि वह हँसी का आनंद ले सके और हँसी से अपने जीवन को भारमुक्त कर सके। दरअसल, हँसने-हँसाने वालों की एक अलग दुनिया होती है। उनकी भाषा उनके रंग-ढंग और उनकी नीति सामान्य से हटकर असामान्य लीक पर चलती है। स्वयं हास्य सम्राट काका हाथरसी ने हास्य कवि और हास्य कविता के बारे में अपनी कृति 'यार सप्तक' के प्राक्कथन में कहा है - "शब्दों से लय के साथ अठखेलियाँ करता हुआ हास्य-व्यंग्य का कवि अपनी रचना के द्वारा सामाजिक क्रांति के बीज बोता है एवं कृत्रिमता, अराजकता, भ्रष्टाचार आदि विनाशकारी मुखौटों पर तीर चलाकर उनके असली रूप-स्वरूप को जनगण के सामुख उजागर करता है। मनोरंजन के साथ उसको सोचने के लिए विवश करता है।"

एक कवि ने व्यंग्य की परिभाषा इस प्रकार दी है- "हमने किसी को तीर मारा, उसने निकाला, फिर मुस्कराकर कहा- एक और। इस प्रकार कवि को वांछित फल प्राप्त हो गया और जिस पर व्यंग्य किया गया उसको मीठी चुभन तो हुई, किंतु कड़वी पीड़ा नहीं पहुँची। यही कारण है जो आज हास्य-व्यंग्य के कवि अन्य रसों के कवियों से अधिक यश और अर्थ प्राप्त करके समर्थ हो रहे हैं।" काका हाथरसी एक ऐसे ही सुविख्यात हास्य-व्यंग्य के कवि हो गए जिन्होंने हास्य-व्यग्य रस के जरिए हिंदी साहित्य की काव्य विधा को न केवल समृद्ध किया, बल्कि उसे आदर-सत्कार दिलाया और यश की कीर्ति-पताका फहराया। जहाँ तक अर्थ अर्जित करने का प्रश्न है, अत्यंत ग़रीब परिवार के होने के बावजूद आर्थिक अभाव पर उन्होंने विजय पाई।

कहा जाता है कि मनुष्य पर जब कभी मुसीबतों का पहाड़ टूटता है, तो शायद भीतर ही भीतर का समुद्र उमड़ पड़ता है। दुःख में, पीड़ा में और

संघर्षों में ही मनुष्य निखरता है और काँटों भरे पथ पर चलकर निखर आगे बढ़ता रहता है। एक दिन ऐसा आता है, जब वह अपनी मंज़िल पा लेता है। हिंदी काव्य में हास्य को आदर-सत्कार दिलाने वाले हास्य-सम्राट काका हाथरसी के साथ भी ऐसा ही हुआ। अभावों में पले काका ने अपने मार्ग के काँटों को हटाकर रास्ता स्वयं बना लिया आर्थिक अभाव की वजह से काका पाँचवीं कक्षा की पढ़ाई को नियमित रूप से पूरा न कर पाए, लेकिन लगन और दृढ़ इच्छाशक्ति उन्हें आगे बढ़ने से रोक नहीं सकी। हौसला हो, तो मुश्किल से मुश्किल काम भी आसान हो जाता है। डॉ॰ गिरिराज शरण अग्रवाल की ये पंक्तियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं–

लगन हो दिल में राही के, तो मंज़िल मिल ही जाती है,
परिंदे उड़ते-उड़ते अपने आप उड़ना सीख जाते हैं।

यक़ीन नहीं होता कि काका जब मात्र दस वर्ष के थे, तो अपनी मौसी के यहाँ रहते थे। उनका मौसेरा भाई चाट-पकौड़ी की दुकान करता था। काका भी पशु-पक्षियों से चाट-पकौड़ी की रक्षा करते हुए और 'चटपटे मसालेदार' की आवाज़ लगाते हुए पीछे-पीछे चलते थे। बदले में उन्हें वेतन स्वरूप एक रुपया चार आने मिलते थे। इसमें से एक रुपया वे अपनी माँ को दे देते थे और चार आने अपने पास रख लेते थे। बाद में छः रुपए मासिक और उसके बाद 25 रुपए मासिक पर काका ने नौकरी की। इस प्रकार धीरे-धीरे उनके परिवार का भरण-पोषण होता रहा। नौकरी के साथ-साथ काका ने कक्षा चार पास करने के बाद अँग्रेज़ी, उर्दू का ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार सच्ची लगन, कर्मठता और परिश्रम रंग लाने लगा। इसी बीच उन्होंने चित्रकला का अभ्यास भी आरंभ कर दिया। प्रारंभ में धार्मिक चित्र बनाने के बाद कुछ परिचितों के तैल चित्र भी बनाए। फिर अनेक संगीतकारों के उन्होंने चित्र बनाए जो आज भी संगीत कार्यालय, हाथरस में सुरक्षित हैं।

18 सितंबर, 1906 ई॰ को हाथरस में काका ने उस वक़्त जन्म लिया जब हाथरस नगरी में प्लेग की महामारी ने तांडव रूप अख़्तियार कर लिया था जिसके कारण हज़ारों घर उजड़ गए थे। न जाने कितनी महिलाएँ विधवा हो गईं और कितने बच्चे अनाथ हो गए। इसी बीच काका के पिता जी को भी प्लेग ने अपनी चपेट में ले लिया। काका उस समय मात्र 15 दिन के थे और उनकी माँ की उम्र मात्र 20 वर्ष की थी।

हारमोनियम और तबला बजाने वाले नंदलाल काका के एक मित्र थे। एक दिन दोनों ने मिलकर योजना बनाई कि एक ऐसी पुस्तक लिखी जाए,

जिससे घर बैठे ही हारमोनियम, तबला और बाँसुरी बजाने की शिक्षा प्राप्त की जा सके। काका खुद बाँसुरी बजाना जानते थे। पुस्तक तैयार हो गई और इसका नाम रखा गया 'म्यूजिक मास्टर'। इसकी क़ीमत एक रुपया रखी गई। इसकी छपाई के लिए दोनों मित्र कई प्रकाशकों से मिले, मिन्नतें कीं, लेकिन कोई भी इसे छापने के लिए तैयार नहीं हुआ। काका के पास डाकघर में मात्र अस्सी रुपए थे जिसे लेकर वे अग्रवाल प्रेस, मथुरा के मालिक श्री प्रभुदयाल मित्तल के पास गए और उनसे अनुरोध किया कि वह इसे छाप दें। उन्होंने आश्वासन दिया कि इस पुस्तक को बेचकर वह इनकी छपाई की शेष राशि को चुका देंगे। श्री मित्तल ने नवयुवकों के उत्साह को देखकर पुस्तक छाप दी जिसकी कुछ प्रतियाँ लेकर काका हाथरस आ गए। पुस्तक बिक्रेता को भारी कमीशन पर पुस्तकें बेचकर अग्रवाल प्रेस की छपाई के पैसे काका ने चुकता कर दिए। इस प्रकार धीरे-धीरे पुस्तक का प्रचार हो गया और वह लोकप्रिय हो गई। पैसा जमा होने पर काका ने सन् 1935 ई० में 'संगीत' नामक एक मासिक पत्रिका प्रारंभ कर दी जिसका प्रकाशन आज भी निर्बाध गति से हो रहा है। कहना नहीं होगा कि 'संगीत' मासिक पत्रिका विश्व भर में संगीत विषय पर हिंदी की एक मात्र ऐसी अनोखी पत्रिका है, जो संगीत प्रेमियों में अपनी पैठ बनाए हुई है।

संगीत के अतिरिक्त काका को कविता में भी दिलचस्पी थी, साथ ही नाटक लिखने और अभिनय करने का शौक़ भी उन्हें लग गया था। उन्होंने दो छोटे-छोटे नाटकों 'आज की दुनिया' और 'समाज के आँसू' में अभिनय किया। काका का नाम था प्रभुलाल गर्ग। प्रभुलाल गर्ग के स्थान पर इनका नाम 'काका' कैसे पड़ा, इसके पीछे भी नाटक के अभिनय से जुड़ी एक छोटी कहानी कुछ इस तरह है। एक नाटक में उन्हें काका नाम से चौधरी की भूमिका मिली, जो खलनायक जैसी थी। नाटक में समाज सुधारक युवक उनके पास आकर जब चंदा माँगने लगा, तो वे अपने विरोधी स्वरों के साथ-साथ उन्हें डंडा दिखलाए, फिर भी वह भागा नहीं, अड़ गया और कहने लगा "काका जी हमलोगों ने मिलमिलाकर समाज में व्याप्त कुरीतियों और फिजूलख़र्ची को दूर करने का संकल्प लिया है।" काका चौधरी उन समाज सुधारक युंवाओं से पूछा– "क्या सहयोग दें? कौन-सी कुरीतियाँ दूर करोगे तुम लोग?" युवक ने उत्तर दिया– "शादी-विवाहों में फूल-ट्टी, काका जी घोड़े और आतिशबाज़ी में जो धन और श्रम की बरबादी होती है, उस पर अंकुश लगाएँगे। किसी-किसी विवाह में जो दो-दो, तीन-तीन बैंड होते हैं,

वहाँ केवल एक ही बैंड रहेगा। इसके साथ ही साथ मृतक भोजन बंद कराएँगे।" इन युवकों की बात सुनकर काका चोधरी ने अपनी मूछों पर हाथ फेरते हुए कहा– "अरे छोराओं चौं बाबरे है रए औ" फिर खड़ी बोली में उन युवकों को समझाते हुए कहा– "तुम लोग अभी बच्चे हो, अक्ल के कच्चे हो। यह बताइओ, जब असली घोड़े अपने पास न हो, तो काग़ज़ी घोड़े निकालने में क्या दोष है। असली घोड़े के लिए घास चाहिए, जबकि काग़ज़ी घोड़े न कुछ खाते हैं और न पीते हैं और फिर भी प्रभावशाली इतने होते हैं कि इनका रोब-दाब और चमक-दमक देखकर असली घोड़े पूछ दबाकर भाग जाते हैं। आज कल तो असली से नक़ली का महत्त्व ज़्यादा है। दूसरी बात बैंड बाजों की तुमने बताई, सो कोई रोक सकेगा? तीसरी बात मृतक भोजन बंद करने की तुम कह रहे हो, अपनी बचपन भावना में बह रहे हो। जैसे-तैसे तो कोई बूढ़ा-टेढ़ा मरे, फिर भी दावत खाने हम न जाएँ, यह कैसा न्याय? यदि मृतक भोज बंद हो जाएँगे, तो हम जैसे चौधरियों को कौन पूछेगा? हम ही तो उनके घर जाकर बताते हैं कि कचौड़ी के आटे में मोयन (घी) कितना पड़ेगा? रायते में दही कितना खपेगा? दही के ऊपर जो मलाई होती है ना, उसे उतारकर ले जाने का अधिकार चौधरियों का ही होता है, क्योंकि दही भी मलाई रायते में मिलाएँ, तो दावत खाने वालों को खाँसी हो जाएगी। जनकल्याण के ये उसूल जब तुम समझ लोगे तब फिर विरोध नहीं करोगे।" इस तरह काका चौधरी ने समाज-सुधारक युवकों को भगा दिया। दर्शकों ने इस अभिनय को देखकर ख़ूब तालियाँ बजाई और अभिनय की बहुत प्रशंसा की।

नाटक के सफल होने के बाद जब दूसरे दिन प्रातः काका बाज़ार निकले, तो इधर-उधर से आवाज़ें आने लगीं – "देखो वो जा रहा है, काका।" फिर उन्हें बुलाकर लोग नाटक की प्रशंसा करते। जो पहले प्रभु जी या गर्ग जी कहा करते थे, वे नाटक की भूमिका में अभिनय के बाद उन्हें काका कहने लगे। इस प्रकार उनके मन-मस्तिष्क में भी 'काका' नाम जम गया। कुछ मित्रों की सलाह पर उन्होंने हाथरसी और जोड़ दिया और वे काका हाथरसी के नाम से जाने जाने लगे। उन्होंने बाद में काका हाथरसी के नाम से ही कविताएँ लिखने लगे।

काका की पहली कविता प्रभूलाल गर्ग 'काका' के नाम से सर्वप्रथम सन् 1933 ई० के आसपास इलाहाबाद के गुलदस्ता साप्ताहिक पत्र के मुख-पृष्ठ पर छपी थी–

घुटा करती है मेरी हसरतें दिन-रात सीने में
मेरा दिल घुटते-घुटते सख़्त होकर सिल न बन जाए

1857 जंगे आज़ादी की प्रथम शताब्दी जब दिल्ली में सन् 1957 में मनाई गई तब उस अवसर पर 23 जनवरी, 1957 ई॰ को दिल्ली के लाल क़िले में आयोजित विशाल कवि-सम्मेलन में कविता पढ़ने का काका को आमंत्रण मिला, किंतु उनके सामने यह समस्या खड़ी हो गई कि हास्य कवि वीर रस की कविता कैसे सुनाए? सो उन्होंने हास्य में वीर रस लिखा और मंच पर खड़े होते ही कहा– ''भाइयो! आज जो कविता मैं सुनाने जा रहा हूँ, यह मैंने 1857 के गदर में लिखी थी, जिसकी आज यहाँ शताब्दी मनाई जा रही है।'' इतना सुनते ही जनता में ज़ोरदार ठहाका लगा और काका ने 40 हज़ार श्रोताओं को अपनी कविता इस प्रकार सुनाई–

आँखों में जलवा थी, दिल में धधक रहे थे अंगारे,
युद्ध भूमि में मैंने, मुर्दे पटक-पटक दे मारे।
नाना राव पेशवा का हुक्म मैं ही तो भरता था,
झाँसी वाली रानी के घोड़े पर मालिश करता था।
अपने शौर्य और साहस की तुमको झलक दिखाऊँगा,
नहीं सुहाता शांति मुझे, मैं गीत क्रांति के गाऊँगा।
साँस रोकर सुनना मित्रों, मन की व्यथा बता हूँ,
अट्ठारह सौ सत्तावन की, तुमको कथा सुनाता हूँ।

काका की काव्य-साधना जब बढ़ी, तो निरंतर आगे बढ़ती गई। कवि-सम्मेलनों का मंच काका के बिना सूना लगने लगा। 23 जनवरी, 1963 ई॰ को दिल्ली के लाल क़िले में आयोजित कवि-सम्मेलन में अपनी अस्वस्था के कारण जब काका नहीं जा सके, तो 24 जनवरी को दैनिक हिंदुस्तान ने अपने मुख-पृष्ठ पर कवि-सम्मेलन की रिपोर्ट छापते हुए लिखा– ''काका के बिना लाल क़िला कवि-सम्मेलन फीका रहा।'' जैसे-जैसे काका की काव्य-यात्रा आगे बढ़ी, वे ऊँचाइयों के शीर्ष पर पहुँचे, पर विदेशों से भी उन्हें आमंत्रण मिलने लगा। सर्वप्रथम सन् 1975 ई॰ में वे थाईलैंड की राजधानी बैंकाक जाकर 7-8 सफल कवि-गोष्ठियाँ कीं। फिर सन् 1984 ई॰ में अमेरिका, कनाडा में जाकर दर्जनों कवि गोष्ठियाँ कीं जिनका प्रवासी भारतीयों ने भरपूर आनंद लिया। इसके बाद पुनः अमेरिका और कनाडा जाकर काका ने अपनी हास्य कविताओं से प्रवासी भारतीयों को ख़ूब हँसाया और गुदगुदाया। फिर

चौथी विदेश-यात्रा में काका लंदन गए और उनकी कवि-गोष्ठयों में अपने हास्य काव्य-रस का पान कराकर वहाँ के लोगों के बीच हँसी के फ़व्वारे छोड़े। फिर तो काका अंतरराष्ट्रीय ख्याति के कवि बन गए।

26 जनवरी, 1984 ई॰ को 'पद्मश्री' उपाधि की घोषणा के उपरांत 16 मार्च, 1985 ई॰ को तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह द्वारा राष्ट्रपति भवन में आयोजित एक भव्य समारोह में काका को 'पद्मश्री' से सम्मानित किया गया जो वस्तुत: हास्य साहित्य का सम्मान था। सन् 1975 ई॰ में काका द्वारा स्थापित 'काका हाथरसी पुरस्कार ट्रस्ट' में प्रति वर्ष हास्य रस के कवि को ग्यारह सौ रुपए का पुरस्कार दिया जाने लगा, जिसकी राशि बाद में बढ़ाकर 1992 आते-आते 31 हज़ार रुपए कर दी गई। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि काका हाथरसी ने हास्य को रसों में सर्वोपरि स्थान दिला दिया आख़िर तभी तो आज जब वे हमारे बीच नहीं हैं, उनकी हास्य-व्यंग्य की कविताएँ हमें गुदगुदाती रहती हैं। वरिष्ठ साहित्यकार अक्षय कुमार जैन के द्वारा काका के संबंध में कही गई पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-''काका ने यह सिद्ध कर दिया है कि भले ही शृँगार रस राज हो, किंतु उनके हास्य और व्यंग्य में रस राज की पैठ है।'' मौलिक प्रतिभा के धनी काका हाथरसी का वर्ष 2006 ई॰ में जन्मशताब्दी मनाई गई। काका की हास्य कविताओं के बारे में यह कहना यथोचित होगा कि काका की कुण्डलियाँ समसामयिक विषयों के परिप्रेक्ष्य में लिखी होने पर भी शाश्वत मूल्यों को व्यक्त कर हास्य को व्यक्त करती हैं। देखें 'फूलन या शूलन' शीर्षक कविता की पंक्तियों को-

डाके, हत्या, अपहरण, चहुँदिशि हाहाकार,
आई नहीं गिरफ़्त में, हुई पुलिस की हार।
हुई पुलिस की हार, देख अंतर का दर्पण।
फेंक दिए हथियार, कर दिया आत्म समर्पण।
'काका' कविता लिखकर जीवन व्यर्थ गँवाया,
होकर के बदनाम, नाम फूलन ने पाया।
यदि सत्ता में होते, तो हम निर्णय लेते,
चरण चूमकर इसे पद्मभूषण दे देते।
हिंसक-हत्यारों के जयजयकर हो रहे,
देख दृश्य यह न्याय और ईमान रो रहे।

मौजूदा भारतीय राजनीति की विसंगतियों पर कटाक्ष करते हुए काका ने दलबदल पर इस तरह 'मूर्खतरंग' शीर्षक कविता में अपना व्यंग्य कसा है-

बुद्धिमान बनकर रहें, सदा उठाएँ दुख,
बुद्धू बनकर जिएँ, तो मिले सर्वदा सुख।
मिले सर्वदा सुख, न इसमें शंका कोई,
कह गए तुलसी बाबा होनी हो सो होई।
मूरख बनकर एक वर्ष तक तो मौज कीजिए,
लोभ न हो, तो इसे छोड़ दल बदल लीजिए।

'तार सप्तक' की तर्ज़ पर डायमंड पॉकेट बुक्स (प्रा०) लि०, नई दिल्ली ने काका हाथरसी की 'यार सप्तक' नाम्नी पुस्तक प्रकाशित की है जिसमें काका सहित नामी-गिरामी अन्य बारह ऐसे हास्य कवियों की हास्य रचनाएँ प्रस्तुत हैं जिनमें सभी सप्तकों के स्वर हैं– स रे ग म प ध नि एक सहयोगी की आवश्यकता हुई तो 5 और बढ़कर 12 स्वरों की कल्पना बन गई – यथा

स रे रे ग ग म म प ध न्ध नि नि

इस प्रकार काका ने 12 स्वरों पर भारतीय संगीत की इमारत खड़ी कर दी। कहना नहीं होगा कि 'यार सप्तक' के 12 हास्य-व्यंग्य के ऐसे कविगण हैं जिनकी आज कवि-सम्मेलनों के मंच पर तूती बोलती रही है। नाम है– अल्हड़ बीकानेरी, अशोक चक्रधर, ओम प्रकाश आदित्य, काका हाथरसी, जैमिनी हरियाणवी, डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी, माणिक वर्मा, शैल चतुर्वेदी, सुरेन्द्र मोहन मिश्र, सुरेश उपाध्याय, सूंढ़ फैज़ाबादी और हुल्लड़ मुरादाबादी।

❖❖❖

सआदत हसन मंटा :
जो साहित्य जगत में आज भी जिंदा हैं अपने लेखन के दमखम के साथ

एक अफ़सानानिगारा एक बेहतरीन साहित्यकार मंटो जिनकी कहानी व नाटकों में यथार्थ से भी सत्यता उनके वाक्य हर किसी के ज़ेहन में उथल-पुथल मचाते रहे आज भी जिंदा है अपने लेखन के दमखम के साथ साहित्य जगत में। साफ़गोई-बेबाकी और फक्कड़पने से लबरेज मंटो की कहानियाँ गहरे सामाजिक यथार्थ को छूती चोट पहुँचाने वाली हैं। समय से परे यही कहानीकार अपनी संवेदनशीलता से उस काल की अच्छाइयों-बुराईयों करते ठोकरे खाते रहे, उनका सत्य न्यायालयों के दरवाजे पर उन्हें खड़ा करता रहा और अंत समय पागल खाने की कोठरी उनका आश्रय बनी। मंटो की कहानियों के अंदर छिपी हुई वेदना इस बात की साक्षी है कि वह औरत की इज्जत का उसके सतीत्व का और उसके घरेलूपन का जितना कोमल है कोई दूसरा मुश्किल से होगा।

साल 2012 मंटो की जन्मशती है। उनका जन्म 11 मई,1912 को लुधियाना के करीब समराला गाँव में हुआ था। मंटो के पिता गुलाम हसन ख्वाजा साहब जमालुद्दीन के सबसे छोटे बेटे थे। उन्होनें दो शादियाँ की थी जिनसे उन्हें बारह संताने हुईं, चार लड़क और आठ लड़कियाँ। मंटो उनकी दूसरी बीबी सरदार बेगम से था। मंटों के पिता सरकारी नौकरी में थे। उनका तबादला जब अमृतसर में हुआ, तो वे गली वकीलों में रहने लगे। मंटो का बचपन वहीं बीता। मंटो की प्रारंभिक शिक्षा भी अमृतसर के विद्यालय में हुई मध्य एवं उच्च विद्यालय अमृतसर से करने के बाद मुस्लिम हाई स्कूल शरीफपुरा में भी उन्होंने गुजारा। मंटो को पढ़ने का बेहद शौक था। वह पुस्तकालय व पुस्तक बिक्रेताओं से तीरथराम फिरोजपुरी के उपन्यास लेकर पढ़ना तथा ज्यादातर वक्त पाठ्य पुस्तकों को पढ़ने की बजाय उपन्यास पढ़ने में में लगाता। कुछ इसी बजह से मैट्रिक में दो बार अनुत्तीर्ण होने के बाद वह तीसरे प्रयास में तृतीय श्रेणी से उत्तीर्ण हुआ। सबसे दिलचस्प बात यह थी कि मंटो उर्दू में फेल हो गया और कालांतर में उर्दू का महान कहानीकार बन गया। कुछ अरसा मंटो ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय में भी बिताया। अलीगढ़ उन दिनों साहित्य का गढ़ था। मंटो का मन यहाँ भी नहीं लगा। वहाँ के अनुशासन प्रिय माहौल में मंटो का दम घुटन लगा। उनकी सेहत पर भी इसका असर पड़ा। उन्हें टी.बी. ओ गया। चिकित्सकों ने उन्हें किसी हिल

स्टेशन पर जाकर आराम करने की सलाह दी, मगर मंटो ने अलीगढ़ को अलविदा कहा और वे अमृतसर लौट आए। मुंबई में ब्याही उनकी बहन इकबाल बेगम़ ने अमृतसर आकर मंटो को कश्मीर के पास बटोत के सैनिटोरियम में चिकित्सा के लिए व्यवस्था की। कश्मीर के बटोत में इलाज के दौरान ही मंटो का एक अपरिपक्व प्रेम बेग नाम की लड़की से हो गया जिस पर मंटो ने इसी नाम से एक कहानी भी लिखी। तीन महीने के इलाज के बाद मंटो के सेहत में सुधार हुआ और वह पुनः अमृतसर लौट आया।

अपने अनुशासन प्रिय पिता के नियंत्रण की वजह से मंटो के व्यक्तिव्त में विद्रोह व आवागी के असर मिलते हैं। वह अपने पिता के स्नेह से वंचित रहा। इन सबके वाबजूद मंटो के अपना पहला कहानी-संग्रह, 'अतिशपोर' अपने पिता को समर्पित किया था। वालिद मरहम के नाम। उसकी माँ उसके प्रति अपने पति की उपेक्षा से परिचित थी, इसलिए उन्होंने उसे भरपूर प्यार दिया।

एफ.ए. में दो बार अनुत्तीर्ण हो जाने के बाद मंटो का मन पढ़ाई से उचट गया उसकी दिलचस्पी जुए और शराब में लग गई, किंतु आश्चर्य की बात यह है कि आवारगी के उन दिनों में भी वह घंटो जलियावाला बाग में जाकर एक पेड़ के नीचे बैठ जाता था और क्रांतीकारी बनने का सपना था। भगत सिंह को वह अपना आदर्श मानता था और उसने अपने कमरे में उनका एक बुत भी सजा रखा था। जीवन के इस बिखराव के दिनों बारी साहब से मिलना मंटो के लिए वरदान साबित हुआ और उसके जीवन को एक दिशा मिल गई। बारी साहब ने मंटो को पत्रकारिता के गुर सिखाए और रूसी एवं फ्रांसीसी साहित्य पढ़ने के लिए प्रेरित किया जिसका परिणाम यह हुआ कि मंटो ने ऑस्कर वाइल्ड, गोर्की, विक्टर हमगों का साहित्य खंगाला। उन्हीं दिनों उसने रूसी अफसोन के नाम से छपा था। बारी साहब के कहने पर मंटो 'मुसाबत' नामक अखबार में फिल्मी कॉलम लिखने लगे थे। मुसाबत बंद होने पर बारी साहब के अमृतसर से लहौर चले जाने के बाद बारी साहब फिर मंटो की जिंदगी में आ गए और उन्होंने एक साप्ताहिक पत्र 'खलक' निकालने की योजना बनाई, जिसके पहले अंक में मंटो की कहानी 'तमाशो' छपी। मंटो ने आलमगीर और 'हुमायं' जैसे रिसालों के रूसी अदब व फ्रांसीसी मदब पर केंद्रित अंको का संपादन भी किया।

नज़ीर लुधियानवी के निमंत्रण पर मंटो ने मुंबई में 'मुसाफिर ' नामक साप्ताहिक पत्र के संपादक की नौकर कर ली। 1935 से 1948 तक मंटो

मुंबई में रहे और 1948 में वे पाकिस्तान चले गए। तकरीबन 14 साल के इस दौर में मंटो ने 69 कहानियाँ लिखी और इस लिहाज से ये उसके सर्वोत्तम सृजनात्मक साल थे। बीच में डेढ़ साल उन्होंने अलीपुर रोड स्थित आकाशवाणी दिल्ली में भी गजरे जहाँ उन्होंने 100 रेडियो नाटक लिखे, जिनमें जेबकतरा, तमाशा व जर्नलिस्ट जैसे नाटक भी थे। अपने एक रेडियो नाटक में कुछ तब्दीलियाँ किए जाने पर मंटो ने प्रतिवाद स्वरूप आकाशवाणी छोड़ दिया और मुंबई चले गए। जहाँ उन्होंने मुंबई में सरोज मूवी टोन, हिंदुस्तान सिनटोन, सीरियल्स कंपनी और बाद में बाम्बे टॉकिज व फिल्मीस्तान के लिए संवाद एवं कहानियाँ लिखी। जब के आसिफ ने पहली बार 'मुगल-ए-आजम' की योजना बनाई, तो उसके संवाद भी मंटो ही लिख रहे थे, मगर विभाजन की त्रासदी ने उनके जहन पर शहीद अस डाला। उनके अपने शब्दों में वह लह किसका है जो हर रोज इतनी बेदर्दी से बहाया जा रहा है वे हड्डियाँ कहाँ जलाई या दफ़न की जाएगी। जिन पर से गाश्त-पौश्त मजहब की चीलें और गिद्ध नोच-नोचकर खा गए? इसी तरह 'सहाय' कहानी में मंटो ने पाकिस्तान जाने की घटना को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके कदम इंसान की हैवानियत देखकर उखड़ गए। उन्होंने विभाजन की त्रासदी के .... हाशिए मे मर्मांतक भाषा मे व्यक्त किया है। 18 जनवरी 1955 को उनका लाहौर में निधन हो गया। 1948 से 1955 तक मंटो में 161 कहानियाँ लिखीं, जिन्होंन नई बुलन्दियों को हुआ। मंटो की शराब की लत पाकिस्तान में इतनी चरमसीमा पर पहुँच गई थी कि आर्थिक अभावों के कारण उन्होंने महज एक बोतल के लिए कहानी लिखनी शुरू किया।

फणीश्वरनाथ रेणु : जिन्होंने कलम और क्रांति के माध्यम से प्रेरणा पाकर सामाजिक यथार्थ से सीधे साक्षात्कार किया

अमरकथा शिल्पी फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने अपनी कलम और क्रांति दोनों के माध्यम से प्रेरणा पाकर सामाजिक यथार्थ से सीधे साक्षात्कार किया और बड़ी ईमानदारी से उसका चित्रण कर आदर्श समाज के निर्माण की संकल्पना की। कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद के बाद रेणु हिंदी के उन गिने-चुने लेखकों में रहे हैं जो समाज के साथ-साथ अपने बारे में भी निर्द्वंद्व होकर लिखते थे। वे अपने-अपने समय और समाज के विरोधाभासों और अंतर्द्वंद्वों की खुलकर चर्चा करते थे। तुलसीदास की तरह वे 'मोसम कौन कुटिल, खल, कामी' कहकर खुद अपनी आलोचना करते थे। रेणु ने ग्रामीण अंचल के लोक जीवन की आर्थिक बदहाली, राजनैतिक पिछड़ेपन को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत किया है, किंतु लोकजीवन की सांस्कृतिक दशाओं का जितना सूक्ष्म और विराट चित्रण किया है, ग्रामीण लोगों की समस्याओं को जितनी अनुभूति और समझ की प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है, वह हिंदी साहित्य में दुर्लभ है। रेणु की कथा रचना में जो ग्रामीण जनजीवन का यथार्थ है उसमें न केवल वहाँ का संघर्ष है, अपितु वहाँ का रसरंग भी रचा-पगा है। कारण कि रेणु का मन लोक संस्कृति में बसता था। इसलिए वे लोकगीतों के रसिया भी कहे जाते हैं। उनकी कथाओं में ग्रामाँचलों का लोकगीत, लोकजीवन, परंपराएँ, रूढ़ियाँ, सड़कों की धूल-धूप, नौटकियाँ और वह सब कुछ है, जो ग्रामाँचलों में हैं।

रेणु का संपूर्ण कथा-साहित्य आदमी की तलाश में लगा है। रेणु हिंदी के पहले कथाकार हैं जो प्राणों में धुले हुए 'रंग' और 'मन के रंग' को, यानी मनुष्य के राग-विराग और प्रेम को, दुख और करुणा को, हास-उल्लास को आत्मा के शिल्पी के रूप में उपस्थित होते हैं। लोकबद्ध प्राणी होने के नाते सच्चा साहित्यकार अपने युगीन वातावरण से प्रभावित होकर जब संवेदनशील हो उठता है तो वह अपने द्वारा अनुभूत यथार्थ को अपने साहित्य में अभिव्यक्ति दिए बिना नहीं रह सकता। यही कारण है कि ग्रामीण परिवेश से जुड़े हुए अप्रतिम साहित्यकार रेणु की रचनाएँ ग्रामीण जन-जीवन से जुड़ी हुई अमूल्य निधियाँ हैं। अपने जीवन के परवर्ती काल में वे अधिकतर पटना में रहते थे और पटना के कॉफी हाउस में संध्या समय उनकी बैठकी लगती थी जिसमें कई बार मुझे भी उनका सान्निध्य प्राप्त हुआ था। जब भी शहरी

जिंदगी से वे उब जाते थे तो वे अपने गाँव औराही-हिंगना चले जाते जहाँ रहकर ग्रामीण जीवन की वे निजता का अनुभव करते थे। पटना विश्वविद्यालय, बी. एन. कॉलेज के पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष प्रो. रामबुझावन बाबू एवं पटना विश्वविद्यालय, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग के पूर्व अध्यक्ष डॉ. रामवचन राय के सौजन्य से जब फणीश्वर नाथ रेणु की सुपुत्री की शादी हिमाचल प्रेस के संस्थापक और बाल रचनाकार रजनीकांत सिन्हा जी के सुपुत्र अरुण कुमार सिन्हा के साथ संपन्न हुई, तो रेणु जी से हमारा संपर्क और गहरा हुआ, क्योंकि इन दोनों प्राध्यापकों से मैं गहरे रूप से जुड़ा था और साथ ही रजनी बाबू तथा उनके सुपुत्रों से भी मेरी निकटता थी और वह आज तक कायम है। हाँ, रेणु जी के दामाद अरुण जी के आकस्मिक एवं असामयिक देहावसान से जो सदमा पहुँचा है उससे अबतक हम उबर नहीं पाए हैं। उनके पिताजी रजनी बाबू तो पहले ही हमें छोड़ चुके थे। हिमाचल प्रेस की विरासत को इन दिनों उनके सुपुत्र आलोक कुमार सिन्हा जी ने संभाल रखा है।

रेणु एक सच्चे और ईमानदार कथाकार थे इसलिए इनके साहित्य में यथार्थ और भावना दोनों तत्वों का मणिकांचन संयोग मिलता है। रेणु ने निर्भीकता से यथार्थ के अथाह सागर में पैठकर भावों के मोती चुने हैं। प्रेमचंद की विरासत को पहली बार एक नई पहचान दिलाने वाले कथाकार रेणु का मन, मानों सरसों की पोटली है। तीन बिंदिया रेणु की कहानियों की सूक्ष्म अंतर्ध्वनियाँ हैं जहाँ रेणु का कथाकार मन छुपा है। कोसी के आंचल में बसे गाँव और औराही-हिंगना का आज कोई रेणु नहीं जो गाँवों की व्यथा-कथा लिखे और ग्रामीण जीवन के यथार्थ को सामने लाए। रेणु के गाँव को देखने-सुनने के साथ-साथ उनके परिवार के सदस्यों के बीच बैठकर बातें करने का मौका मुझे भी मिला है जिसे मैं आज भी संजोए हुए हूँ। रेणु के परिवार के सदस्यों से मुझे जानकारी मिली कि रेणु को अपने गाँव से बेहद प्यार था। इसलिए तो वे अक्सर कहा करते थे, 'मैं मार खाने, थप्पड़ खाने गाँव आता हूँ और गाँव का सारा दुख-दर्द, गाँव की मासूम जिंदगी को पटना जाकर उगलता हूँ कागज के पन्नों पर। दरअसल, नगरीय जीवन में उनका बहुत तनाव झेलना पड़ता था, मगर गाँव जाते ही उनका सारा तनाव दूर हो जाता था।

पूर्णिया के औराही हिंगना (अब अररिया जिला में) गाँव में 4 मार्च 1921 को जन्में रेणु ने काशी विद्यापीठ से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने उसी गाँव को अपना कर्म क्षेत्र बनाया। काशी विद्यापीठ में शिक्षा ग्रहण करने

के दौरान वहाँ के कुलपति तथा समाजवादी आंदोलन के अग्रणी आचार्य नरेन्द्र देव तथा जयप्रकाश नारायण के सान्निध्य में रहने का प्रभाव रेणु के जीवन पर काफी पड़ा। यही कारण है कि रेणु के मैला आँचल (1954) और कितने चौराहे (1966) और 11 अप्रैल, 1977 को रेणु के निधन के बाद प्रकाशित पलटू बाबू रोड में आँचलिकता की झलक के साथ-साथ उस अंचल के तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक सभी पक्षों का सफल चित्रण दिखता है। इन उपन्यासों में अंचल विशेष की प्राचीन मान्यताओं की सहज धारा के बीच आधुनिक विचार की ज्वार भाटा का भी चित्रण हुआ है जो आँचलिकता की एक शर्त भी है। उनके उपन्यासों में पात्र-विशेष को कथानक में महत्व विशेष रूप से नहीं दिया गया है। मैला आँचल में तकरीबन दो सौ पात्र हैं, पर किसी भी पात्र का विशेष महत्व नहीं दिखता। नगर से आया डॉ. प्रशांत भी गाँव में जाकर वहाँ की संस्कृति में रस-बस जाता है तथा वहाँ के लोगों की पीड़ा और दुख-दर्द को आत्मसात कर लेता है।

रेणु के अनुभव की दुनिया बहुवर्णी और बहुआयामी है। उनकी दुनिया है-धूल, शूल और फूल से भरी हुई। मैला आँचल के प्रारंभ में ही सुमित्रानंदन पंत की भारत माता ग्रामवासिनी कविता की दो पंक्तियों को देखें-

'खेतों में फैला है श्यामल
लू भरा मैला-सा आँचल।'

इसी प्रकार रेणु का 'मैला आँचल' उपन्यास 1954 में प्रकाशित हुआ। उनकी पहली कहानी 'बट बाबा' कलकत्ता से निकलने वाली साप्ताहिक पत्रिका -'विश्व मित्र' में तब प्रकाशित हुई जब रेणु मात्र 23 वर्ष के थे। फिर उनका पहला कहानी-संग्रह 'ठुमरी' जिसने उन्हें खासी लोकप्रियता दिलाई 1959 में प्रकाशित हुआ। रेणु की अन्य कहानियों में 'रेखाएँ-वृत्तचक्र', 'संवदिया', 'सिरपंचमी का सगुन', 'रसप्रिया', 'रसूल मिसतिरी', 'ठेस', मैथिली भाषा में लिखी गई कहानी 'नेपथ्य का अभिनेता' है। फिर 'कपड़घर', 'पंचलाइट' तथा 'मारे गए गुलफाम' जिसके आधार पर 'तीसरी कसम' फिल्म बनी। रेणु की यह सबसे लोकप्रिय कहानी है जो हिरामन के मन में उत्पन्न होने वाली भाव स्थितियाँ उसकी आंतरिक वेदना को ही दर्शाती हैं। इस कहानी में जितना व्यक्त है उससे ज्यादा अव्यक्त। यही अव्यक्त भाव जो अंदर ही रह जाते हैं, आंतरिक संवेदना है। फिर 1946 में प्रकाशित 'बीमारों की दुनिया' है जिसके वीरेन नामक पात्र के द्वारा रेणु ने अपनी ही आंतरिक

संवेदना का उद्घाटन किया है। कहानियों के अतिरिक्त रेणु के रचना-संसार का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष उनके लिखे हुए रिपोर्ताज हैं। एक तरह से कहा जाए तो हिंदी में रिपोर्ताज लिखने की परंपरा विकसित करने का तथा उसे नई ऊँचाई और गहराई देने का श्रेय रेणु को जाता है, क्योंकि इसने पाठकों पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा। प्रकाशित रिपोर्ताज के संग्रह में ऋणजल-धनजल, 'नेपाली क्रांति कथा' एवं एकांकी के दृश्य प्रमुख हैं। इसी प्रकार भारत यायावर ने रेणु की यत्र-तत्र कविताओं का संकलन 'कवि रेणु कहें' शीर्षक से प्रकाशित कराया। रेणु के लिए कविताएँ जीने का विषय थीं इसीलिए उनके व्यक्तित्व से कविता स्वेद-कण के रूप में निःसृत होती रहती थीं। कवि त्रिलोचन शास्त्री पर लिखते हुए फणीश्वरनाथ रेणु जी स्वयं कहते हैं 'कविता मेरे लिए समझने-बूझने का विषय नहीं, जीने का विषय है'।

देश में जब आपातकाल लागू किया गया था तब लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में देशव्यापी जनांदोलन का रूप अख्तियार किए जाने के बाद जे.पी. के साथ बिहार के जिन साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों ने आंदोलन में हिस्सा लिया था उनमें फणीश्वर नाथ 'रेणु' सबसे प्रमुख थे जिन्होंने विरोध स्वरूप तत्कालीन सरकार द्वारा प्रदत्त तमाम सरकारी सुविधाएँ, पुरस्कार पद्मश्री लौटाई थी। जे.पी. के साथ हो रहे अमानवीय और बर्बरता पूर्ण रवैए से क्षुब्ध अक्सर 'रेणु' जी तो उनके साथ आंदोलन की गति तेज करते रहते ही थे, इन्कम टैक्स चौराहे पर जब जे.पी. पर पुलिस की लाठियाँ बरसाई जा रही थीं तो उसका प्रत्यक्ष साक्षी इन पंक्तियों के लेखक भी रहा है और कलम से जितना विरोध हो सकता था, मैंने भी किया। अपने मितभाषी स्वभाव के कारण 'रेणु' मंच से तो बहुत कम बोलते थे, मगर हर मंच पर वह उपस्थित जरूर रहते थे। उन्हीं दिनों बिहार में बाढ़ की विभीषिका से संत्रस्त था जनमानस और चारों ओर हाहाकार की स्थिति में बाढ़ पीड़ितों की सेवा करते 'रेणु' अपने लेखन को जहाँ विस्तार दे रहे थे, वहीं 'रेणु' दिन-रात उन सामान्य लोगों की सेवा में भी लगे थे जो बाढ़ से बुरी तरह प्रभावित थे। उन्हीं दिनों बाढ़ पीड़ितों की सेवा करते रेणु को गिरफ्तार कर लिया गया। एक स्वाभिमानी व्यक्ति का स्वाभिमान ही उसके जीवन भर की पूँजी होती है। साहित्यकार के मन को सिर्फ क्रियाशील व्यक्ति ही जान सकता है। आजादी की लड़ाई के दौरान भी 'रेणु' इतने ही सक्रिय थे। यही नहीं सन् 1950 के दौरान नेपाल में राणाशाही का विरोध 'रेणु' ने जेल से ही एक बयान जारी किया- 'मेरी गिरफ्तारी गैरकानूनी तरीके से हुई है। मैं बाढ़

पीड़ितों की सेवा कर रहा था। मुझे गलत तरीके से गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार इसके लिए क्षमा माँगे और बाइज्जत रिहा करे।' अंत में जब विरोध काफी बढ़ गया तो आखिरकार सरकारी घोषणा हुई– 'साहित्यकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' की गिरफ्तारी के लिए सरकार खेद प्रकट करती है और उन्हें बाइज्जत रिहा करती है।' 'रेणु' जी जब विरोध और विद्रोह का अंगार अपनी हथेली पर लिए जेल से बाहर निकले तो हजारों लोगों की प्रतीक्षारत आँखों में आने वाले सुनहरे दिनों के सतरंगी सपने थे। आपातकाल एक सामयिक कालखंड था जिसके एक छोर पर 'रेणु' और दूसरे छोर पर जयप्रकाश नारायण अडिग खड़े थे और दोनों एक विशाल जनमानस के साथ उस आजादी की प्राप्ति के लिए संघर्षरत थे जो स्वतंत्र अभिव्यक्ति के लिए नितांत आवश्यक थी– ऐसी आजादी जो गलत से समझौते नहीं करती, जो भटकती नहीं और सत्ता के टुकड़ों पर खुद को दूषित नहीं करती।

जिस समय रेणु का जन्म हुआ था उस वक्त रेणु-परिवार पर ऋण था। दादी मां कहने लगीं कि ऋण में जन्म लिया है, इसका नाम रिनुआ रखो, रिनुआ कहते-कहते 'रेणु' नाम पड़ा। फणीश्वरनाथ रेणु पर सचमुच में समाज व धरती पर व्याप्त शोषण का ऋण था। उसी ऋण को उतारने के लिए वे लेखनी को अपनाते हुए मानव अधिकारों के लिए आजीवन लड़ते रहे। 1975 में जे.पी. के आह्वान पर छात्र आंदोलन में हिस्सा लेने पर जब रेणु को गिरफ्तार कर जेल भेजा गया और जेल से जब वे रिहा हुए तो चिकित्सकों ने उन्हें पेप्टिक अल्सर बीमारी के लिए ऑपरेशन की सलाह दी, पर उन्होंने यह कहकर टाल दिया कि अभी काम बहुत करना है। आपातकाल के समय उन्होंने 'रांड़ का बेटा सांढ' नाम्नी उपन्यास लिखा, पर किसी ने उसे प्रकाशित करने का साहस नहीं जुटाया। अपने जीवन के प्रारंभिक वर्षो में रेणु ने स्वाधीनता संघर्ष के साथ-साथ कई किसान आंदोलनों में हिस्सा लिया था। अपने क्षेत्र के काश्त-संघर्ष तथा मिल मजदूरों की हड़ताल के नारे लगाने और भाषण देने के अलावा पार्टी पत्रिकाओं में अपने अनुभव लिखा करते थे।

जहाँ तक रेणु की कथाओं में आंतरिक लयात्मकता और गेयता का संबंध है 'रेणु' इस बात से वाकिफ हैं कि सामंती-पूँजीवादी शक्तियाँ आम आदमी का धन-मान तो अपहृत करती ही हैं, उनके गान पर भी उनकी गिद्ध दृष्टि रहती है इसलिए रेणु लोककला की हिफाजत के लिए प्रतिश्रुत हैं। 'रेखाएँ वृत्त चक्र' और 'भितिचित्र की मयूरी' जैसी कहानियों में लोक-संस्कृति के सौदागरों की घिनौनी नीयत का पर्दाफाश किया गया है। इसी प्रकार 'ठेस'

और 'रस-प्रिया' के मदंगिया के मर्म पर चोटें इसी की गवाही भरती हैं। 'रेणु' निम्न मध्यवर्गीय और सर्वहारा वर्ग की संपन्न सांस्कृतिक चेतना को अपने कला-केंद्र में प्रतिष्ठित करते हैं। भयावह गरीबी, घृणास्पद सामंती वर्णवाद, जहालत, निरंतर नीरस होते यांत्रिक और उपभोक्तावादी परिवेश के बरबस 'रेणु' के प्रमुख कथा-पात्र निर्मल मन और खुलेकंठ से जीवन संगीत गुनगुनाते-गाते प्रस्तुत होते हैं। जीवन के प्रति आस्था का यह अनन्य राग ही उन्हें हर मुसीबत से मुठभेड़ करने की शक्ति देता है। इसलिए कहा जाए तो 'रेणु' के कथा-लोक में जीवन की गतिमयता का संगीत गुँजता है।

रेणु रसग्राही चेतना के संवाहक कथाकार हैं। वे आज के लगातार नीरस होते जा रहे जीवन में रस की तलाश करते हैं। आज के जीवन में हो रहे बदलावों को वे अपनी कहानियों में रेखांकित करते हैं जिसमें स्वार्थ का गहन अंधकार हैं जिसकी वजह से जीवन रसहीन होता जा रहा है। रिश्ते-नाते टूट रहे हैं। ऐसी जीवन स्थितियों को देखकर 'रेणु' जैसे लोक-जीवन से संपृक्त कहानीकार की संवेदना आहत होती है, किंतु कठोर-कुलिश ऐसे परिवेश में भी वे रसमयता के भावों को खोज ही लेते हैं। इसलिए 'रेणु' को 'रसखोजी' कथाकार कहना सर्वथा उचित है। इसलिए 'रेणु' को 'रसखोजी' कथाकार कहना सर्वथा उचित है। वे बिरहा, चांचर, लगनी, बाहरमासा में, खेतों में काम करने वालों के गीतों में, लोकरस प्राप्त करते हैं। यही लोक-रस लोक संवेदना भी है। यह लोक-संवेदना उनकी कहानियों में कहीं संगीतात्मकता के रूप में दिखाई पड़ती है, तो कहीं गंध, रस और सौंदर्य के रूप में। रेणु की कहानियों में निरर्थक कुछ भी नहीं है। हर संवेदना, रंग, रूप, ध्वनि, गीत, प्राकृतिक परिवेश की अपनी एक अर्थवत्ता है। संगीत के हर ताल और स्वर का भी अपना एक अर्थ है। अपनी सक्रियता की वजह से साथियों के साथ रेणु गाँवों में रात के वक्त डेरा डाल देते थे और रात में दूर से कभी ढोलक-झांझ पर नाच-गान की स्वर लहरी मंडराती तो रेणु अपने साथियों को सोते छोड़ वहीं चल देते। कहीं 'विदेशिया', कहीं 'जालिम सिंह सिपहिया' और किसी गाँव में 'ननदी भउजिया' के नाच-गान देख-सुनकर वे मुग्ध हो जाते। उस नाच-गान को देखने-सुनने के बाद उन्हें भान हुआ कि उनके लच्छेदार भाषणों से ज्यादा प्रभाव उस सांस्कृतिक चेतना का होता है, जो उन्हें मुसीबत में भी गाते रहने के लिए मजबूर किए रहती है।

फणीश्वर नाथ रेणु रेलवे हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य थे। कटिहार से सभा कर वे घर आए। कटिहार में खाने में कुछ गड़बड़ी हो गई

थी। कटिहार में ही उनका स्वास्थ्य खराब हो गया था। फारबिसगंज में उनका इलाज चल रहा था जहाँ हालत बिगड़ते देखकर अचेतावस्था में ही उन्हें पटना मेडिकल कॉलेज अस्पताल में लाया गया। होश में आते ही लोकसभा चुनाव की घोषणा की उन्हें जानकारी अस्पताल में मिली। वे बड़े-प्रसन्न हुए और जयप्रकाश नारायण जी की पटना के गाँधी मौदान में हुई पहली सभा में डॉक्टर के बिना पूछे वे चुपचाप शामिल हुए और फिर अस्पताल से ही लोकतंत्र रक्षी साहित्य के माध्यम से लेखन कार्य कर जन प्रबोधन के कार्य में संलग्न रहे। 24 मार्च को उनके ऑपरेशन की तारीख तय हुई। इधर 20 मार्च को पटना में चुनाव था। रेणु जी अस्पताल से वोट डालने चले आए और साथ में उनकी पत्नी लतिका जी प्लास्टर लगे हाथ लिए हुई थीं। उन्हें देखकर डॉ. शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव जी ने उनसे पूछा कि ऐसी अवस्था में आप यहाँ क्यों आ गए? तो उन्होंने जवाब दिया, आता कैसे नहीं, प्रजातंत्र की रक्षा के लिए आना ही था। मेरा ऑपरेशन तो 24 को, पर तानाशाही का ऑपरेशन तो आज ही है। अगर तानाशाही नहीं हटी तो मेरा ऑपरेशन तो आज ही है। अगर तानाशाही नहीं हटी तो मेरा ऑपरेशन सफल हो या असफल, क्या फर्क पड़ता है। इस बीच लोकनायक जयप्रकाश नारायण जी उनसे मिलने अस्पताल पहुँचे तो वे उनसे अनुनय करने लगे कि 'कृपा करके मुझे देखने न आएँ, क्योंकि इसी समय को आप जनता की सेवा में लगाएँ, देश को आपकी बहुत जरूरत है।'

रेणु जी के साहित्य में जीवन की विविधता, विषमता एवं अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक छवियों की जो बहुरंगी छटा बिखरी हुई मिलती हैं, वह उनके अपार जीवनानुभव की वजह से ही। वे एक लेखक होने के साथ-साथ राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। उनके रिपोर्ताज में उनका यह जीवन एवं परिवेश प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हुआ है। 'पटना-जल प्रलय' नामक रिपोर्ताज में रेणु ने अपने प्रारंभिक जीवन के कई प्रसंगों का संस्मरण प्रस्तुत किया है। इसी रिपोर्ताज में उन्होंने अपने परिवार का चित्रण भी किया है। रेणु की दो पत्नियाँ थीं, एक पद्मा जी गाँव में रहती थीं अपने बाल-बच्चों के साथ। दूसरी पत्नी लतिका जी पटना के राजेन्द्रनगर स्थित गोलम्बर में 2/32 नंबर के फ्लैट में जहाँ जाकर मैंने भी कई बार उनसे मिलकर बातें की हैं। लतिका जी से रेणु को कोई संतान नहीं हुई। लतिका जी श्रीरामकृष्ण मिशन स्कूल में पढ़ाती थीं। रेणु जी ने अपने दाम्पत्य-जीवन के कई प्रसंग 'पटना जल प्रलय' नाम्नी रिपोर्ताज में उद्घाटित किए हैं। लतिका जी बंगाली परिवार

से थी इसलिए वह रेणु जी से बंगला भाषा में ही बात करती थीं। रेणु जी रामकृष्ण मिशन से भी जुड़े थे। 'रस के बस में चार रात' नामक रिपोर्ताज में रेणु के जीवन एवं परिवेश का एक नया पहलू खुलता है और इन रिपोर्ताजों में उनके जीवन के साथ-साथ घर-परिवेश, साथी-संगी भी जीवंत रूप में चित्रित हुए हैं। रेणु अपनी मानसिकता को कभी छुपाते नहीं थे। उनमें आत्ममंथन और आत्मालोचन चलता रहता था। रेणु ने मृत्यु का साक्षात्कार कई बार किया था और हर बार मृत्यु ने उन्हें जीने का कुछ अवसर दिया था, मगर पेप्टिक अल्सर से पीड़ित होने के बाद जब पटना मेडिकल कॉलेज अस्पताल में उनका इलाज चल रहा था, तब वे मृत्यु से बच न सके और हमारे जैसे लाखों शुभेच्छुओं को छोड़ विदा हो गए और अपने परिवार के बहुत सारे सदस्यों में छोड़ गए अपने तीन सुपुत्रों को जिसमें ज्येष्ठ सुपुत्र पद्म पराग राय 'वेणु' पूर्व विधायक रह चुके हैं। यह देश और खासतौर पर बिहार आज जिस स्थिति से गुजर रहा है इसमें रेणु के साहित्य द्वारा सही मार्ग की पहचान हो सकती है और सही मार्ग की पहचान से ही देश और राज्य का नवनिर्माण हो सकता है। रेणु ने विशेष तौर पर बिहारवासियों में परिवर्तन की व्याकुलता को राजनीति से आगे बढ़ाकर व्यवहार में लाने का प्रयत्न किया था, जे.पी. आंदोलन में जिस प्रकार बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया और बिहार को भ्रष्टाचार से मुक्ति दिलाने का संकल्प लिया उससे भोग-विलास और लालच से भरे आज के हमारे नेता सीख लेकर राज्य को विकास की पटरी पर ला सकते हैं। उन्होंने कलम के साथ क्रांति का रास्ता दिखाया। समाज के आगे-आगे चलने वाले रेणु जी उस शासक की तरह थे जो देश व राज्य की राजनीतिक सत्ता को समय-समय पर रास्ता दिखाने का काम किया। कहना नहीं होगा कि रेणु की राजनीतिक चेतना पर उनके पारिवारिक परिवेश का भी सहयोग रहा है। उनके पिताश्री पुराने काँग्रेसी थे। रेणु स्वयं समाजवाद के पक्के समर्थक रहे। समाज और देश के लिए चार बार जेल गए। रेणु ने अपनी कहानियों के माध्यम से जहाँ मध्यवर्गीय किसानों एवं मजदूरों की समस्याओं की बात की, वहीं जातिवाद भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार की पनपती हुई बेल की ओर मात्र इशारा ही नहीं किया था, बल्कि इसे समूल नष्ट करने की आवश्यकता पर भी बल दिया था। आत्मसाक्षी के द्वारा राजनीतिक दलों के आपसी कलह और जनता से अलगाव की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया था।

जहाँ तक रेणु की साहित्य साधना का सवाल है मैला आँचल(1954),

परती परिकथा(1956), दीर्घतपा(1958), जुलूस(1965), कितने चौराहे(1966), पलटू बाबू रोड(1978) और कलंक मुक्ति उनके सात उल्लेखनीय उपन्यास हैं। कहानी संग्रहों में ठुमरी(1958), आदिम रात्रि की महक(1967), अगिनखोर(1973), श्रावणी दोपहरी की धूप(1984), प्रतिनिधि कहानियाँ(1984) और अच्छे आदमी(1986) प्रमुख हैं। ऋणधन-जलधन(1978), नेपाली क्रांति कथा (1978), वनतुलसी की गंध(1984), श्रुत-अश्रुत पूर्व(1984), एकांकी के दृश्य(1986), आत्म-परिचय(1988) और समय की शिला पर (1991) रेणु के रिपोर्ताज संस्मरण हैं। नाटक में उत्तर नेहरू चरितम(1988) तथा कविता-संग्रह में कवि रेणु कहे(1988) प्रकाशित हैं। लोक संस्कृति और आँचलिक-संस्कार से ओत-प्रोत रेणु औराही-हिंगना की धूसर माटी में पुष्प अंकुरित होकर अपनी अनेक कालजयी रचनाओं से हिंदी साहित्य को समृद्ध कर अमर हो गए।

यह बात सही है कि 'रेणु' ग्रामीण जीवन के लेखक थे, किंतु उनका राजनीतिक जीवन भी उतना ही महत्वपूर्ण रहा। महात्मा गाँधी द्वारा चलाए गए सत्याग्रह आंदोलन में भी उन्होंने भाग लिया। इनकी कृतियों में काँग्रेस, समाजवादी पार्टी और कॉम्यूनिस्ट पार्टी का भी वर्णन आया है। सारे दल के लोग अपने अधिकार और कर्त्तव्य के प्रति सजग थे, मगर मौजूदा दौर के राजनीतिक परिदृश्य में सब कुछ गौण दिखाई पड़ते हैं। मुझे स्मरण आ रहा है आपातकालीन दुर्दशा पर आक्रोश व्यक्त करते हुए रेणु जी ने कहा था- 'इंदिरा जी क्यों नहीं अपनी गद्दी बचाकर पूरे देश को एटम बम से उड़ा देती हैं? उनको एकछत्र राज ही तो करना है। न कोई बचेगा न विरोध होगा। कम से कम जैसे लोग तो विरोध करेंगे ही। या नहीं तो ऐसा करें मेरे जैसे लोगों को चुन-चुनकर फाँसी पर लटका दें।'

यों तो फणीश्वरनाथ 'रेणु'ने जिन महान कथाकारों से प्रेरणा ग्रहण की उनमें रूसी कथाकार मिखाइल शोलोखोव, बंगला कथाकार ताराशंकर वंद्योपाध्याय और सतीनाथ भादुड़ी तथा हिंदी के कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद का नाम आता है, किंतु मुख्य रूप से अपने साहित्यिक गुरु सतीनाथ भादुड़ी से वे सर्वाधिक प्रभावित हुए, क्योंकि 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में भाग लेने की वजह से वे दोनों भागलपुर जेल में एक साथ थे।

रेणु जीवन को उसके संपूर्ण सौंदर्य के साथ जीना चाहते थे। इसलिए उन्हें हर सुंदर वस्तु से प्यार था। यही कारण है कि रेणु और उनका साहित्य हर उस व्यक्ति, व्यवस्था और तंत्र के विरूद्ध संघर्ष करते हैं जो मनुष्य से

जीने और विकास करने की संभावनाएँ छीनता है। रेणु ने अपने समग्र लेखन में व्यवस्था और व्यक्ति के अंतर्विरोधों और व्यक्तियों के समाज के जिन अंतर्विरोधों को जीवन के कैनवास पर व्यक्त किया है, राजनीति उनके केंद्र में है। चाहे अररिया के औराही हिंगना के खेत और मिट्टी में आकंठ डुबे खेतिहर किसान रेणु हों या फिर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम अथवा भारतीय लोकतंत्र की लड़ाई में अग्रणी भूमिका निभाने वाले क्रांतिकारी रेणु, नेपाल में राणाशाही के विरूद्ध मुक्ति संग्राम की लड़ाई लड़ने वाले रेणु और सबसे ऊपर अपने साहित्य में मानवीयता की लड़ाई लड़ने वाले सतत् जाग्रत रेणु हों, सभी में रेणु को साहित्यिक और राजनीतिक माहौल बचपन में ही मिल गया था। सन् 1971 में होने वाले बंगलादेश के मुक्ति संग्राम ने रेणु के मन को झकझोर दिया था। रेणु जीवन में संघर्ष करते हुए मनुष्यता द्वारा प्राप्त विजय के पक्षधर रहे हैं। विद्रोह, संघर्ष, पराक्रम और मातृभूमि से प्रेम रेणु की चेतना के अंग हैं. स्वाधीनता की हर लड़ाई में रेणु अपनी कलम के साथ उपस्थित हैं और उन्होंने अपना जीवन अपनी शर्तों पर जिया।

इसलिए रेणु आज भी जिंदा हैं अपनी जिंदादिली के लिए अपने क्रांतिकारी विचारों के लिए, तानाशाही के विरूद्ध संघर्ष के लिए और अपनी जिजीविषा के लिए। ऐसे जिंदादिल इंसान की स्मृति को नमन करते हुए उनके प्रति मैं अपना सम्मान भाव अर्पित करता हूँ 'रेणु' की कविता 'मेरा मीत सनीचर!' की इन पंक्तियों से

'इससे बढ़कर और भला क्या हो सकती है बात
अब भी मन में बसा हुआ है इन गाँवों का प्यार
इसके आगे एक शब्द भी नहीं सका बोल
गला भर गया, दोनों आँखें डब-डब भर आई थीं
मेरा भी था वही हाल, मुश्किल से बोल सका था
जल्दी ही आऊँगा फिर पर आँखें बरस पड़ी थीं
पद्य नहीं यह तुकबंदी भी नहीं, किंतु जो भी हो
दर्द नहीं झूठा जो अबतक मन में पाल रहा हूँ।'

महाकवि आरसी प्रसाद सिंह : जो छायावादोत्तर हिंदी कविता की स्वच्छंद धारा के जीवन और यौवन के कवि थे

महाकवि आरसी प्रसाद सिंह छायावादोत्तर हिंदी कविता की स्वच्छंद धारा के जीवन और यौवन के कवि थे जिन्होंने प्रौढ़ और बाल साहित्य दोनों पर ही अपनी कलम चलाई। आरसी बाबू के नाम से प्रसिद्ध आरसी प्रसाद सिंह ने साहित्य की प्राय: सभी विधाओं में अपनी लेखन कला का परिचय दिया। दरअसल इनका पूरा नाम रामचंद्र प्रसाद सिंह था, लेकिन लोग रामचंद्र न कहकर उन्हें आरसी कहा करते थे। फिर तो लोग इन्हें आरसी प्रसाद ही कहने लगे।

बिहार के समस्तीपुर जिलांतर्गत रोसड़ा अनुमंडल के एरौत गाँव में 19 अगस्त, 1911 को जन्में आरसी बाबू की जन्मभूमि का नामकरण आरसी नगर एरौत हो गया। सामान्य मध्यम परिवार में जन्में इस महाकवि की आरंभिक शिक्षा-दीक्षा आर्थिक निर्धनता की वजह से बहुत आगे नहीं बढ़ पाई। फिर भी इंटरमेडियट तक की शिक्षा ग्रहण के बाद स्वाध्याय के बल पर हिंदी, अँग्रेजी, मैथिली, संस्कृत, धर्म, दर्शन, पुराण तथा दर्शन आदि पर उन्होंने प्रभुत्व स्थापित किया और 1948 से 1951 तक कोशी महाविद्यालय में प्राध्यापक पद पर कार्यरत रहे।

1957 में आरसी प्रसाद सिंह जी की नियुक्ति आकाशवाणी के लखनऊ केंद्र में प्रोड्यूसर के पद पर हुई, लेकिन साहित्य के प्रति समर्पण का भाव के कारण पद से त्याग पत्र देकर साहित्य-साधना में लग गए। इनकी रचनाएँ प्रारंभ से ही विश्वमित्र, सरस्वती, माधुरी, विशाल भारत, धर्मयुग, आर्यावर्त आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। इनकी साहित्यिक रुचि एवं लेखन शैली से प्रभावित होकर रामवृक्ष बेनीपुरी ने इन्हें 'युवक' समाचार पत्र में काम करने का अवसर प्रदान किया। क्रांतिकारी विचारधारा की वजह से आरसी बाबू की धारदार कलम से क्रांतिकारी शब्दों का अधिक प्रयोग होता था जिससे कुपित होकर अँग्रेजी हुकूमत ने इनके खिलाफ गिरफ्तारी वारंट जारी कर दिया था। इस कवि को पराधीनता कतई स्वीकार्य नहीं थी। किसी विषय पर अविलंब कविता करने का सद्गुण इन्हें किशोरावस्था से ही प्राप्त था। इनके यश की चर्चा जब जयपुर नरेश ने सुनी तो राजा ने उन्हें अपने दरबार में राजाश्रय के लिए आमंत्रित किया, किंतु स्वच्छंद विचार होने की वजह से उन्हें राजदरबार का जीवन गवारा नहीं हुआ, क्योंकि इनका मानना था-

किसी बुद्धिजीवी की कलम पर नियंत्रण
सरीखा नहीं है कहीं पाप कोई
उदर के लिए स्वाभिमानी हृदय में
दमन-सा अन्य संताप कोई।

आरसी प्रसाद सिंह इंटर करने के बाद कुछ दिन नालंदा कॉलेज, शांति निकेतन और काशी हिंदू विश्वविद्यालय के छात्र रहे। तेजनारायण जुबली कॉलेज, भागलपुर में जब वे द्वितीय वर्ष के छात्र थे, तभी उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी। फिर काशी हिंदू विश्वविद्यालय से पढ़ाई पूरी करने के बाद काशी कॉलेज, खगड़िया में उन्होंने अध्यापन किया। आकाशवाणी के इलाहाबाद और लखनऊ केंद्र में वे हिंदी कार्यक्रम के आयोजक रहे और तारामंडल नाम से अपना प्रकाशन भी चलाया।

आरसी प्रसाद सिंह का पहला कविता संग्रह 'कलापी' 1938 में ग्रंथमाला कार्यालय, पटना से प्रकाशित हुआ था। उनकी अन्य कृतियों में पांच जन्य, आरसी, जीवन और यौवन, आजकल, नई दिशा, आरण्यक, युद्ध अवश्यंभावी है, द्वंद्व समाज, चाणक्य-शिखा, आस्था का अग्निकुंड, बदल रही है हवा, मैं किस देश हूँ, भारत सावित्री, प्रेमगीत, नंददास, कुंवर सिंह, संजीवनी, रजनीगंधा, पूर्णोदय और पातीराम के नाम हैं। इसी प्रकार बाल रचनाओं में चंदा मामा, चित्रों की लोरियाँ, जादू की वंशी, ओनामासी, कागज की नाव, बाल गोपाल, हीरा मोती, रामकथा, सोने का झरना, जगमग, कलम और बंदूक, पंचमेल है। पंच पल्लव, खोटा सिक्का, काल रात्रि, एक प्याला चाय वे तुतलाते थे, ढंडी छाया और आँधी के पत्ते इनके कहानी संग्रह प्रकाशित हैं। मैथिल रचनाओं में सूर्यमुख, माटिक दीप, मेघदूत, पूजा फूल प्रकाशित हैं।

मैथिल काव्यकृति 'सूर्यमुखी' के लिए आरसी बाबू को साहित्य अकादमी पुरस्कार से वर्ष 1984 में नवाजा गया। इनकी पहली रचना 'आम का पेड़' 1927 में बच्चों की पत्रिका-'बालक' में प्रकाशित हुई। 1930 के आसपास हिंदी की प्रमुख पत्रिकाओं यथा 'युवक', 'विशाल भारत', 'चांद' और 'माधुरी' में इनकी कविताएँ प्रकाशित हुई थी।

छायावाद के तृतीय उत्थान के कवियों में विशिष्ट विपुल साहित्य के धनी आरसी प्रसाद सिंह ने साहित्य की अनेक विधाओं में लिखा है। आधुनिक हिंदी साहित्य के भंडार को समृद्ध करने वाले आरसी बाबू का अवदान महत्वपूर्ण है। गीत रचना के क्षेत्र में इनका 'प्रेम-गीत' नामक गीत

संकलन कल्पना, माधुर्य, शब्द-सौष्ठव और छंद विधान की दृष्टि से उत्कृष्ठ है, लेकिन वे केवल गीति-गीत मुक्तक के कवि नहीं थे, बल्कि इन्होंने अनेक प्रबंध काव्यों की भी रचना की है, जिनमें नंद दास, सजीविनी, कुँअर सिंह, रजनीगंधा और पूर्णोदय ऐतिह्य तथा कल्पना-प्रसूत उत्पाद्य-लावण्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन कृतियों से यह स्पष्ट होता है कि आरसी बाबू की लेखन-साधना कवि के जीवन-पर्यंत अबाध गति से निरंतर बढ़ती गई। इनका रचनाकाल 1922 से 1996 तक चौहत्तर वर्षो का है। इन्होंने ग्यारह वर्ष की उम्र से लिखना प्रारंभ कर दिया था। 'जिंदगी के तार पर झंकार' भरने का आकांक्षी कवि आरसी बाबू वस्तुत: जीवन-भर सर्जना-साधना के तारों को झंकृत-प्रतिझंकृत करता रहा। आरसी बाबू माखनलाल चतुर्वेदी की तरह कृष्ण के भक्त थे। कृष्ण-भक्ति की वजह से ही उन्होंने अपनी कई कृतियों को श्रीकृष्ण को अर्पित की हैं- 'श्रीकृष्णार्पर्णमन्तु'। इन्होंने अपनी प्रबंध-रचना 'नंददास' में अपनी कला-दृष्टि को रेखांकित करते हुए लिखा है-

'वही कला, सौंदर्य वही है, सार्थक जीवन
जो होता कृष्णार्थ और केवल कृष्णार्पम।'

आरसी बाबू को विश्वास था कि श्रीकृष्ण की कृपा से ही इन्हें वह सबला भक्ति मिली है, जिसके उडुप के सहारे ये इस संसार-सागर का संतरण सहजतापूर्वक कर लेंगे और भक्ति-ज्ञानहीन मूर्खो की तरह मझधार में कभी घबड़ाएँगे नहीं-

यह संसार विकल केवल मूर्खों को करता
अनायास प्रभु-कृपा-तरी ले ज्ञानी तरता।

आरसी बाबू का जीवन बहुत संघर्षमय रहा है। मुझे अच्छी तरह याद है कि पटना के राजेन्द्र नगर रोड नं. 13 के एक छोटे से मकान में किराए पर जब वे रहते थे मैं अक्सरहा वहाँ उनसे मिलने जाया करता था। वैसे भी वे बराबर बीमार रहा करते थे।

1970 में एक गंभी बीमारी से जब आरसी बाबू ग्रस्त हुए तो महीनों तक शय्या पर पड़े रहे और कई माह के बाद उस बीमारी वे त्राण पाए, किंतु उस सांघातिक बीमारी ने उन्हें शेष जीवन के लिए असह्य 'बाहुपीर' का रोगी बना दिया। दया के मरीज आरसी बाबू एक बार कुर्जी होली फेमिली अस्पताल, पटना में इलाज हेतु जब भर्ती हुए तो उन्हें कई दिन तक गहन चिकित्सा-कक्ष में रखा गया, मगर उससे वे उबर नहीं सके और 19 नवंबर, 1996 को उनका निधन हो गया। उनका अंतिम दाह-संस्कार पूरे राजकीयय

सम्मान के साथ पटना के बांसघाट पर किया गया जिसमें सम्मिलित होकर मैंने भी उन्हें पुष्पांजलि अर्पित किया।

बिहार सरकार के राजभाषा विभाग द्वारा आरसी बाबू को दिनकर साहित्य सम्मान से पुरस्कृत किया गया था। 1976 में आरसी बाबू के सम्मान में पटना के प्रबुद्ध नागरिकों द्वारा शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, महेन्द्रू, पटना में छायावाद के अग्रणी साहित्यकार डॉ. कुमार विमल की अध्यक्षता में. जब अभिनंदन-समारोह आयोजित किया गया तो मैंने भी सम्मानस्वरूप अपनी उपस्थिति वहाँ दर्ज की। इस अवसर पर उन्हें एक अभिनंदन ग्रंथ समर्पित किया गया। बिहार लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष डॉ. कुमार विमल आरसी बाबू को 'अनिरूद्ध साहित्य-साधना' का मूर्त्तिमान प्रतीक कहा करते थे। सचमुच आरसी बाबू 'चिर कुमारी साधना की मांग में सिंदूर' भरने वाले कवि थे। एक स्वच्छंदतावादी कवि के लिए अपेक्षित सभी गुण आरसी बाबू में विद्यमान थे। इनके भक्तिपरक गीत पाठकों को काफी प्रभावित करते हैं। आरसी बाबू ने मस्ती को झरने की 'मस्ती' को जीवन का पर्याय माना था। आखिर तभी तो उन्होंने लिखा-

यह जीवन क्या है? निर्झर है,
मस्ती ही इसका पानी है।
सुख-दुख के दोनों तीरों से,
चल रहा राह मनमानी है।

इन्होंने एक और कविता में अपनी मस्ती का इजहार किया है इन शब्दों में-

आठों पहर चमकती मेरी,
मस्ती यह आबाद रहे।

'नई दिशा' नामक अपनी रचना में भी आरसी बाबू ने दुनिया को अपनी 'मस्ती' से अवगत कराते हुए लिखा हे-

'तुम मेरी मस्ती तो देखो!, इतनी मस्ती, इतनी मस्ती
मैं बहका-बहका जाता हूँ, कुछ का कुछ हूँ सुन लेता मैं
कुछ का कुछ कह जाता हूँ, जब आती है मौज, किसी की
मैं तस्वीर सजा लेता हूँ, जब उमंग उठती है
अपनी ही जंजीर बजा लेता हूँ।'

सभी लोगों के साथ यह मैं भी मानता हूँ कि आरसी बाबू की 'मस्ती' वाल कविताएँ अधिक लोकप्रिय हुईं। खासतौर पर इनकी 'जीवन का

झरना' शीर्षक कविता की 'यह जीवन क्या है? निर्झर है, मस्ती ही इसका पानी है' पंक्तियाँ अक्सरहा पाठक गुनगुनाने लगते हैं। पटना विश्वविद्यालय की प्राक विश्वविद्यालय की कक्षा के हिंदी पाठ्यक्रम में तथा इसके पूर्व प्रवेशिका परीक्षा के पाठ्यक्रम में स्वीकृत-संकलित होने के बाद तो यह कविता और भी लोकप्रिय हो गई। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में सुप्रसिद्ध आलोचक आचार्य राम चंद्र शुक्ल ने लिखा है कि 'किसी कवि का यश उनकी रचनाओं के परिणाम के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है।' आरसी बाबू की काव्य कृतियों को समग्रता में पढ़ने के बाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल की उपर्युक्त टिप्पणी को खारिज नहीं की जानी चाहिए। आरसी बाबू जिस प्रेम और यौवन की बात करते हैं वह शाश्वत मूल्य बोध से संपृक्त है। इस दृष्टि से उनकी 'जीवन का झरना' कविता को देखा जाए तो उनकी दृष्टि में जीवन है तो मरण भी साथ है और दोनों शाश्वत हैं। यौवन के मद में शाश्वत सुख को भूल जाना उचित नहीं–

सुंदरता अभिशाप विश्व का, सुंदरता वरदान प्रिये
इस क्षणभंगुर सुंदरता पर, मत करना अभिमान प्रिये
यौवन के इस प्रखर तरणि को एक दिवस ढल जाना है
मृत्यु-ताप लगते ही हिम की, इस छवि को गल जाना है।

'कलापी' में प्रेम और सौंदर्य की अधिकांश रचनाएँ हमें छायावद की याद दिलाती है, लेकिन कवि आरसी बाबू स्वयं दुख के साथ भूमिका में कहते हैं– 'साहित्य की पीढ़ी-दर-पीढ़ी छायावादी युग के एक महत्वपूर्ण अवदान से वंचित हो गई।' अपने गीतों में प्रेम और सौंदर्य की जैसी अनुभूति वे करते हैं उससे यह जाहिर होता है कि इनके भीतर का कवि निर्भीक भी है, पारदर्शी भी जिसमें छायावादी कविता जैसा किसी प्रकार का न संकोच है और न आदर्शवादिता। एक सहज बेचैनी दिखती है जो अपनी पीड़ा को समाज से जोड़ती हैं। इस लिहाज से देखा जाए तो आरसी बाबू छायावादी कम, प्रगतिवादी अधिक हैं, लेकिन इनकी सामाजिक चेतना मार्क्सवादी चिंतन के आलोक में प्रवहमान नहीं दिखती। आरसी प्रसाद सिंह जी का सामाजिक यथार्थ जब उभरता है तो वह सार्वजनीय जीवन को महत्वपूर्ण बनाने का प्रयास करता है। पलायन की जगह संघर्ष का पाठ पढ़ाता है। संघर्ष में ही जीवन की सार्थकता है। कवि को विश्वास है कि पलायनवादी आदमी संघर्ष से प्रेम नहीं करता– देखें इनकी पंक्तियों को–

'जिस मस्ती ने पौरुषनाशक विस्मृति संदेश दिया तुझकों
वह मस्ती मेरे जीवन में अद्‌भुत जागृति ले आई।(कलापी)
कलापी कवि की वह काव्यप्रिया है जो कर्म पथ पर चलती है,
राह में बादल निर रखती है, ऊपर व्योम में उमड़ते-घुमड़ते
बादल जिसका बरसना ही सत्य है, संवेदना से श्यामल

बादल की प्रेरणा से कवि की कविता भी काजल करती है-

'अलकों में मणि बंधन, आनन पर अवगुंठन,
कसुमों से भूषित तन, चरणों में बजता मृदु नूपुर,
कर मृणाल में कंकण।'- चिर शोभन पैदा कर रहे हैं।

कवि का जीवन दुख से भरा हुआ है और वह यह भी जानता है कि संसार में सुख कम और दुख ही ज्यादा है। यहाँ तक कि जहाँ आनंद है वहाँ भी गहरे में दुख छिपा हुआ है। देखें कवि की इन पंक्तियों को-

'आनंद अचानक रो उठता
लगते ही कोई शर निर्मम'

यह शर निर्मम कवि का वह यथार्थ है जिसके इर्द-गिर्द सारी दुनिया है जिसमें जड़ और चेतन दोनों समाहित है। आरसी बाबू इस मायने में रोमांच के प्रगतिशील कवि हैं। वे परंपरा में रहकर परंपरा से अलग सोचते हैं। इसीलिए आरसी बाबू को जीवन और यौवन का कवि कहा जाता है। उनके लिए मानव सर्वोपरि है। उसके बाद तब समाज का महत्त्व है। समाज तब सुखी होगा जब व्यक्ति सुखी होगा और इसके लिए जरूरी है कि हम 'अर्थ' का अर्थ जानें। पैसे का अत्यधिक मोह न प्रेम पहचानता है, न मनुष्यता। वह मनुष्य की जिंदगी को आकर्षण विहीन बना देता है। आरसी बाबू बिहार के एक साधारण गाँव में पैदा हुए, पले-बढ़े इंसान थे जिनके भीतर मिट्टी का सहज तप्त संस्कार समाया था। उनकी कविता की जमीन ऐसी थी जिस पर सौंदर्य, आनंद और प्रिय के प्रतीक फल खिलते रहे और वर्तमान की पीड़ा और अवसाद के काँटे भी चुभते रहे, लेकिन इनके भीतर कवि निरंतर आगे की यात्रा करता रहा।

लोक मंगल की कामना लिए और देश प्रेम, साहस, बलिदान और पौरुष के गीत लिखे हिंदी साहित्य के इस मूर्धन्य साहित्य सेवी आरसी प्रसाद सिंह का हृदय राष्ट्रप्रेम से लबालब था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आरसी बाबू की पद्य प्रशंसा में लिखा है- 'सचमुच ही यह कवि मस्त है। सौंदर्य को देख लेने पर यह बिना कहे रह नहीं सकता। भाषा पर यह सवारी

करता है। इस बात की उसे बिल्कुल परवाह नहीं कि उसके कहे हुए भावों को लोग अनुकरण कर सकते हैं, कल्पना प्रसूत समझ सकते हैं। उसे अपनी कहनी है। कहे बिना उसे चैन नहीं है। उपस्थापन में अबाध प्रवाह है। इसी प्रकार डॉ. नामवर सिंह ने 'नंददास' पर अपना अभिमत देते हुए लिखा है-'रोमांटिक कवियों में कुछ कवि आगे चलकर आध्यात्मकवाद की ओर मुड़ गए, आरसी भी उनमें से एक हैं। कवि आरसी ने नंददास़ के माध्यम से परंपरा का पुनरालेखन किया है।'

हिंदी जगत के इस अनमोल रतन ने कई एकांकी नाटक भी लिखे हैं। साहित्य-संसार में इनके एकांकियों की वाहवाही भी मिली है। इनके एकांकी नाटकों में भारतीय समाज का सामाजिक, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक स्वरूप झलकता है। एकांकी 'पुनर्मिलन' भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। इसी प्रकार 'वैतरणी के तीर पर' एकांकी का राजनीतिक संदर्भो से सरोकार है और 'टूटे हुए दिल', 'कलंक मोचन' तथा 'समझौता' एकांकियाँ सामाजिक संदर्भो से ताल्लुक रखती हैं। इस प्रकार खून-पसीना एक करके आरसी बाबू ने हिंदी साहित्य की प्राय: सभी महत्वपूर्ण विधाओं में मूल्यवान कृतियों दी। अरविंद दर्शन से प्रेरित और प्रभावित कवि आरसी प्रसाद सिंह ने भारतीय संस्कृति की नींव पर अपनी कविता को खड़ा करने की कोशिश की है और इतनी अधिक कविताएँ लिखी हैं कि इन्हें आधुनिक हिंदी कविता का 'डॉ. के. डी. सेठना' कहा जा सकता है। ज्ञातव्य है कि के.डी. सेठना ने अरविंद दर्शन के अधीती कवि के रूप में आध्यात्मिक जिज्ञासा, दिव्य दृष्टि और मायावरण की रहस्यात्मक अर्थवत्ता पर इतना समर्थ सर्जनात्मक लेखन किया कि उन्हें अरविंद द्वारा संकल्पित 'भविष्य की कविता' का पथिकृत कवि माना जाने लगा। इसी प्रकार भारत पर चीनी आक्रमण के वक्त और उसके बाद इस देश में राष्ट्रीयता की भावना की जो तुंग तरंगे उद्वेलित हुई, उन्हें अभिव्यक्त करने में दिनकर और नेपाली की तरह आरसी बाबूम ने भी अपना विशिष्ट योगदान दिया। उन्होंने बहुत ही रोचक ढंग से अपनी राष्ट्रीयता की भावना और आजादी की चेतना को अपने 'संजीवनी' नामक काव्य में अभिव्यक्त किया है उसीकी पंक्तियों से मैं आरसी बाबू की स्मृति को प्रणामांजलि अर्पित करता हूँ-

एक निमिष की पराधीनता से बढ़कर है मृत्यु भली
और दासता के हलवे से भली मुक्ति की मूंगफली।'

डॉ. वैद्यनाथ शर्मा :
जो निहायत सीधे-सादे और नेक इंसान थे

ऐसा क्यों होता है कि रचनाकार हों या साहित्यकार, राजनीतिक हों या समाजसेवी, पत्रकार हों या कलाकार उनको हम जीते जी ठीक से पहचान नहीं पाते हैं, उन्हें उनका देय नहीं दे पाते हैं और देहावसान के पश्चात् उन्हें सिर-माथे पर बिठा विलाप करते है। हिंदी साहित्य के अद्वितीय चिंतक और लेखक तथा लोकतांत्रिक चेतना के समकालीन प्रतिनिधि कथाकार डॉ. वैद्यनाथ शर्मा, जिन्हें लोग बच्चा बाबू के नाम से ज्यादा जानते और पुकारते थे, साहित्य में सपने देखने और उन्हें जमीन पर उतारने वाले एक ऐसे ही साहित्यकार थे जिन्हें जीते जी लोगों ने ठीक से पहचाना नहीं, पर महाप्रयाण के पश्चात् लोग विलाप करते दिखाई देते हैं। उनके साथ बिताए दिनों को आज मैं याद करता हूँ, तो आँखें आँसुओं से भर आती हैं और जब मैं इनकी रचनाओं से गुजरता हूँ, तो इनकी साहित्यिक आस्था, निष्ठा और अनुशासन का मैं कायल हो जाता हूँ। वक्त की आँधियाँ गुजरती हैं, तो हर शख्स के चेहरे पर धूल की परतें जमा देती हैं। यादों की गलियों में तड़पता मन, हर समय एक ही पुकार करता है कहाँ है उसका मीत? यादें सिर्फ बहाना नहीं, बल्कि चाहत की, परंपरा की पहरेदार भी है।

बच्चा बाबू की निधन विगत 27 दिसंबर 2009 को हो गया। वे पिछले कई माह से अस्वस्थ चल रहे थे। उनका निधन न केवल हिंदी साहित्य जगत के लिए एक अपूरणीय क्षति है, बल्कि इससे हमारे सामाजिक जीवन में भी एक बड़ा अंतराल उपस्थित हो गया। दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संवाहिका 'विचार दृष्टि' के सहयोगी रचनाकार और हमारे मार्गदर्शक डॉ. शर्मा जी के निधन से ऐसा लगता है जैसे हमारे परिवार का एक लोकप्रिय सदस्य हमसे दूर चला गया। सादगी, सहृदयता, सरलता और सदाचार को सर्वोपरि मूल्य मानने वाले बच्चा बाबू, जिन्हें बिहार के वर्तमान मुख्यमंत्री नीतीश कुमार सदैव अभिभावक मानते रहे, ईमानदारी और नैतिकता में अपार आस्था रखते थे। उनके निजी जीवन और लेखकीय व्यक्तित्व के बीच काफी सामंजस्य था। उनकी कथनी और करनी में कही कोई अंतर या विचलन कभी नजर आया। 'सादा जीवन, उच्च विचार' को अपना धर्म समझने वाले डॉ. शर्मा जी के शयन व अध्ययन कक्ष को भी मैंने 7 जनवरी 2010 को उस दिन देखा जब पटना जिला के मोकामा स्थित सकरवार टोले में आयोजित उनकी पावन स्मृति में श्रद्धांजलि सभा में मैं भाग

लेने गया था और उनके साधारण अध्ययन कक्ष में जाकर मैं दंग रह गया, उनकी सादगी और सरलता देखकर, भले ही व्यावसायिकता और चतुराई की नव संकृति में जकड़े आज के समाज में ये सब मूल्य उतने प्रासंगिक नहीं रह गए हैं। लोकतांत्रिक परंपराओं में विश्वास रखने वाले बच्चा बाबू, छोटे-बड़े में कोई भेद नहीं करते थे। उनका पूरा जीवन साहित्य और संस्कृति को समर्पित रहा। हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए वे आजीवन कार्य करते रहे। एक नेक और ईमानदार लेखक के नाते मेरे साथ ऐसे लोगों की संख्या काफी है जो उनकी बहुत इज्जत करते थे, आज के युग में डॉ. शर्मा सरीखा सीधा सरल, नेक इंसान मिलना कठिन है।

बच्चा बाबू अब हमारे बीच नही हैं, मगर वे हमारे बीच अपनी उन कृतियों में जरूर उपस्थित है, जो वाकई तारीफ के काबिल है।

डॉ. वैद्यनाथ शर्मा ने अपनी कृतियों में जिस तरह जीवन से जुड़े विविध रंगों को उकेरा है उनमें उनकी सोच और कल्पनाओं की झलक मिलती है और इनकी कृतियों को सार्थक बनाती है। डॉ. शर्मा की लिखी कहानियाँ समाजरूपी चांद की अज्ञानता और अविश्वास को उजागर करती हैं और निश्चित ही साहित्य की सीमा-रेखाओं का विस्तार करती है। इनकी कथाएँ और भी कुछ दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। सामान्य-सी दिखने वाल कहानियों की असामान्यता मुखरित प्रतीत होती है। उनकी अन्य कृतियों में भी अतीत और वर्तमान तो मौजूद है ही, साथ ही साथ भविष्य की राहें भी बनाती दिखाई पड़ती हैं। इनके सृजन सरोकारों के आलोक में उसे रेखांकित करते हुए बच्चा बाबू के व्यक्तित्व और कृतित्व को बड़ी बारीकी से समझा जा सकता है। इनके द्वारा अपनाई गई अन्यान्य विधाओं में इन्होंने भरपूर लिखा है और डूबकर लिखा है जिनकी परत पर पड़ी धूल झाड़कर उनकी वास्तविकता को उजागर किया जा सकता है। इनकी कविताएँ और आलेख भी अपने रंगो-खुशबू-आब से पाठकों को आकृष्ट करने में सफल है। इनके निबंध भी निस्संदेह उत्कृष्ट है। उन्होंने अपनी सधी हुई लेखनी से समाज का सहज, स्वाभाविक चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त इनकी रचनात्मक अनन्यता भी विशेष सराहना की हकदार है और कसी हुई तथा मनमोहक है। इन्होंने अपनी रचनाओं और कर्मो के माध्यम से समाज में अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है।

कहना नहीं होगा कि डॉ. वैद्यनाथ शर्मा जी अपनी विचारधारा के जरिए हम लोगों के आदर्श बन चुके थे। उनके जीवन से हम लोगों को प्रेरणा

लेनी होगी। डॉ. वैद्यनाथ शर्मा ने जिस प्रकार अपनी रचनाओं में निराकार को आकार में बाँधने का प्रयास करते हुए उसे मूर्तता प्रदान की है वह काम कठिन ही नहीं, चुनौती भरा कार्य है जो सबके लिए संभव नहीं। दशकों की समस्या का समाधान डॉ. बच्चा बाबू ने सहज ढंग से कर दिया है।

बच्चा बाबू के साथ जिए क्षणों को जब मैं याद करता हूँ, तो दिल भर आता है। बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड, पटना के अध्यक्ष पद का दायित्व जब बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार जी ने मेरे दुर्बल कंधों पर डाला, तो जितनी प्रसन्नता डॉ. वैद्यनाथ शर्मा जी को हुई, उतनी शायद ही और किसी साहित्यकार को हुई होगी। मुझे अच्छी तरह याद है संस्कृत बोर्ड कार्यालय से कुछ ही दूरी पर श्री कृष्णनगर स्थित अपने निवास से आए दिन जब हमारे पास वे आते थे, तो अपने अमृत-वचन से मुझे प्रोत्साहित कर जाते थे। जब कभी भी 'विचार-दृष्टि' के लिए किसी खास विषय पर हमने उनसे रचना माँगी उन्होंने अपनी धारदार कलम चलाकर अपनी रचना से पत्रिका को पठनीय बनाया। विगत 28 दिसंबर 2008 को बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड द्वारा संस्कृत शिक्षा की गुणवत्ता को केंद्र में रखकर पटना के तारामंडल में बारह घंटे की राष्ट्रीय संगोष्ठी जब आयोजित की गई थी, तो उसके एक सत्र में विशिष्ट वक्ता के रूप में न केवल उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किए थे, बल्कि पूरे आयोजन में उन्होंने एक अहम भूमिका निभाई थी। फिर 2009 में 28 एवं 29 दिसंबर को बोर्ड के तत्वाधान में संस्कृत से जुड़े विभिन्न संगठनों-संस्थानों की सहभागिता से पटना के श्रीकृष्ण स्मारक भवन में जब संस्कृत शिक्षण पर केंद्रित दो-दिवसीय राष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन का आयोजन किय गया, तो उसमें उनकी अनुपस्थिति काफी खली। मैंने ऐसा महसूस किया कि यदि वे स्वस्थ रहते, तो वे हमारे दाहिने हाथ होते। यह तो महज संयोग कहा जाए कि डॉ. वैद्यनाथ शर्मा जी की अनुपस्थिति में शिक्षा शास्त्री एवं संस्कृताचार्य तथा कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा के पूर्व कुलपति डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार का पूरे आयोजन के दौरान् अपेक्षित सहयोग मिला। विधि का विधान भी विचित्र है कि सम्मेलन प्रारंभ होने की पूर्व संध्या पर बच्चा बाबू का महाप्रयाण हो गया। आप समझ सकते है कि उनके असामयिक निधन का समाचार सुनकर मुझे कितनी पीड़ा हुई होगी और मैं कितने मानसिक तनाव से गुजरा होऊँगा। यह तो कहिए कि समय-समय पर बच्चा बाबू से जो मुझे प्रोत्साहन मिलता था और उनके विचारों से जो प्रेरणा मिलती थी, उससे मैं आगे बढ़ता गया और उनकी स्मृति

को संजोए अपने पथ से मैं विचलित न हुआ। सच मानिए, तो उक्त सम्मेलन को सफल बनाने में उनकी प्रेरणा ने बहुत हद तक मुझे बल प्रदान किया। मैं उनकी स्मृति को आज यह संस्मरण लिखते वक्त इसलिए नमन करता हूँ कि दूसरी दुनिया में रहकर भी वे मुझे इसी तरह रास्ता दिखलाते रहे और भारतीय साहित्य के उन्नयन के पथ पर मैं अग्रसर होता रहूँ। एक तरह से मेरी ताकत के वे स्रोत थे और वह स्रोत सूखने न पाए, जगन्नियंता से मैं यही प्रार्थना करता हूँ।

डॉ. वैद्यनाथ शर्मा का जीवन, समाज और साहित्य को गौरवान्वित करने के लिए सदैव समर्पित रहा। साहित्य के किसी भी क्षेत्र में शोहरत हासिल करने के लिए समर्पण, निष्ठा व लगन की जरूरत होती है और इन विशेषताओं से डॉ. शर्मा का व्यक्तित्व भरा था। प्रतिभा कभी तिरस्कृत नहीं हो सकती। आज जिस तेजी से युवा पीढ़ी के साहित्यकार अपने कर्तव्य और साहित्य से भटक रहे हैं और बहुत जल्द पैसा एवं शोहरत हासिल करने के लिए साहित्य के प्रति अपनी जिम्मेवारी को भूलते जा रहे है उन्हें बच्चा बाबू के व्यक्तित्व से सीख लेने की आवश्यकता है, जिनका कहना था कि किसी भी साहित्यकार को सम्मान, सराहनीय काम के लिए मिलता है, मगर आज की नई पीढ़ी जल्दबाजी में पैसा और सम्मान दोनों पा लेना चाहती है। डॉ. वैद्यनाथ शर्मा ने अपने जीवन में जो कुछ पाया, चाहे वह शोहरत हो या पैसा, अपनी मेहनत और लगन से ही पाया था। दरअसल, जो असल चीज होती है, उसे संरक्षण से बहुत फर्क नहीं पड़ता, लेकिन यह समझना होगा कि जब साहित्यकारों की हालत इतनी खास्ता होगी कि वह सामान्य जरूरतें भी पूरी न कर पाएँ, तो वे साहित्य की सेवा ठीक से कैसे कर पाएँगे। मुझे खुशी इस बात की है कि बच्चा बाबू को इन हालातों से गुजरने की नौबत नहीं आई। आखिर तभी तो वे लगातार अपनी लेखनी से हिंदी साहित्य को समृद्ध करते रहे और अपनी मेहनत के बल पर मगध विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष के पद को भी उन्होंने सुशोभित किया। जीवन के अंतिम क्षण में वे जिन हालातों से गुजरे वह इसलिए अच्छा नहीं रहा कि इधर लगभग एक साल से वे काफी अस्वस्थ चल रहे थे और दिल्ली जाने के बाद उनका स्वास्थ्य कुछ सुधरा, मगर पटना वापस आने के बाद एक समय ऐसा आया कि वे काल के गाल में जाने से नहीं बच सके और बचते भी तो कैसे, क्योंकि काल-कवलित होने से आज तक कोई बचा है क्या? बच्चा बाबू ने अपने जीवन में जो भी किया, दूसरों के लिए किया, यही महत्वपूर्ण है। मौजूदा दौर

में जब सबके सब एक ही ओर चलते जा रहे हैं, केवल अपने लिए दौड़ रहे हैं और दूसरों का जीवन दूभर कर रहे हैं तो ऐसे में बच्चा बाबू के कर्म से पाठ लेकर लोग सभ्य व सुसंस्कृत बन सकते हैं, लोगों में मानवता की भावना जागृत हो सकती है। एक-दूसरे को तभी सिखाया जा सकता है, जब एक-दूसरे के लिए जिया जाए, दूसरे के लिए त्याग करना सीखा जाए। जीवन जीने का असली मूल्य यही है जिसे बच्चा बाबू ने सिखाया, दूसरों के लिए जीने का मर्म समझाया।

सादा जीवन और उच्च विचार के प्रतीक डॉ. वैद्यनाथ शर्मा जी से मेरी जान-पहचान लगभग दो दशक से ऊपर की रही है। जब भी मैं उनसे मिला, उनका मृदुल स्वभाव और उनकी प्रतिभा मुझे प्रभावित करती रही। साहित्य और सामाजिक कार्यक्रमों के अलावा राजनीतिक कार्यकलापों में भी वे खुलकर भाग लेते थे। साथ ही साहित्यिक-गोष्ठियों, कवि-सम्मेलनों तथा विद्वज्जनों के संभाषणों में शरीक होकर वे अपनी विद्वता एवं प्रतिभा का परिचय देते थे। सौम्य, साँवले, आँखों पर चश्मा और धोती-कुरता धारण किए डॉ. शर्मा जी के भीतर गंभीर चिंतन का प्रतिबिंब उनके चेहरे से स्पष्ट झलकता था। इनकी साधना और चिंतन की धारा की रोशनी सदा और सर्वदा लोगों को आलोकमय करती रहेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। भौतिक रूप से आज वे हमारे बीच नहीं रहे, पर वे अपनी कृतियों और यश-काया में सदैव अमर रहेंगे। निम्न शाश्वत पंक्तियों से मैं उन्हें अपनी श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए उनकी स्मृति को नमन करता हूँ-

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्ध कविश्वराः
नास्ति येषां यशः काय जरामरणजं भयः।

खंड-दो

पत्रकार

जयप्रकाश भारती : जिन्होंने बाल पत्रकारिता को नए-नए आयाम दिए

बाल लेखन और बाल पत्रकारिता दोनों में जयप्रकाश भारती एक ऐसा नाम हुआ जिनके कार्यों और उपलब्धियों पर उन्हें देश-विदेश के अनेक पुरस्कार व सम्मान मिले। बच्चों और प्रौढ़ों के लिए दो दर्जन से भी अधिक पुस्तकों सहित जयप्रकाश भारती ने हिंदी की लगभग एक सौ से अधिक श्रेष्ठ पुस्तकों की रचना कर बाल लेखन और बाल पत्रकारिता को नया आयाम देने का प्रयास किया। वर्षों साप्ताहिक हिंदुस्तान में रहकर उन्होंने बच्चों की मासिक पत्रिका 'नंदन' का सफल संपादन किया। विज्ञान लेखन में उनकी विशेष रुचि रही है। जयप्रकाश भारती जब लिखने बैठते थे, तो उनकी क़लम रूकती नहीं थी। वह गुस्से में बौखलाए आदमी को ज़रा-सा भी अहमियत नहीं देते थे। जयप्रकाश भारती को स्वादिष्ट व्यंजन से बहुत शौक़ था। रसगुल्ले, रबड़ी, गज़क और न जाने क्या-क्या। तीन वर्षों से अधिक तक बाल पत्रिका 'नंदन' का संपादन करते हुए जयप्रकाश भारती ने कभी भी ऐसी कहानियाँ नहीं छापी जिनके अंत में उपदेशों की घुट्टी पिलाई जाती है, क्योंकि उनका मानना था कि कोई बच्चा उपदेश से कुछ नहीं सीखता।

पद्मश्री डॉ० श्याम सिंह शशि से जयप्रकाश भारती की गाढ़ी मित्रता थी। डॉ० शशि जी के आमंत्रण पर नई दिल्ली के कई कार्यक्रम में मुझे जयप्रकाश भारती से मिलने का मौक़ा मिला था और उन्हें सभा-सगोष्ठियों में सुनने का भी। लंबे समय से बाल पत्रकारिता से जुड़े रहने के कारणों का उत्तर देते हुए उनका कहना था कि, "बालक में भगवान बसता है, इस नाते मैं बालक का काम भगवान का काम मानकर करता हूँ, मंदिर में एक पुजारी की तरह।" उनके पिता एक अधिवक्ता थे इसलिए उनके कक्ष में सैकड़ों किताबें मौजूद थीं। बढ़िया काग़ज पर छपी हुई और जिल्दबंदी एवं सुनहरे अक्षरों में छपे देखकर जयप्रकाश भारती के मन में संकल्प जागा कि बालकों की किताबें भी आकर्षक और सुंदर छपें। इस ख़्याल से 'नंदन' पत्रिका में उन्होंने निरंतर नए प्रयोग किए जिसके परिमाणस्वरूप भारत के बाहर भी

'नंदन' की सफलता पर कई लेख विदेशी पत्रिकाओं में छपे। 'नंदन' में तरह-तरह की रोचक कथाएँ छापते थे, ताकि जिस वातावरण में बालक जीता है उससे हटकर कुछ हल्का-फुल्का मनोरंजन मिले। जयप्रकाश भारती ने अपने कार्यकाल में भारतीय बाल-शिक्षा परिषद् के अंतर्गत कई बड़े-बड़े सम्मेलन आयोजित किए।

जयप्रकाश भारती कहते थे कि "बाल साहित्य के क्षेत्र में भारती मेधा का योगदान असाधारण है। आज का विश्व बाल साहित्य, ख़ास तौर से बच्चों का कथा साहित्य 'पंचतंत्र' की नीव पर खड़ा है। 'पंचतंत्र के 150 से अधिक अनुवाद विश्व की विभिन्न भाषाओं में हो चुके हैं।" जयप्रकाश भारती के संपादकत्व में छपी 'नंदन' पत्रिका के पाठक भारत के बाहर भी अच्छी संख्या में हैं। आज हमारा बाल साहित्य विश्व स्तर का हो गया है। जापान और जर्मनी के पुस्तक मेलों में हिंदी का बाल साहित्य भी रखा जाता रहा है और उसे दर्शकों ने पसंद किया है।

जयप्रकाश भारती की प्रमुख बाल पुस्तकों में 'बाल साहित्य इक्कीस्वीं सदी में', मेरी प्रिय बाल कहानियाँ', हमारे गौरव के प्रतीक', 'अपने-अपने आइने', 'विश्व की महान माताएँ', 'एक थैला मोतियों भरा', 'बर्फ़ की गुड़िया' आदि काफ़ी चर्चित हो चुकी हैं। इन्होंने अपनी पुस्तक 'बाल साहित्य इक्कीसवीं सदी में' हिंदी बाल साहित्य के सप्तर्षि-रामनरेश त्रिपाठी, रामवृक्ष बेनीपुरी, स्वर्ण सहोदर, सभुद्रा कुमारी चौहान, सोहन लाल द्विवेदी, व्यथित हृदय और अक्षय कुमार जैन के नाम गिनवाए हैं। इनके अतिरिक्त द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी, निरंकार देव सेवक, डॉ० राष्ट्रबंधु, ठाकुर श्रीनाथ सिंह तथा जहूर बख़्श आदि का बाल साहित्य में योगदान असाधारण है। जयप्रकाश भारती बराबर कहते रहे कि इक्कीसवीं सदी बालक की सदी होगी। अब तो यूनिसेफ़ ने भी इस कथन की पुष्टि कर दी है। बालक को मिनी ब्रह्मांड मानते हुए उन्हें ठीक-ठीक जानने-समझने के लिए बहुमुखी प्रयास किए जाने की आवश्यकता पर उन्होंने बल प्रदान करने की बात कही।

जयप्रकाश भारती का निधन 5 फ़रवरी, 2005 ई० को हो गया। उनकी इच्छा का सम्मान किया गया और मेरठ में ही उन्होंने अंतिम साँस ली। वे अब हमारे बीच नहीं हैं लेकिन उनका यह कथन कि भविष्य में बालक केंद्र में होगा, एक दिन सत्य साबित होगा।

❖❖❖

नरेन्द्र मोहन :

जो हिंदी पत्रकारिता के प्रकाश पुँज थे

यदृच्छा लाभ संतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।

गीता के इस श्लोक के अनुसार जो व्यक्ति बिना इच्छा के अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदैव संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष, शोक आदि द्वंद्वों से अलग हो गया है, ऐसा व्यक्ति सफलता और असफलता में सदैव बराबर रहते हुए कर्म बँधन से नहीं बँधता।

नरेन्द्र मोहन दैनिक जागरण समूह के प्रधान संपादक हिंदी पत्रकारिता के एक ऐसे ही प्रकाश पुँज थे जिनकी रोशनी से न केवल हिंदी पत्रकारिता को एक नई रोशनी मिली, बल्कि वे सफलता और असफलता में सदैव बराबर रहते हुए भी कर्मबंधन से नहीं बँधे। नरेन्द्र मोहन देश की पत्रकारिता के क्षेत्र में तो अग्रणी थे ही, उच्च कोटि के साहित्यकारों में भी उनका प्रमुख स्थान रहा है। साहित्यकार के रूप में उनकी गद्य की पुस्तकों का प्रकाशन भी हुआ जो आज भी देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति समाज का मार्गदर्शन कर रही हैं।

भारतीय पत्रकारिता के गौरवशाली इतिहास में हिंदी पत्रकारिता का इतिहास भी पुराना है जिसकी शौर्यगाथा की मिसाल पूरी दुनिया में नहीं है। 1857 की जंगे आजादी के वक्त संपादक, प्रकाशक सहित पत्रकारों ने गोली-बंदूक तथा तोप-तलवार से लड़ने की बजाय कलम से क्रांति की चिंगारी को ज्वाला में बदल दिया। पत्र-पत्रिकाओं के जरिए जनमानस को आंदोलित कर फिरंगियों के विरूद्ध चिंगारी सुलगाने में पत्रकारों ने अहम भूमिका निभाई जिसके परिणामस्वरूप आजादी की पीठिका तैयार हुई। यानी आजादी की पहली क्रांति कलम से ही आई जिसका सच आज भी पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में दर्ज है। आजादी के बाद इस देश में पनपीं विभिन्न समस्याओं का निदान भी वैचारिक क्रांति द्वारा निकाला जा सकता है जिसकी भूमिका पत्र-पत्रिकाएँ बखूबी निभा सकती हैं। हिंदी 'दैनिक जागरण' समूह के प्रधान संपादक नरेन्द्र मोहन जी ने अपनी इसी भूमिका का निर्वहण अपने विभिन्न स्तंभों अग्रलेखों के जरिए राष्ट्रमानस में नई स्फूर्ति व प्रेरणा संचारित कर दिया। वे भारतीय हिंदी पत्रकारिता के न केवल स्तंभ थे, बल्कि प्रकाश पुँज भी। राष्ट्रभाषा हिंदी के निष्ठावान सेवक और समर्थ हस्ताक्षर तथा

जुझारू पत्रकार नरेन्द्र मोहन जी का हमारे बीच से चले जाने से संपूर्ण हिंदी व भाषाई पत्रकारिता को अपूरणीय क्षति हुई है।

नरेन्द्र मोहन जी हिंदी भाषा के हिमायती थे। हिंदी भाषा में पत्र-पत्रिकाओं को प्रकाशित करने के पीछे कारण बताने के क्रम में वे कहा करते थे कि हिंदी भाषा में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से समसामयिक गतिविधियों से जनता को अवगत कराने में सुविधा होती है, क्योंकि मनुष्य ज्ञान-विज्ञान की नवीन उपलब्धियों के प्रति भी विशेष जिज्ञासु हो उठता है। नरेन्द्र मोहन जी की स्पष्ट धारणा थी कि हिंदी पत्र-पत्रिकाओं का वर्तमान स्वरूप व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताओं, व्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यावसायिक मानदंडों के विकास का प्रतिफल है। वैसे भी सामाजिक प्राणी बनने के साथ ही व्यक्ति के लिए संचार ने एक आवश्यकता का रूप ले लिया है। संचार सृजन के माध्यम से समाज को नई चीज व नए विचार तो मिलते ही हैं, नई दिशा भी मिलती है, क्योंकि उनमें न केवल इतिहास बोध अच्छा है, बल्कि उत्कृष्ट स्तर की युग चेतना भी है। आखिर तभी तो नरेन्द्र जी की पत्रकारिता के खोजी रूप ने कई मसलों की पोल खोलकर जनता के निरीह और सच्चे लोगों को न्याय दिलवाया है। जो बात देश के हित में है उसे नरेन्द्र जी ने देश और विश्व के सामने यह तो सिद्ध कर ही दिया कि उन्हें हिंदी से प्रेम है। उन्होंने हिंदी पत्रकारिता के माध्यम से देश को नई सोच दी और देश की जनता के बीच सीधा तालमेल बिठाते हुए उन्हें साधारण नागरिक से विशेष नागरिक बनाने में सहयोग दिया।

दरअसल, नरेन्द्र मोहन जी का मानना था कि एक अच्छा, श्रेष्ठ और सदाचारयुक्त जीवन जीने वाला व्यक्ति ही अच्छा लेखक अथवा पत्रकार बन सकता है। वे यह भी मानते थे कि जिस व्यक्ति का अपना कोई सिद्धांत नहीं, जीवन अनुशासित नहीं, जिसका अपना जीवन नियमों से परे है, वह अपने पत्रों से कैसे अच्छा संवाद कर सकता है। वे सदैव इस बात के कायल रहे कि किसी भी मनुष्य का नजरिया उसके भीतरी विचारों और सकारात्मक सोच पर निर्भर करता है। इस दृष्टिकोण से किसी भी पत्रकार या संपादक को समाज के प्रति सकारात्मक रूख रखना चाहिए। किसी भी सफल और श्रेष्ठ संपादक का मिशन कलम की नोक से समाज में व्याप्त सभी बुराइयों का समाधान करना और समाज की सभी अच्छाइयों को उजागर करना होना चाहिए।

दिल्ली में रहने की वजह से मुझे नरेन्द्र मोहन जी का जितना भी सान्निध्य मिला, उससे प्राप्त अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि वे भारतीय संस्कृति और संस्कृत के संरक्षक आध्यात्मिक प्रतिभा से संपन्न, राष्ट्रीय चेतना से युक्त मानवीय मूल्यों के प्रखर प्रचारक और गाँधीवादी दृष्टिकोणवाले विराट व्यक्तित्व के धनी थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने अपनी समर्थ लेखनी से न सिर्फ 'दैनिक जागरण' के माध्यम से हिंदी पत्रकारिता को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया और पत्रकारिता का एक मानदण्ड स्थापित किया, बल्कि अँग्रेजी पत्रकारिता के खोखलेपन को भी उजागर किया। 'कलम के मजदूर'- मुंशी प्रेमचंद की तरह नरेन्द्र मोहन जी 'कलम के योद्धा' थे। वे हमेशा कहा करते थे कि आज के छपे हुए शब्द कल का इतिहास है। आज के संपादक तो जीवन भोग कर चले जाएँगे और पीछे रह जाएगा उसका काम। अगर उन्हें केवल आज की सुख-सुविधाओं और मनोरंजनवाली पत्रकारिता का पल्लू थामना है, तो उन्हें कोई ऐसा स्थान चुन लेना चाहिए जहाँ उन्हें इससे बेहतर सुख-सुविधाएँ उपलब्ध होंगी। संपादक की 'हॉटसीट' पर बैठकर अपना नहीं, समाज का उद्धार करना श्रेष्ठ पत्रकारिता का लक्ष्य होना चाहिए। नरेन्द्र जी के संपादकीय टिप्पणियों पर जब हम एक नजर डालते हैं, तो पाते हैं कि इस श्रेष्ठ पत्रकार की कलम बेसहारा, कमजोर और देश के असंख्य लोगों को जहाँ रोशनी देती हैं, वहीं सत्ता की लोलुपता, स्वार्थी, लोभी और प्रपंची व्यक्तियों पर रोक लगाने के लिए यह विध्वंस का कार्य भी करती है।

आज के जन संचार माध्यम जिस प्रकार उपभोक्तावाद बाजार के दबाव में एक ऐसी तथाकथित लोकप्रिय संस्कृति को जन्म दे रहे हैं, उससे नरेन्द्र मोहन जी आहत महसूस करते थे, क्योंकि इस तथाकथित लोकप्रिय संस्कृति का उद्येश्य समाज को मूल्यवान विचारों से अलग कर, कोरी भावुकता की ओर प्रेरित करना है। बाजार के दबाव के कारण कोरी भावुकता के ये कार्यक्रम और पत्र-पत्रिकाओं में छपे समाचार व्यक्ति को आत्मकेंद्रीत मनोविनोद की ओर सीमित करते हैं। पाश्चात्य संस्कृति से आया यह प्रभाव भारतीय परिवारों को टूटने की स्थिति में ले आया है। अश्लीलता, अपराध, हिंसा विशेष कर बच्चों व स्त्रियों के विरूद्ध हिंसा ही नहीं फूहड़ हास्य भी उपभोक्तावादी जनसंचार माध्यमों के सामाजिक विचलन की ही देन है जिसे नरेन्द्र मोहन जी ने सदैव नकारा और विरोध किया।

एक संस्थान के रूप में हिंदी पत्रकारिता सहित समस्त भारतीय

पत्रकारिता को जनतंत्र का चौथा प्रहरी कहा जाता है। मौजूदा दौर की पत्रकारिता में नैतिकता के प्रति जिम्मेदारी की भावना तथा उनमें समाज व देश के मुद्दों के प्रति चिंतन आदि के गौण होने से नरेन्द्र मोहन जी कहा करते थे कि अब तो प्रेस क्लब में भी सामाजिक चिंतन की जगह स्वहित चिंतन की बात होती है जिसके दुष्परिणामस्वरूप संस्थान के रूप में पत्रकारिता का स्वरूप धुमिल होता दिखाई दे रहा है और विचार का अकाल होता जा रहा है।

जहाँ तक पत्रकारिता का प्रश्न है नरेन्द्र मोहन ने 'दैनिक जागरण' नामक अख़बार की स्थापना कर उसके समाचारों की गुणवत्ता, और हमेशा दूसरों के हितों का ख़्याल रखा। अत्मविश्वास, पाठकों के स्नेह और निर्भीक लेखन के परिणामस्वरूप नरेन्द्र मोहन का वह 'दैनिक जागरण' हिंदी समाचार पत्रों में मूर्धन्य श्रेणी में आकर खड़ा है।

नरेन्द्र मोहन राज्य सभा के भी सदस्य रहे। संपादक के रूप में उन्होंने राष्ट्रहित के विषयों का अपनी तर्कपूर्ण शैली से निरूपित किया। उच्च कोटि के कवि, साहित्यकार, पत्रकार और बहुआयामी व्यक्तितव के धनी नरेन्द्र मोहन ने कई हज़ार लेख एवं तक़रीबन 500 कविताएँ लिखीं। उनके तीन काव्य-संग्रह और एक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित नरेन्द्र मोहन ने दक्षिण कोरिया, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, श्रीलंका, जापान, स्वीटज़्रलैंड तथा चीन आदि देशों का भ्रमण किया था।

नरेन्द्र मोहन ने आपात स्थिति की घोषणा के बाद 27 जून, 1975 ई० के संपादकीय कॉलम में 'नया लोकतंत्र सेंसर लागू' लिखकर भारतीय पत्रकारिता जगत में एक इतिहास बनाया। हिंदी भाषी जनता में न पढ़ने की आदत का दर्द उन्हें अंतिम समय में काफ़ी हद तक था। हिंदी के भविष्य को लेकर हमेशा चिंतित रहते थे।

विगत 20 सितंबर, 2002 ई० को चिकित्सकीय चूक के चलते सांसद नरेन्द्र मोहन का असामयिक निधन हो गया। इस प्रकार 68 वर्षीय नरेन्द्र मोहन के देहावसान से पत्रकारिता का एक मज़बूत स्तंभ ढह गया। उच्च कोटि के मानव, गरीबों के प्रति अपार स्नेह रखने वाले नरेन्द्र मोहन को 6 जुलाई, 2002 ई० को पेट में दर्द होने के कारण अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली में भर्ती कराया गया था। 25 जुलाई, 2002 को उनके पेट के अल्सर का ऑपरेशन होने के बाद भी जब दर्द नहीं रुका,

तो दुबारा ऑपरेशन करना पड़ा, किंतु संक्रमण के कारण उन्हें सेप्टिसीमिया हो गया जिसके कारण उनके हृदय, गुर्दा, लीवर, ब्रेन व फेफड़े के रक्त में संक्रमण घुल गया और वे सबके सब फेल हो गए। अंततः 20 सितंबर, 2002 ई० को वे हम सब के बीच से सदा के लिए विदा हो गए और छोड़ गए जीवन-पर्यंत की अपनी लेखनी की सच्चाई। लेखनी की सच्चाई पर सदैव अटल रहने वाले कलम के पुरोधा नरेन्द्र मोहन के योगदान का साहित्य एवं पत्रकारिता जगत में हमेशा याद किया जाएगा। प्रेरणास्त्रोत नरेन्द्र मोहन के 'विचार दृष्टि' परिवार के सभी सदस्य भी सामाजिक बुराई एवं राष्ट्रहित से जुड़े मुद्दों को जीवन-पर्यंत ज़ोर-शोर से उठाने के लिए याद करते हैं। वर्तमान के सच को प्रस्तुत करने और अपनी कलम के माध्यम से समाज में विद्यमान विभिन्न समस्याओं को दूर करने को ही श्रेष्ठ पत्रकारिता का लक्ष्य मानने वाले नरेन्द्र मोहन जी की स्मृति को नमन करते हुए कवि अरुण शीतांश की निम्न चार पंक्तियों से मैं उन्हें अपनी श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ-

'जब अस्पताल की हालत माँओं की संवेदनाओं से कराह रही है हर पल
वहाँ एक संवाददाता अपने होने की याद ताजा कर रहा है।'

❖❖❖

भानुप्रताप शुक्ल :
जो संघ और राजनीति में चकाचौंध के विरोधी थे

वरिष्ठ पत्रकार और 'पाँचजन्य' के संपादक रहे भानुप्रताप शुक्ल के पिछले 17 अगस्त, 2006 को देहावसान से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की उस धारा का एक और हिमायती खो गया, जो संघ और राजनीति में चकाचौंध का विरोधी था। अगस्त, 1935 ई० में जन्मे भानुप्रताप शुक्ल सन् 1955 ई० में संघ प्रचारक बन गए और जीवन पर्यंत कुँवारे रहे। इनका जुड़ाव लखनऊ से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं–'राष्ट्रधर्म' और 'तरुण भारती' के संपादक से भी रहा। इस दौरान उन्होंने पूर्व प्रधान मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी के साथ भी काम किया। उल्लेखनीय है कि सक्रिय राजनीति में आने से पहले वाजपेयी जी 'राष्ट्रधर्म' से जुड़े थे। वे मंत्रालय के पूर्व मानव संसाधन विकास मंत्री मुरली मनोहर जोशी के भी निकट थे।

सन् 1974 ई० में जे०पी० आंदोलन की अवधि में भानुप्रताप शुक्ल ने काफ़ी सक्रिय भूमिका अदा की और इसी वजह से उन्हें आपातकाल की पूरी अवधि जेल में गुज़ारना पड़ा। हाल के वर्षों में वह दो प्रमुख हिंदी दैनिक समाचार पत्रों में नियमित रूप से साप्ताहिक स्तंभ लिख रहे थे। तक़रीबन तीन साल से कैंसर से पीड़ित होने के कारण उनकी सक्रियता धीरे-धीरे कम हो गई। फ़रवरी, 2004 ई० में उनका ऑपरेशन भी हुआ। आख़िरकार अगस्त, 2006 ई० में उन्हें मौत ने गले लगा लिया।

भानुप्रताप शुक्ल ने अपनी मृत्यु से पूर्व अंतिम लेख में भारत के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए ऐनीबेसेंट के कथन को उद्धृत किया और कहा कि एक बार किसी ने ऐनीबेसेंट से पूछा, "क्या आप बताएँगी कि विश्व के पुराने और नए देशों में भारत का वैशिष्ट्य क्या है?" वह बोलीं, "भगवान ने भारत को जो दिया वह किसी भी देश को नहीं दिया है। परमेश्वर ने युनान को सौंदर्य, रोम को विधि, इस्रायल को मज़हब और भारत को ऐसा धर्म प्रदान किया है कि जिसमें समस्त सृष्टि का योगक्षोम और प्राणी मात्र को धारण करने की शक्ति है। सौंदर्य, विधि, न्याय, पंथ-संप्रदाय, कर्मकांड, वांग्मय, आदर्श, मर्यादा सब कुछ उस धर्म में समहित है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति समस्त संसार में ईश्वरीय देन को किसी एक भूमि पर पूँजीभूत देखना चाहता है, तो उसे भारत की धरती पर जाना होगा।"

ऐनीबेसेंट की इस अनुभूति को और अर्थवान बनाया जर्मनी के विद्वान विचारक मैक्समूलर ने। अनेक वर्ष भारत में रहकर वेदों, उपनिषदों को अध्ययन और यहाँ के हिंदू जीवन की सहजता का साक्षात्कार करने के बाद उन्होंने लिखा, "यदि कोई मुझसे पूछे कि इस आकाश में नीचे वह स्थान कौन-सा है जहाँ मानव विकास का अपूर्व, अलौकिक और पूर्ण विकास हुआ है, जहाँ भगवान की गहनत्तम गुत्थियों को सुलझाया और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है, प्लेटो और कांट का भक्त भी जिसकी सराहना किए बिना नहीं रहेंगे, तो मैं असंदिग्ध रूप से कहूँगा कि वह स्थान भारत है। भारत जगद्गुरु है। विश्व इसका शिष्य है। भारत भूमि पर जन्मा हिंदू जीवन-दर्शन।"

परमहंस रामकृष्ण देव ने भारत पर दया करने वाले मनुष्यों को फटकारा और कहा कि जो स्वयं विश्व है उसे अकिंचन जीव मानकर उस पर दया दिखाने को पापकर्म नहीं किया जाना चाहिए। किंतु आज भारत की दुर्दशा देखकर पत्रकार भानुप्रताप शुक्ल ने चिंता व्यक्त की। वह कहते हैं कि आख़िर क्या हुआ उन आदर्शों का। जितना ऊँचा आदर्श उतना ही नीचा आचरण। जितनी एकात्म भरी अनुभूति उतनी ही भेद भरी दृष्टि। जितने महान पूर्वजों के वारिस उतना ही तुच्छ चरित्र। दुनिया में सर्वश्रेष्ठ भारत की यह बेमेल गति क्यों? वह अपने आभामय अतीत से घबड़ाता क्यों है? अपने यथार्थ को स्वीकार क्यों नहीं करता? भानुप्रताप शुक्ल भारत के पूर्व केंद्रीय मंत्री और सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता एम०सी० छागला के बारे में कहते हैं कि जब एक बार अपनी रूस यात्रा से वापस आए तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सर संघचालक श्री गुरुजी उनसे मिलने गए और उन्हें छागला ने रूसवासियों के बारे में संस्मरण सुनाते हुए कहा कि वहाँ का हर व्यक्ति खेल के मैदान से लेकर विज्ञान की प्रयोगशाला तक में अपने देश के लिए खेलता और शोध करता हुआ मिला। यही हाल अमेरिका, जापान, जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड आदि का भी है।... और हमारे यहाँ? हमारे यहाँ अभी भी यह बताना पड़ता है कि हमारा देश कौन-सा है? उसका राष्ट्रीय इतिहास क्या है? उसके राष्ट्रीय महापुरुष कौन हैं? हमारे यहाँ देशभक्ति सहज नहीं, असामान्य बात है। जिस देश के निवासियों को देशभक्ति की प्राथमिक शिक्षा देनी पड़े, जहाँ देशभक्ति सामान्य नहीं, विशिष्ट बात हो, जहाँ एकता और अखंडता का अनुष्ठान उद्दिप्ति होने का नाम नहीं लेता, वहाँ के निवासी उदात्त आदर्श और देश के लिए जिएँ, मरें, क्या सहज संभव है? भानुप्रताप शुक्ल का मानना था कि विज्ञान और तकनीकी ज्ञान रेल

गाड़ी एवं विमान की गति बढ़ा सकते हैं, सर्जक तथा मारक यंत्र बना सकते हैं, लेकिन किसी समाज एवं राष्ट्र की चेतना को जागृत करके आदर्श के बीज नहीं बो सकते। व्यक्ति ऊँचे आदर्श से जुड़ता है तब ही उसका जीवन उदात्त बनता है। मानवीय दोषों और गुणों की स्थापना और संस्कारों को ग्रहण तो करना ही चाहिए भानुप्रताप शुक्ल की समझ थी कि अपने आस-पास के लोगों को सुख-दुःख में समान बँटवारा होने लगता है, तो सामूहिक तथा सामाजिक भाव का उदय होता है। उनके इस समझ की दाद देनी होगी। ऐसी सुस्पष्ट सोच और सद्वृत्तियोंवाले आज कितने हैं हमारे बीच? भानुप्रताप शुक्ल हमारे बीच से चले गए पर छोड़ गए वे अपने उन उच्च्च विचारों व आदर्शों को जो हमें सबल और समृद्ध बना सकते हैं। इस दृष्टि से शुक्ल जी नमनीय हैं और उनकी स्मृति से प्रेरणा ग्रहण की जा सकती है।

हिंदी पत्रकारिता के दृढ़ स्तंभ भानुप्रताप शुक्ल राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत तो थे ही, सजग लेखनी के धनी भी थे। उन्होंने जीवन भर हिंदी पत्रकारिता को निर्भीकता का बीज-मंत्र दिया। भानुप्रताप शुक्ल ने दैनिक 'तरुण भारत', राष्ट्र धर्म' और विशेष रूप से 'पांचजन्य' का दीर्घ काल तक संपादन किया। इस महातेजस्वी विचारक, साहित्यकार तथा पत्रकार का अवसान पिछले 17 अगस्त, 2006 ई० को रात 11 बजे दिल्ली में हो गया। विगत तीन वर्षों से वे कैंसर से पीड़ित थे बहुआयामी व्यक्तित्व के इस तपोनिष्ठ चिंतक, संगठक और राष्ट्रसेवी के निधन से पत्रकारिता जगत के साथ-साथ संपूर्ण हिंदी-जगत को भारी क्षति हुई। वे अपने सहकर्मियों के बीच हमेशा ही प्रेरणा-दीप बने रहे। उनके विचार स्पष्ट थे और साथ ही सच्चाई एवं राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य की कामना उनके संघर्षशील व्यक्तित्व में रची-बसी थी। वे एक आदर्शवादी हिंदुत्त्वनिष्ठ व्यक्ति थे, जिन्होंने व्यक्तिगत प्रशस्ति की चिंता कभी नहीं की।

भानुप्रताप शुक्ल 1941 ई० में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संपर्क में आए। सन् 1955 ई० में 12वीं कक्षा उत्तीर्ण कर वे संघ के प्रचारक जीवन को स्वीकार कर अपने विचारों तथा लेखनी से राष्ट्र-सेवा में संलग्न रहे। ऐसे प्रेरणा-पुँज पत्रकार की स्मृति को मैं नमन करता हूँ।

रघुवीर सहाय :
पत्रकारिता के माध्यम से वैकल्पिक समाज का निर्माण ही जिनका उद्देश्य था

रघुवीर सहाय बेहद सतर्क, चौकस और दृष्टिसंपन्न राजनीतिक पत्रकार थे। यही कारण था कि वे बेसबब तटस्थता को स्वीकार नहीं करते थे, बल्कि कविता लिखने की तरह ख़बर लिखने को भी कल्पनात्मक घटना व कोरी गप्प भर न मानकर इसके तथ्यगत आधार तक पहुँचना पसंद करते थे। इसी वजह से इस तरह के संदर्भ उनके पत्रकारीय लेखन या कविताओं में हर जगह मिल जाते हैं। उनकी 'खोज ख़बर' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों को आप देखें–

मझसे कहा कि मृत्यु की ख़बर लिखो,
मुर्दे के घर नहीं जाओ, मरघट जाओ,
लाभ के भुक्ताने के नियम, ख़र्च और कुप्रबंध,
खोज-ख़बर लिख लाओ,
यह तुमने क्या लिख–झुरियाँ,
उनके भीतर छिपे उनके प्रकट होने के आसार
आँखों में उदासी-सी एक चीज़ दिखती है
यह तुमने मरने से पहले का वृत्तांत क्यों लिखा?

दरअसल किसी भी घटना का वस्तुनिष्ठ तरीक़े से ज़िक्र करना, तटस्थ होकर लिखना, मृतकों के आँकड़े देना, विचारहीन, असंवेदनशील तरीक़े से बयान करने को वे ख़बर नहीं मानते थे। उनका तो यहाँ तक मानना था कि जो मर गया है वह तो इस दुनिया जहान से चला ही गया, उसके नाम-पते छापना या संख्या बताना ख़बर नहीं है। ख़बर यह है कि मृतक के साथ पाँच अन्य लोगों का भविष्य दांव पर लग गया है। जब आप ऐसे समझेंगे, तो समाज की समझ पूरी होगी। यानी ख़बर के भीतर छिपी ख़बर को ढूँढ़ लाना ही सही पत्रकारिता है। यहीं पर रघुवीर सहाय आज काफ़ी प्रासंगिक दिखते हैं, क्योंकि उन्होंने ख़बर की बिल्कुल नई और क्रांतिकारी अवधारणा प्रस्तुत और विकसित की जो आज की पत्रकारिता में बहुत कम देखने को मिलती है।

रघुवीर सहाय की नज़र में ख़बर और सामाजिक परिवर्तन में गहरा संबंध है। ख़बर बधिक तथ्यों के मेल से असलियत को सामने लाने में समर्थ

है बशर्ते कि तथ्य, आदर्श और जीवित मानव संबंध को जोड़कर यथार्थ प्रस्तुत किए जाएँ तभी समाज के बदलने की प्रक्रिया आरंभ हो सकती है। रघुवीर सहाय का कहना था कि "ख़बर लिखने की यह कौन-सी शैली है जिसमें खबरों को व्याकरण पूरा नहीं करता, हमारे अंदर का हमारा ख़ून उसे पूरा बनाता है।" मौजूदा दौर की पत्रकारिता में वही रक्त संचार करने वाली धमनी टूटी हुई है।

रघुवीर सहाय की पत्रकारिता, कविता, कहानी तथा उनके अन्य लेखन में स्त्री, दलित, पिछड़े तथा समाज के हासिए पर पड़े आम आदमी की चिंता के विषय थे। वे स्त्री-देह के विज्ञापन या वस्तु बनाने के बिल्कुल विरूद्ध थे। ख़बर को मनोरंजक, चटपटा, मसालेदार, सनसनीख़ेज़ और उत्तेजक बनाकर प्रस्तुत करने के ख़िलाफ़ थे जो आज ख़ासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर पूरी तरह हावी हो चुका है। ऐसी स्थिति में रघुवीर सहाय की प्रासंगिकता पत्रकारीय दृष्टि से आज अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। इस ख़्याल से आज हमें रघुवीर सहाय का मूल्याँकन करना यथोचित होगा। सज कहा जाए तो रघुवीर सहाय मूलतः पत्रकार थे। कवि के रूप में भी वे अग्रणी थे। कई विचारकों ने तो उन्हें 'अख़बारी कवि' की संज्ञा दे रखी थी। आज के भौतिकवादी युग में जब मानवीय मूल्य ही सबसे ज़्यादा तिरोहित हो रहे हैं, रघुवीर सहाय की कविता और उनके पत्रकारीय लेखन दोनों प्रेरणा देने की क्षमता रखते हैं। यदि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में कहें तो 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है। कोई-कोई कवि बन जाए सहज संभाव्य है' रघुवीर सहाय के व्यक्तित्व के साथ भी बिल्कुल सटीक है, क्योंकि राम की तरह रघुवीर सहाय भी मानवीय मूल्यों पर आधारित एक बेहतरीन समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें किसी भी तरह का दैहिक, दैविक और भौतिक कष्ट न हो। वे कविता और पत्रकारिता को लोक तक पहुँचाना चाहते थे, ताकि मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए प्रेरित हों। आज के महत्त्वाकांक्षी पत्रकार और कम ही समय में एक यशस्वी कवि व रचनाकार कहलाने के इच्छुक लेखकों को रघुवीर सहाय के जीवन से काफ़ी कुछ मिल सकता है। कारण कि उन्होंने पत्रकारिता की विषम परिस्थितियों में मूल्यों से कभी समझौता नहीं किया। दूसरी बात यह कि रघुवीर सहाय अंतिम ऐसे कवि हुए जो छंदों से खेलते रहे और उन्हें सफलतापूर्वक तोड़ते भी रहे।

'यहाँ ये पंक्तियाँ गौरतलब हैं कि आज का कवि अपनी स्थानीय और जनपदीय भाषा में कविता में राजनीतिक टिप्पणियाँ लिख रहा है, तो कहीं अपने

को पक्षधर दिखाने की कोशिश कर रहा है। सामाजिक होने के दबाव में उसे छंदों से परिचित होने की फुर्सत ही नहीं है।'

रघुवीर सहाय की क़लम में वह ताक़त थी जिससे समाज की सोच में परिवर्तन होता था। उनकी मान्यता थी कि हर पत्रकार् के लिए एक लक्ष्मण रेखा होनी चाहिए और वह स्वयं तय करे कि उसकी लक्ष्मण रेखा क्या है। पत्रकारिता में स्टिंग ऑपरेशन यदि समाज या राजनीति में किसी ख़बर को लेने के लिए की जाए तो ठीक है, परंतु इसका इस्तेमाल निजी हित के लिए नहीं किया जाना चाहिए, रघुवीर सहाय की ऐसी समझ थी। उनकी इसी समझ की वजह से उन्हें लोग सम्मान करते थे। वैचारिक स्तर पर वे अपने विरोधियों पर आक्रामक प्रहार कभी नहीं करते थे। उनकी निष्ठा, उनकी ईमानदारी, उनकी सच्चाई, उनकी स्पष्टवादिता, उनकी वाक्पटुता सब कुछ क़ाबिलेतारीफ़ थी। जो उनसे एक बार मिलता था, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

रघुवीर सहाय छोटे और बड़े सभी साहित्य-सेवियों व पत्रकारों को यथासंभव प्रोत्साहित करते और सम्मानित किया करते थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व की गंभीरता के अनुरूप पत्रकारिता को गौरवान्वित किया। ऐसे कीर्तिपुरुष अवश्य ही अपने यश-रूपी शरीर से जीवित रहते हैं। उनका यश रूपी शरीर न तो कभी जरा-जीर्ण होता है और न ही मृत्यु का ग्रास बनता है। साहित्यिक एवं पत्रकारिता जगत के लिए रघुवीर सहाय की परोपकारवृत्ति के आकलन के अनेक असमान्य पक्ष है। उनके असमय देहांतरण से पत्रकारिता एवं हिंदी सेवी परिवार ने अपने एक शुभेच्छु को खोया। साहित्य और पत्रकारिता में उन्होंने जिन आदर्शों और पत्रकारों एवं साहित्यकारों के लिए एक संबल है। उनकी इस विरासत को आगे बढ़ाना ही रघुवीर सहाय के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। शायर मनव्वर राना की इन पंक्तियों से मैं उन्हें अपनी श्रद्धा निवेदित करता हूँ-

एक पेड़ को किसी से शिकायत न थी
मगर वह बीच में आने से कट गया
खंडहर से दिल में कोई तमन्ना घर बनाती है
मेरे कमरे में एक चिड़िया घर बनाती है।

वरिष्ठ पत्रकार शामलाल :
जिनकी ख्याती एक स्वतंत्र और मजबूत विचार के रूप में रही।

हिंदुस्तान टाइम्स के पूर्व पत्रकार तथा द टाइम्स ऑफ इंडिया के पूर्व संपादक शामलाल का विगत 23 फरवरी, 2007 को निधन हो गया। सभी विधाओं की पुस्तकों की समीक्षा में सिद्धहस्त शामलाल का जन्म सन् 1912 में हुआ था। सन् 1934 में हिंदुस्तान टाइम्स से उन्होंने पत्रकारिता शुरू कर दी। 12 वर्षों तक इसमें अपनी सेवाएँ प्रदान करने के बाद पचास के दशक में वे द टाइम्स ऑफ इंडिया में चले गए और वहीं से वे 1967 में संपादक बने। इस पद पर 11 वर्षों तक सेवाएँ देकर वे सेवा निवृत्त हुए। उनकी ख्याति एक स्वतंत्र और मजबूत विचारक के रूप में रही।

शामलाल जी की पुस्तक 'ए हंड्रेड एनकाउंटर्स' की समीक्षा में एकधिक समीक्षकों ने फटाफट पत्रकारिता और दूरदर्शन 'बाइट्स' के इस जमाने में शामलाल है। वे सही मायने में अपवाद थे। पत्रकारिता की क्षण-भंगुर दुनिया में वे लगातार ऐसा लेखन करते रहे, जो दीर्घकालीन मूल्य रखता था और फिर वे कभी भी अप्रसंगिक या पिछड़े हुए नहीं दिखे। सच तो यह है कि बौद्धिकों और पत्रकारों की एक पूरी पीढ़ी को आधुनिक विचार और जीवन दुष्टि सिखाने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। 95 वर्षीय शामलाल की दृष्टि का महत्त्व यह भी था कि उनमें एक गहरी आलोचनात्मकता के साथ विनम्र मानवीयता थी। इस मामले में पत्रकारिता की सीमाओं को विस्तृत करने का एक बड़ा काम उन्होंने किया। यों तो शामलाल एक सफल पत्रकार और सिद्धहस्त संपादक तो थे ही, लेकिन उन्हें सबसे ज्यादा स्मरण उनके स्तंभ 'लाइफ एंड लेटर्स' के लिए किया जाएगा, जिसके चुनिंदा लेख 'ए हंड्रेड एनकाउंटर्स' के नाम से संकलित हुए हैं। इस स्तंभ में वे लगभग चालीस साल तक हर हफ्ते किसी पुस्तक पर चर्चा करते थे। यह पुस्तक समीक्षा नहीं थी, बल्कि पुस्तक के आधार पर लेखेक के कृतित्व और विचारों की विचारोत्तेजक और रोचक छानबीन होती थी, उनकी गहरी रूचि साहित्य, कला, सिनेमा आदि में थी और इन क्षेत्रों के दिग्गजों से उनकी भिन्नता भी थी। हिंदी के कई बड़े लेखक उनके मित्र थे और उनके बारे में उन्होंने लिखा भी था। दूसरी ओर 'प्रोगेसिव आर्टिस्ट ग्रुप' के चित्रकारों से लेकर जगदीश स्वामीनाथन तक उनके मित्र थे। वे इस बात के प्रमाण थे कि

पत्रकारिता और गहराई का कोई बैर नहीं है जैसा कि सुविधाजनक रूप से मान लिया जाता है, बल्कि गहरे और व्यापक आशय पत्रकारिता को ज्यादा प्रासंगिकता और दीर्घजीवी बना सकते हैं।

सुपरिचित पत्रकार राज किशोर का मानना है कि शामलाल जी अपने जीवन काल में लगातार अप्रासंगिक होते आ रहे थे। ऐसा आदमी, जिसने लगभग पचास साल तक भारत की अँग्रेजी पत्रकारिता में विचारों की खेती की हो, जो विचारों की दुनिया में ही रहता थ और अपने समय के गंभीर में सवालों से निरंतर मुठभेड़ करता जाता था, जिसे पढ़कर निष्कालुष बौद्धिक आनंद मिलता था, वह अगर धीरे-धीरे समाज से बाहर किया जा रहा था, तो दोषी कौन है? यह व्यंग्यात्मक सवाल पूछना इसलिए जरूरी है कि जिसे अप्रासंगिक होना कहा जाता है उसकी सही जाँच के लिए क्या प्रसंग की पड़ताल करना भी जरूरी नहीं है? क्या हम यह विन्रम दावा कर सकते है कि पत्रकारिता का वर्तमान प्रसंग ही अप्रासंगिक हो रही है?

खैर जो जो, मगर अँग्रेजी में शामलाल जी के जीवित उत्तराधिकारी आज कहीं दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। शब्दों की गहराई लिए ऐसे सशक्त पत्रकार जी को विचार दृष्टि की ओर से श्रद्धांजलि।

प्रभाष जोशी : जिन्होंने हिंदी पत्रकारिता को भाषा और तेवर की एक दिशा दी

प्रवाहमयी व धारधार लेखनी और बेबाक टिप्पणी के लिए पहचाने जाने वाले प्रभाष जोशी जी ने हिंदी पत्रकारिता को भाषा और तेवर की एक नई दिशा दी। सामाजिक सरोकारों और देशज संस्कारों के प्रति प्रभाष जी का समर्पण अतुलनीय था। सर्वोदय और गांधीवाद उनकी विचारधारा में गहराई तक रचा-बसा था। भाषा के वे ऐसे जादूगर थे जिनका लेखन एक नदी की तरह मुक्त किंतु संयुक्त बहता जाता था। शानदार हिंदी और जानदार अँग्रेजी लिखने वाले प्रभाष जोशी वाकई हिंदी पत्रकारिता के ऋषिकुल के ऐसे आखिरी संपादक थे जिनके सिखाए पत्रकारों की एक पूरी पीढ़ी है और बड़े-बड़े ओहदों पर बैठी है।

इंदौर में विनोबा जी के आने पर प्रभाष जोशी ने नई दुनिया के तत्कालीन संपादक राहुल बारपुते के कहने पर सन् 1960 में पत्रकारिता में कदम रखा। करीब छह साल तक काम करने के बाद पत्रकारिता की एक छात्रवृत्ति के तहत उन्हें 1965 में इंग्लैंड भेजा गया, जहाँ उन्होंने 'मैनचेस्टर गार्जियन' और 'टेलीग्राफ' में काम किया। फिर वापस लौटने पर वे भोपाल से निकलने वाले 'मध्य प्रदेश' नाम्नी अखबार से जुड़े। फिर 1968 में गांधी-शताब्दी समिति की प्रकाशन समिति के सचिव पद पर आसीन होने पर वे दिल्ली आ गए जहाँ 1970 से 1974 तक भवानी प्रसाद मिश्र के संपादकत्व में उन्होंने 'सर्वोदय जगत' में काम किया। इसके बाद प्रफुल्ल चंद्र ओझा 'मुक्त' के संपादकत्व में निकलने वाले 'प्रजानीति' नामक अखबार से जुड़े और बाद में वे उसके संपादक भी हुए। दिल्ली आने पर वे गांधी शांति प्रतिष्ठान से जुड़ गए। यहीं वे जयप्रकाश नारायण के संपर्क में आए और उनके जरिए उनकी निकटता 'इंडियन एक्सप्रेस' के मालिक सोमनाथ गोयनका से बढ़ी।

फिर वे पूरी तरह सन् 1974 से इंडियन एक्सप्रेस से जुड़ गए और इसके क्रमशः अहमदाबाद, चंडीगढ़ और दिल्ली संस्करणों के संपादक रहे। 1983 में उन्हें इंडियन एक्सप्रेस के हिंदी दैनिक 'जनसत्ता' के संपादक का दायित्व सौंपा गया जिसके वे जीवनपर्यंत होकर रह गए। सन् 1995 में 'जनसत्ता' के प्रधान-संपादक पद से सेवानिवृत्त होने के बावजूद वे एक

दशक से ज्यादा समय तक बतौर संपादकीय सलाहकार इस पत्र से जुड़े रहे। इस संदर्भ में इस बात का उल्लेख करना सर्वथा उचित होगा कि 'जनसत्ता' से हर रविवार को छपने वाले प्रभाष जोशी जी के लोकप्रिय कॉलम 'कागद कोरे' पत्रकारिता और समकालीन प्रसंगों पर उनकी टिप्पणी का दस्तावेज माना जाता है। उनका यह स्तंभ उनके रचना संसार और शब्द संस्कार की अद्‌भुत मिसाल माना जाता है। इस स्तंभ के जरिए वे दैनंदिनी की घटनाओं को वर्णनात्मक रूप से प्रस्तुत करते थे। इस स्तंभ में पत्रकारिता के अलावा कला, खेल, संस्कृति आदि के साथ-साथ उनसे मिलने वाले लोगों का भी जिक्र आ जाता था। यहाँ तक कि अपने घरेलू माहौल के अलावा अपने पालतू कुत्ते की आदतों को भी उन्होंने अपने इस स्तंभ में जगह दी थी। इनकी अब तक नौ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें 'हिंदू होने का धर्म', 'मसि कागद', 'कागद कोरे' आदि प्रमुख हैं। संपादक के तौर पर जो प्रतिष्ठा और आजादी प्रभाष जोशी को मिली वह दिल्ली ही नहीं पूरे भारत में शायद ही किसी अन्य संपादक को मिली।

मध्य प्रदेश के सीहोर जिले के अस्टा गाँव में 15 जुलाई 1937 को जन्मे प्रभाष जोशी 12 भाई-बहनों में सबसे बड़े थे। महाराजा शिवाजी राव से प्राथमिक और मिडिल की शिक्षा प्राप्त करने के बाद 1951-52 में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। फिर कुछ दिनों तक सुनवानी महाकाल के प्राथमिक विद्यालय में शिक्षक रहे।

विगत छह नवंबर 2009 को अहले सुबह जब मैं पूर्वी दिल्ली के यमुना किनारे स्थित दिल्ली विकास प्राधिकरण के गार्डन में टहल रहा था तो मित्र-मंडली के एक प्रतिष्ठित सदस्य श्री पी. डी. शर्मा ने प्रभाष जोशी के निधन की मुझे सूचना देना इसलिए लाजिमी समझा कि मैं उनसे बतौर पत्रकार जुड़ा था। मैं अवाक् रह गया, उनके देहावसान का समाचार सुनकर और शकरपुर स्थित अपने निवास पर आने के बाद दूरदर्शन से विस्तृत जानकारी मिली। स्नानादि कर मै शीघ्र ही शकरपुर के निकट ही निर्माण विहार स्थित श्री जोशी जी के निवास पर जैसे ही पहुँचा, उनकी मानस दीदी श्रीमती नील जी अपनी गाड़ी से गाजियाबाद के वसुंधरा कालोनी स्थित उनके जनसत्ता अपार्टमेंट, जहाँ जोशी जी पठन-पाठन किया करते थे, मुझे ले गई, जहाँ इलेक्ट्रॉनिक और प्रिंट मीडिया से जुड़े प्रायः अधिकांश संपादक एवं पत्रकार के अतिरिक्त उनके शुभेच्छु श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु एकत्रित थे।

मैंने भी राष्ट्रीय विचार मंच तथा उसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि'

परिवार की ओर से श्रद्धा-सुमन अर्पित किए। साथ ही प्रभाष जी जब आखिर मुकाम पर जाने लगे तो दिल्ली के और पत्रकारों एवं अपनों के साथ मैंने भी उनकी आखिरी यात्रा के समय अपना कंधा लगाया तथा शव-यात्रा के साथ गांधी शांति प्रतिष्ठान तक जाकर उन्हें उनके गृह नगर इंदौर के लिए विदा किया जहाँ नर्मदा के किनारे बड़वाह के पास खेड़ा घाट पर दूसरे दिन यानी शनिवार 7 नवंबर 2009 को उनका अंतिम संस्कार किया गया। वर्षो से उनके करीबी रहे वरिष्ठ पत्रकार रामबहादुर राय बताते हैं कि क्रिकेट के दीवाने और अपने को 'क्रिकेट का बावला' कहने वाले पत्रकार प्रभाष जोशी दिल का दौरा पड़ने से ठीक पहले भारत-आस्ट्रेलिया के बीच चल रहे एक दिवसीय क्रिकेट मैच देख रहे थे। बेचैनी होने पर उन्हें गाजियाबाद के नरेन्द्र मोहन अस्पताल ले जाया गया जहाँ डॉक्टरों ने उन्हें मृत घोषित कर दिया। 'हंस' के संपादक श्री राजेन्द्र यादव के इस मत से मैं सहमत हूँ कि किक्रेट मैच में भारत की मात्र तीन रन से हार ही उन्हें ले डूबी और उनके महाप्रयाण के बाद 'कागद कोरे' तो पढ़ने को नहीं मिलेंगे, बल्कि कागद अब कोरे ही रहेंगे। सच मानिये पत्रकारिता के जरिए उन्होंने हिंदी को बेहतरीन गद्य तो दिए ही दिल्ली के सांस्कृतिक जीवन में भी उनकी उपस्थिति बेहद अहम थी। उनकी अतिव्यस्तता और निरंतर यात्रा को लेकर जोशी जी की धर्मपत्नी श्रीमती उषा जोशी जी बराबर चिंतित रहती थीं। दिल्ली के शकरपुर से जोशी जी का निर्माण विहार आवास बहुत निकट होने के चलते मैं पैदल ही अक्सर उनसे मुलाकात कर दो-चार बातें करने तथा उनसे प्रेरणा पाने के लिए उनके आवास जाया करता था जिसकी वजह से उनके परिवार का जैसे मैं एक सदस्य हो गया था। आखिर तभी तो एक बार श्रीमती उषा जी ने मुझसे कहा, 'सिद्धेश्वर जी, क्या प्रभाष जी पर मेरा अधिकार नहीं है? यदि हां, तो इन्हें समझाते क्यों नहीं कि इतनी अधिक यात्रा न करं मेरे लिए भी समय बचाएं।' श्रीमति उषा जी की इस बात से कितनी आत्मीयता और अपनापन झलकता है इसका अंदाजा आप स्वयं लगा सकते हैं। मैंने प्रभाष जी से फौरन अपनी यात्रा कम करने का जब विनम्र अनुरोध किया, तो उत्तर में उन्होंने कहा, 'सिद्धेश्वर जी, हम सामाजिक कार्यकर्ताओं और पत्रकारों का जीवन ही ऐसा है कि किसी के आमंत्रण को टाल नहीं सकते। आप भी इसी राह के राहगीर हैं, तभी तो आपका एक पैर दिल्ली तो दूसरा पैर पटना में रहता है। मै निरुत्तर हो गया और उषा जी की ओर देखकर उन्हें पढ़ने लगा। मन ही मन सोंचा कि प्रभाष जोशी जी ठीक ही तो कह रहे हैं। ऐसे थे प्रभाष जी

जिंदादिल और सकारात्मक उर्जावाले इंसान जिनका जाना पत्रकारिता, इंसानियत और राजनीति तीनों के लिए दुःखद हुआ। ऐसे लोग विरले ही होते हैं। ऐसे विरल व्यक्तित्व और कलम के धनी प्रभाष जी का सान्निध्य पाकर मैं तो क्या कोई भी व्यक्ति गौरवान्वित महसूस करेगा। वे चले गए सबको बिलखते छोड़कर। उनके न होने से उपजे शून्य की भरपाई मुश्किल ही है।

एक साधारण मध्यवर्गीय परिवार में जन्में प्रभाष जोशी जी ने हिंदी पत्रकारिता को 'सबकी खबर ले और सबको खबर दे' जैसे सरोकार और भाषा को नए तेवर दिए। यश और कामयाबी के बावजूद अपनी मिट्टी और देशज संस्कारों का साथ उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। संकल्पपूर्वक कलम उठा रखने वाले प्रभाष जी कलम की ताकत और उसकी पहुँच पर बहुत भरोसा करते थे। गांधीपन का जो संस्कार उनमें पला, उसने उन्हें यह अहसास करवाया कि समाज की आँखें खुली रहें और उसके कदमों में स्पंदन बना रहे। प्रभाष जोशी उन बेहद गिने-चुने हिंदी पत्रकारों में से थे, जो व्यापक समाज के बारे में गंभीरता और जिम्मेदारी से सोचते थे और अपना मत पूरी बेबाकी से व्यक्त करते थे। पिछले कुछ वर्षो से हिंदी समाज के वे एक ऐसे प्रवक्ता बन गए थे जो हिंदी तेजस्विता, स्वाभिमान और आत्मविश्वास उसके संघर्षो और साहस को लेकर मुखर था। हमारी वैचारिक दरिद्रता दूर हो और हम एक चिंतन-संपन्न समाज बनें, प्रभाष जी की चिंताओं में यह लगातार बना रहा। निश्चित रूप से राहुल बारपुते, कुमार गंधर्व, विष्णु चिंचालकर, शरद जोशी तथा राजेंद्र माथुर जैसे तेजस्वी बौद्धिक सर्जनात्मक परंपरा के प्रभाष जोशी अंतिम शिखर थे जिन्होंने पत्रकारिता को सामाजिक बदलाव का जरिया माना, धंधा नहीं। शायद यह प्रभाष जोशी जी की असीम संवेदनशीलता थी जिसकी वजह से मेरी अद्यतन पुस्तक- 'समकालीन संपादकीय' की भूमिका में उन्होंने लिखा-'सिद्धेश्वर जी ने इनमें सामयिकता ही नहीं तात्कालिकता को भी साधने की कोशिश की है। इसलिए इनमें गुजरते समय और घटती घटनाओं का संदर्भ तो है लेकिन बात ऐसी कही गई है जो तात्कालिकता और राजनीति की उठा-पटक से पार जाती है। निजी और सामूहिक जीवन के ऐसे कालजयी मूल्यों को पकड़ने का प्रयास किया गया है जो दैनंदिन जीवन की आपाधापी में खो जाते हैं। सिद्धेश्वर जी की लगातार कोशिश है कि वर्तमान में जीते हुए और अपने आसपास की घटनाओं पर लिखते हुए शाश्वत् को हमेशा सामने रखा जाए।' इस प्रकार अक्सर किसी आत्मीय की चिट्ठियों की तरह उन्होंने मेरे संपादकीय पर अपने लेखन को

गुँथा एक अभिभावक जैसा, जिसमें विवेक की रेखा स्पष्ट नजर आती है, वे लिखित रूप में यही छोड़ गये हैं जो हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत बनेगा। बाकी तो उनका नश्वर शरीर राख में बदलकर नर्मदा की अविरल धारा की गोद में खेलने चला गया। और अब मेरी स्मृति में वह सब उमड़-घुमड़ रहा है, जो एक लंबी समयावधि के दौरान उनके संपर्क में मैंने उन्हें देखा-जाना, सुना और समझा, उनके साथ रेलवे हिंदी सलाहकार समिति की बैठकों में और उनके निर्माण-विहारवाले आवास में उनके द्वारा परोसे गए अल्पाहार के बीच, विविध विषयक अनौपचारिक आत्मीय चर्चाओं में। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है रेलवे हिंदी सलाहकार समिति की अंतिम बैठक में जब मैंने समिति के अध्यक्ष व तत्कालीन रेलमंत्री श्री नीतीश कुमार जी के समक्ष पटना से नई दिल्ली तक जय प्रकाश जी की स्मृति में एक 'संपूर्ण क्रांति' नामक गाड़ी चलाने का प्रस्ताव रखा था, तो प्रभाष जोशी जी ने उसका जोरदार समर्थन करते हुए कहा था, 'सिद्धेश्वर जी ने मेरे मन की बात अपने प्रस्ताव में रख दी है, संपूर्ण क्रांति गाड़ी चलनी ही चाहिए। जैसे-जैसे मैंने उन्हें करीब से देखा, वैसे-वैसे मेरे मन में उनके प्रति सम्मान गहरा हुआ। वे एक सुसंस्कारी व्यक्ति थे और यह सुसंस्कारिता उनके परिवार के हर सदस्य में झलकती है, खासकर उषा भाभी में तो पूरी तरह। यह मेरा सौभाग्य रहा कि दिल्ली में ऐसे सुसंस्कारी शख्सियत के अंतिम दर्शन मै कर सका और उनके नश्वर शरीर को कंधा देने का मुझे सुअवसर मिला। प्रभाष जी के शोक-संतप्त परिवार में उनकी 98 वर्षीय माता लीलाबाई जोशी, धर्मपत्नी उषा जोशी, पुत्र संदीप और सोपान, पुत्री सोनल तथा नाती-पोते सहित हम जैसे लाखों शुभेच्छु हैं।

प्रभाष जोशी द्वारा लिखी गई पुस्तकों में 'मसि कागद', 'हिंदू होने का धर्म', 'धन्न नर्मदा मैया हो', 'जब तोप मुकाबिल हो', 'लुटियन के टीले का भूगोल', 'खेल सिर्फ खेल नहीं है', 'चंबल की बंदूकें', 'जीने के बहाने' तथा 'गांधी के चरणों में' प्रमुख हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जोशी जी के लेखन में देश की जनता की धड़कन सुनाई पड़ती है। ये किताबें समकालीन राजनीति, साहित्य, संस्कृति, खेल, संगीत, कला व सामाजिक संदर्भो का विलक्षण, साफ-सुथरा और गहन संयोजन हैं, जो निबंध विधा को उत्कर्ष प्रदान करने में सक्षम हैं। उनके द्वारा उठाए गए सवाल वर्तमान के संकट से जुड़ते हैं। जातियों, धर्मों, संप्रदायों, भाषाओं और क्षेत्रीयता में बंटे समाज के संकट पर केंद्रित उनके निबंध बौद्धिक जगत को वैचारिक संवाद

के लिए आमंत्रित करते हैं तथा पाठकों को राजनीतिक रूप से चेतन भी करते हैं। छह दिसंबर के आपातकाल की शर्मनाक घटना से लेकर नंदीग्राम नरसंहार तक के वैचारिक लेखन से स्पष्ट है कि प्रभाष जोशी जी ने समय तथा समाज के हर ज्वलंत मुद्दे को एक जबर्दस्त नैतिक आवेग और गहरे सरोकार से उठाया।

दिल्ली के रहते हुए भी दिल्ली की विकृतियों से दूर रहने वाले प्रभाष जोशी जी के भीतर हमेशा मालवा का एक ऐसा सच्चा ग्रामीण मानुष रहा जिसकी सारी प्रतिबद्धता आम जन के प्रति थी। भ्रष्टाचार के दलदल में फँसी वर्तमान दौर की राजनीति के वक्त प्रभाष जोशी ने वैकल्पिक राजनीति पर विमर्श की रूपरेखा बनाई जिसने यह साबित किया कि एक पत्रकार व संपादक के सरोकार कितने विराट होते हैं। जयप्रकाश नारायण के साथ सन् 1972 में चंबल के डाकुओं के आत्मसमर्पण में उन्होंने जो भूमिका निभाई, वह काबिले तारीफ थी। प्रभाष जी के व्यक्तित्व में गर्व, साहस और हौसले के मूल्य कूट-कूटकर भरे थे। 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श का उन्होंने न केवल प्रचार किया, बल्कि उसे जीया भी। उनकी कथनी और करनी में पूरा सामंजस्य था।

राष्ट्रीयता और आंचलिकता के बीच अदभुत तालमेल करने वाले प्रभाष जोशी जी ने मुंबई जनसत्ता में भोजपुरी, अवधी, राजस्थानी जैसी अनेक बोलियों के स्तंभ प्रारंभ किए थे। दरअसल, वह हिंदी में लोकभाषाओं की अबाध आवाजाही को राष्ट्रभाषा की व्यापकता और प्रभावशीलता की संजीवनी मानते थे। कबीर उनके अत्यंत प्रिय थे जिन्हें वे अक्सर गुनगुनाते रहते थे। कबीर का यह मंत्र 'ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर' शायद प्रभाष जोशी जी का भी ध्येय मंत्र था। प्रभाष जी ने खुद को एक कुम्हार की तरह गढ़ा था, तभी तो सियासत से लेकर कला-संस्कृति तक, लोक से लेकर नागर तक, कबीर से लेकर कुमार गंधर्व तक, क्रिकेट समेत तमाम खेलों से लेकर विज्ञान-प्रौद्योगिकी के विकास तक और भारतीय दर्शन से लेकर आधुनिक-विमर्श के बीच वह सिद्धहस्त की तरह विचरण करते थे। नि:स्वार्थपूर्ण संबंधों को संवेदनशीलता के साथ निभा ले जाने में भी आक्रामक पत्रकारिता के पैरोकार प्रभाष जी का कोई सानी नहीं था। प्रभाष जोशी के जीवन-कर्मों की तरह नैतिक, निर्भीक और एक आदर्श समाज रचने के स्वप्न को वास्तविक बनाने के मूल लक्ष्यों के लिए वर्तमान व भावी पत्रकारिता चेष्टारत रहेगी, ऐसी आशा की जा सकती है।

खंड-तीन

कलाकार

उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ : गंगा-जमुनी तहज़ीब की जीती जागती जो मिसाल थे

'संगीत वह चीज़ है जिसमें ज़ात-पांत कुछ नहीं है। संगीत की नज़र में सब धर्म और मज़हब एक है। उनमें मानवीय प्रेम और बंधुत्व भावना का आह्वान है।' ये उद्गार हैं शहनाई के शिखर पुरुष और भारतरत्न उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ के, जो गंगा-जमुनी तहज़ीब की जीती-जागती मिसाल तो थे ही, सांप्रदायिकता से लोहा लेने वाले सामासिक संस्कृति के सच्चे प्रतीक भी थे।

भारत के प्राचीन वाद्यों में शहनाई संभवतः सबसे लोकप्रिय वाद्य है, जो आम तौर पर मंदिरों में सुबह और शाम को प्रार्थना के समय, त्योहारों और सभी पावन अवसरों के साथ-साथ बच्चों के जन्म, विवाह- -शादियों, ध ार्मिक पर्वों आदि में लोक धुनों पर बजाया जाता है, किंतु उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ ने इस साज़ को न केवल शास्त्रीय संगीत में ढाला और संगीत की महफ़िलों में उसे सम्मानित स्थान दिलाया, बल्कि दोयम दर्जे की समझी जाने वाली शहनाई को दिव्य बना दिया। पिछले क़रीब सात दशकों से शहनाई और उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ एक दूसरे के पर्याय बन गए थे। पाँच वक़्त के नमाज़ी उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ बनारस के शिव मंदिर और गंगा के घाट इसके साक्षी हैं, जिसे उन्होंने शांति और माधुर्य का स्रोत माना। बनारस और वहाँ की गंगा नदी से उन्हें बेहद लगाव था। गंगा की गोद में बैठकर शहनाई वादन उनका शग़ल बन गया था। उस्ताद कहते भी थे कि माँ गंगा ने उन्हें यह मुक़ाम अता किया है। आख़िर तभी तो मन से गंगा की तरह निर्मल बिस्मिल्ला को इस मुक़ाम पर पहुँचने के बाद भी अहम् छू तक नहीं पाया। गंगा से उनके लगाव से संदर्भित एक वाक़या सुनाया 'राष्ट्रीय विचार मंच' तथा उसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' से जुड़े मेरे मित्र पूर्व पुलिस पदाधिकारी सीताराम प्रसाद ने, जो उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ के इलाक़े के ही निवासी हैं। वाक़या यूँ है कि जब उस्ताद एक संगीत-समारोह में भाग लेने यूरोप गए, तो उनके प्रशंसक ने उन्हें बंगला-गाड़ी व अन्य ख़र्चों के अलावा यूरोप नागरिकता का भी प्रस्ताव दिया,

मगर उनके इस सवाल ने उक्त प्रशंसक को निरूत्तर कर डाला यह कहकर कि "आप यूरोप में सब कुछ देंगे, पर गंगा कहाँ से लाएँगे?" उस्ताद को गंगा नदी से न केवल प्रेरणा मिलती थी, बल्कि उनको गंगा नदी में तैरने का भी शौक़ था। उनका मानना था कि शहनाई बजाने में वृद्धावस्था में भी उनके फेफड़ों को जो ताक़त मिलती रही है उसका पूरा श्रेय गंगा को जाता है। यही है वह भारतीय संस्कृति जो इस देश की हस्ती को मिटने नहीं देती और उस्ताद बिस्मिल्ला जैसे ही इस देश के वासी उसको अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आजीवन कटिबद्ध रहे।

बिहार राज्य के डुमरांव के बंधन पटवा मोहल्ले में पैगंबर खां व उनकी बेगम मिट्ठन के आँगन में 21 मार्च, 1916 को बिस्मिल्लाह की किलकारी गुंजी। शिशु को देखते ही उनके दादा के मुँह से निकला, बिस्मिल्लाह! बस यही उस शख्सियत का नाम हो गया जो आगे चलकर शहनाई के उस्ताद कहलाए। 8 साल की उम्र में वे अपने मामा के साथ वाराणसी चले गए और वहीं मां गंगा के तीरे शहनाई का रियाज कर पूरी दुनिया को भाव विभोर किया। न्यूयॉर्क का वर्ल्ड म्यूजिक इंस्टिच्यूट हो या केन्स का आर्टस फेस्टिवल अधिकांश देशों के संगीत प्रेमी डुमरांव के लाल उस्ताद बिस्मिल्लाह खां की शहनाई के जादू से अभिभूत हो चुके हैं। एक दुर्भाग्य यह है कि उस्ताद के पैतृक निवास डुमरांव में आज उनकी कोई निशानी नहीं है।

उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ ने पाँच वर्ष की उम्र में ही शहनाई थाम ली थी। उन्होंने अपना पहला सार्वजनिक कार्यक्रम 14 वर्ष की आयु में सन् 1930 ई० में इलाहाबाद में किया। सन् 1937 ई० में कोलकाता में आयोजित अखिल भारतीय संगीत-समारोह में शहनाई बजाकर उन्होंने अपनी धाक जमाई तथा वहाँ स्वर्ण पदक अर्जित किया। 15 अगस्त 1947 ई० को उस्ताद की असाधारण संगीत यात्रा का स्वर्णिम पड़ाव दिल्ली के लाल क़िले में आयोजित आज़ादी के जश्न में शहनाई वादन था और उसके बाद उनका यह सिलसिला तब तक जारी रहा जबतक कि वर्ष 15 अगस्त, 2006 ई० को अपनी अस्वस्थता और आतंकी हमले की आशंका के कारण लाल क़िले में शहनाई बजाने से वे वंचित रह गए। कहा जाता है कि दिल्ली के ऐतिहासिक इंडिया गेट पर शहीदों की स्मृति में वे शहनाई वादन करना चाहते थे, किंतु अस्वस्थता की वजह से उनका यह सपना साकार नहीं हो सका। अभी दो माह पहले की बात है जब गंगा के इस पुजारी के पास केंद्रीय गृह राज्यमंत्री श्री प्रकाश जायसवाल पाती लेकर इंडिया गेट पर शहनाई बजाने का न्योता देने गए

थे, लेकिन इसे सियासी मजबूरी कहें या आतंकवाद का ख़ौफ़, कहीं कोई अनहोनी न हो जाए, इसलिए सरकार ने इस कार्यक्रम को कुछ समय के लिए मुल्तवी कर दिया और उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ की मौत के साथ उनकी यह हसरत भी शहीद हो गई।

पिछले सात दशक से अनवरत रूप से देश-विदेश के कोने-कोने में शहनाई को बुलंदियों तक पहुँचाने वाले और संगीत की दुनिया का एक महान सितारा 20 अगस्त, 2006 की रात 2.30 बजे यानी 21 अगस्त को हमारे बीच से उठ गया मानो शाहनाई मौन हो गई। उस्ताद के आस-पास तो क्या, दूर दराज़ भी खड़ा होने वाला आज कोई नहीं दिखता जो उनकी जगह ले सके।

उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ के गुज़रने से न केवल शहनाई अनाथ हो गई, बल्कि राष्ट्र की भावात्मक एकता के प्रतीक की जादूगरी से हम भारतीय हमेशा के लिए महरूम हो गए। मुझे अच्छी तरह याद है कि आज से नौ वर्ष पूर्व पटना के ऐतिहासिक गाँधी मैदान में दुर्गापूजा के मौक़े पर आयोजित एक संगीत-समारोह में ख़ाँ साहब की शहनाई के सुरों को सुनने का मौक़ा मुझे भी मिला था। गले में जन्नत बसा हो जिसके उसके सुरों की तासीर का कोई मुक़ाबला कैसे होगा? उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ की शहनाई से निकले सुर माहौल को जादूई बना देते थे। पटना के गोल घर और जिलेबी के साथ-साथ पटना को भी वे इसलिए पसंद करते थे कि यहाँ के लोग सरल, सहज और दिमाग़दार होते हैं। बिहार की राजधानी पटना इसलिए भी पसंद था कि ये ख़ुद भी बिहार के बक्सर जिलांतर्गत डुमरांव के थे।

सनद रहे कि उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ का जन्म 21 मार्च 1916 ई० को डुमरांव में पैग़ंबरबख़्श ऊर्फ बचई मिया के घर हुआ था। इनके पूर्वज डुमरांव राज में बिहारी जी के मंदिर के सामने शहनाई बजाते थे। यहाँ तक कि उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ ने भी बचपन में उसी मंदिर में शहनाई बजाई। बाद में वे अपने मामा जनाब विलायत हुसैन ख़ाँ एवं जनाब अलीबख़्श से शहनाई का रियाज़ करने लगे। फिर धीरे-धीरे वे लोग चले गए बनारस, जहाँ से उनके पूर्वज आए थे और वहीं बस गए। बनारस आने के बाद गंगा-जमुनी संस्कृति के इस वास्तविक नुमाइंदे के रूप में उस्ताद ने गंगा-घाट और मंदिरों में अपनी संगीत-साधना की और जीवनपर्यंत देश की गंगा-जमुनी संस्कृति को आगे बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहे। वाराणसी में मुहर्रम के अवसर पर श्री ख़ाँ प्रत्येक साल शहनाई से मातमी धुन बजाते थे जिससे लोगों के दिलो-दिमाग़ पर कर्बला की शहादत सजीव हो उठती थी तथा उनकी आँखें नम हो जाती थीं।

इधर हाल के वर्षों में सेगीत के व्यावसायीकरण और गुरु-शिष्य परंपरा के कमज़ोर होने को लेकर उस्ताद चिंतित रहा करते थे। उनका मानना था कि संगीत पैसा कमाने का ज़रिया नहीं, बल्कि इबादत का एक तरीक़ा है। पिछली आधी शताब्दी से उन्होंने देश के प्राय: सभी शास्त्रीय संगीत वादकों के साथ जुगलबंदी की। इनमें प॰ रविशंकर, उस्ताद विलायत अली ख़ाँ, अमजद अली ख़ाँ जैसे दिग्गज वादक शामिल हैं। श्री ख़ाँ ने कजरी और ठुमरी जैसी उप शास्त्रीय विधाओं को भी शहनाई के ज़रिए प्रभावी ढंग से मुखरित किया। वाराणसी की प्रमुख कजरी गायिकाएँ सिद्धेश्वरी देवी और गिरिजा देवी के साथ उन्होंने कजरी को जनमानस में लोकप्रिय बनाया। श्री ख़ाँ अफ़ग़ानिस्तान, यूरोप, ईरान, ईराक़, कनाडा, द॰ अफ़्रीका, अमेरिका, सोवियत संघ, जापान, हांगकांग और तक़रीबन सभी देशों की राजधानियों में शहनाई वादन किया। आख़िर तभी तो उस्ताद के देहावसान के बाद पूरी दुनिया में शोक की लहर छा गई। ब्रिटिश मीडिया में तो स्व॰ ख़ाँ के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने का एक कीर्तिमान स्थापित हुआ। 'दि गार्जियन', 'दि इंडिपेंडेंट', 'दि टेलीग्राफ़' और 'दि टाइम्स' जैसे ब्रिटिश अख़बार ने उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ के निधन के समाचार को प्रमुखता से प्रकाशित कर उन्हें जिस प्रकार हिंदू-मुस्लिम एकता का सर्वोत्तम प्रतीक माना और उनके जीवन को आदर्श और अनूठा क़रार दिया वह इस बात का परिचायक है कि उन्होंने न केवल अपने देश भारत में, बल्कि विदेशों में समान लोकप्रियता हासिल की थी। वास्तव में स्व॰ ख़ाँ शहनाई के ऐसे जादूगर थे, जिन्होंने अपने विचार और व्यवहार से दुनिया के सभी धर्म के लोगों का भी सम्मान पाया, क्योंकि मुसलमान होते हुए भी उन्होंने कभी संगीत और इस्लाम के बीच अंतर्विरोध महसूस नहीं किया। कभी उस्ताद ख़ाँ ने कहा था, "जब मौलवी और मौलाना उनसे संगीत और इस्लाम के बारे में पूछते हैं, तो मैं गुस्से में उन्हें कहता हूँ कि आपका प्रश्न मुझे समझ में नहीं आ रहा है।"

उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ संगीत की अब दुर्लभ होती जा रही उस पुरानी कला-परंपरा के प्रतिनिधि थे जिनके लिए सादगी और इंसानियत से बड़ा कुछ भी नहीं था। तभी तो दुनिया भर में इतनी शोहरत और सम्मान पाने के बावजूद ख़ाँ साहब को अहंकार कभी छू तक नहीं पाया और वे हमेशा ज़मीन से जुड़े रहे। एक ऐसा भी दौर आया जब फ़िल्मनगरी मुंबई ने उनको अपनी दुनिया में शामिल करने की कोशिश की, लेकिन श्री ख़ाँ को एक-दो फ़िल्मों में शहनाई बजाने के बाद यह दुनिया रास नहीं आई। 'गूँज उठी शहनाई' फ़िल्म में

उन्होंने 'दिल का खिलौना हाय टूट गया...'' गीत पर जब शहनाई बजाई तो उस दौर के अज़ीम संगीतकार भी ख़ाँ साहब की शहनाई के मुरीद हो गए, मगर ख़ाँ साहब की ही कुछ कमज़ोरियां थीं, वह थी बेगम अख़्तर की गायकी। श्री ख़ाँ को अख़्तर की 'हमरी अटरिया आ जा संवरिया, देखा-देखी तनिक हुई जाए...'' ठुमरी से बेपनाह मुहब्बत थी। जब कभी एकांत में वे बैठते, बरबस ही इस ठुमरी के बोल उनके मुँह से फूट पड़ते थे।

सुप्रसिद्ध शायर नज़ीर बनारसी यदि काशी में गंगा-जमुनी संस्कृति के प्रतिनिधि कहे जाते थे, तो उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ को इस तहज़ीब का मसीहा कहने में हिचकिचाहट की कोई गुँज़ाइश नहीं। वास्तव में संगीत के ज़रिए उन्होंने निर्गुण की साधना की। कबीर के निर्गुण को उस्ताद के पूरे अंदाज़ में देखा जा सकता है। सियासत का कोई भी रंग हो, चाहे वह कश्मीर का मसला हो या कोई और, उस्ताद ने कभी भी किसी बयानबाज़ी में रुचि नहीं दिखाई। हाँ, आतंकवाद और धार्मिक कट्टरता को दुतकारा अवश्य। काशी में संकटमोचन मंदिर पर जब पिछले दिनों आतंकवादियों ने बम विस्फोट किया, तो उस्ताद ख़ाँ की त्योरियाँ चढ़ीं और इस कृत्य के ख़िलाफ़ बेहद तल्ख़ अल्फ़ाज़ का उन्होंने इस्तेमाल किया। वे अक्सरहाँ कहा करते थे कि सारी समस्या का समाधान मुहब्बत से है और इसका आधार संगीत है। इस नज़रिए से उनकी सुर-साध ना को एक निर्णायक आंदोलन भी कहा जा सकता है। आज इस देश तो क्या पूरे विश्व को उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ पर गर्व है। इनके बेटे महताब, नैय्यर, जामिन, काज़िम एवं नाज़िम हुसैन संगीत से जुड़े हैं। इनके अतिरिक्त उनकी तीन पुत्रियाँ, पंद्रह पौत्र और दस पौत्रियाँ हैं।

वैसे सच कहा जाए, तो उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ ने अपने जीवन में वह सबकुछ पाया, जिसकी कल्पना भी एक साधारण परिवार से आया व्यक्ति नहीं कर सकता है। शांत चेहरा, बच्चों जैसी मुस्कान और पहुँचे फ़कीर जैसे हाव-भाव उन्हें सबसे अलग और अनोखा बना देते थे। उन्होंने फ़ाक़ामस्ती में दिन गुज़ारे, लेकिन बड़े शहर या सत्ता के गलियारे के क़रीब जाने की कोशिश नहीं की। मुझे लगता है कि ख़ाँ साहब के इस आत्मसम्मान की मानसिकता के चलते भी उन्हें सरकार का ख़ामियाज़ा भुगतना पड़ा। मसलन एक सप्ताह तक अपने निवास और बनारस के हेरिटेज अस्पताल में मृत्युशय्या पर पड़े रहने के बावजूद किसी भी सरकार द्वारा उनके बेहतर इलाज का बंदोबस्त कराना लाज़िमी नहीं समझा गया, जबकि एक प्राइवेट अस्पताल ने उनकी निःशुल्क चिकित्सा का प्रस्ताव दिया था। कहना नहीं

होगा कि ख़ाँ साहब के देहावसान के बाद कई सरकारों द्वारा घड़ियाली आँसू बहाए गए। आपने देखा नहीं कि उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव ने जहाँ स्व॰ ख़ाँ की याद में एक करोड़ रुपए की लागत से एक संगीत अकादमी के गठन और पाँच लाख रुपए का एक संगीत पुरस्कार देने की घोषणा की, वहीं बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार को भी ख़ाँ साहब की मौत के बाद यह याद आई कि उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ बिहार के ही निवासी थे और अफ़रातफ़री में श्री कुमार ने भी उनके पैतृक गाँव डुमरांव में उनकी आदमक़द प्रतिमा स्थापित करने की घोषणा के साथ-साथ उनकी स्मृति में संगीत पुरस्कार देने की बात कह डाली।

'विचार दृष्टि' के उप संपादक डॉ॰ शाहिद जमील से इस मसले और श्री ख़ाँ की चिकित्सा के मामले में सरकार की उदासीनता पर जब मेरी बात-चीत हो रही थी, तो उन्होंने शाद अज़ीमाबादी और उनके पौत्र बहज़ाद फ़ातमी के एक-एक शेर सुनाए, जिसे इस संदर्भ में यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन होगा -

पर्दापोशाने वतन तुझसे ये भी न हुआ
एक चादर को तरसती रही तुर्बत मेरी

बहज़ाद फ़ातमी के शेर को भी देखें-

ज़िंदा रहा बहज़ाद तो पूछा न किसी ने
सुनते हैं मर जाने पे कुहराम बहुत है

सचमुच उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ के देहावसान के बाद इलेक्ट्रॉनिक तथा प्रिंट मीडिया सहित सरकारों में जितने कुहराम मचे उससे तो आप सभी वाक़िफ़ हैं ही। केंद्र सरकार द्वारा सन् 1961 ई॰ में पद्मश्री, 1968 ई॰ में पद्मभूषण, 1980 ई॰ में पद्मविभूषण तथा 2001 ई॰ में भारतरत्न से सम्मानित करने के अतिरिक्त संगीत से संबंधित प्रायः सभी प्रतिष्ठित सम्मान एवं पुरस्कार से नवाज़े गए शहनाई के इस शहंशाह की जब यह उपेक्षा हो सकती है, तो फिर अन्य पुरस्कृत एवं सम्मानित महानुभावों की क्या बिसात! हालांकि वाराणसी की मिट्टी की सोंधी गँध उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ की धमनियों में लहू बनकर कुछ इस तरह दौड़ रही थी कि अपने आख़िरी वक़्त में भी कहीं और जाकर इलाज कराने की बजाय बनारस में ही उन्होंने रहना पसंद किया, जबकि उत्तर प्रदेश के राज्यपाल चाहते थे कि उनका इलाज लखनऊ में जाकर बेहतरीन तरीक़े से ही हो।

क़रीब चौदह साल पहले अपनी पत्नी के निधन के बाद से ही उस्ताद श्री ख़ाँ अपनी शहनाई को तकिए के नीचे रखते थे और उसे ही अपनी पत्नी मानते थे। इससे उन्हें राग और संगीत के बारे में सोचने का जज़्बा मिलता था। पाँच वक़्ती नमाज़ी मुसलमान होने के बावजूद ख़ाँ साहब संगीत की देवी सरस्वती के भी अराधक थे। उन्होंने कोई घराना नहीं बनाया। उन्हें जब भी समय मिलता वे बच्चों को पढ़ाते थे। उनके छः बेटे थे, जिनमें से एक नाज़िम तबला बजाते हैं। ख़ाँ साहब दो भाई थे। बड़े का नाम शमसुद्दीन और स्वयं कमरूद्दीन थे जो बाद में बिस्मिल्ला हो गए और आज वे सचमुच बिस्मिल्लाह हो गए। मिट्टी से पहले जब उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ की देह सुकून की तरह भींग रही थी खुले आसमान में सुर घुल रहे थे अगली दुनिया की तैयारी में और उस्ताद जैसे कह रहे हों, "सुरों से मेरा साथ कभी नहीं छूटा, कभी नहीं छूटेगा, मैं रहूँ या न रहूँ। साँस की डोर देह से टूटती है, तो जाकर खुदा से जुड़ जाती है। इसी एक सुर की तलाश में ताउम्र जीता रहा हूँ मैं।"

वैसे सच कहा जाए तो कलाकार की मौत नहीं होती, क्योंकि अपनी कीर्ति के ज़रिए वे लोगों के दिलोदिमाग़ में ज़िंदा रहते हैं। उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ भी अपनी शहनाईवादन कला के साथ हमेशा ज़िंदा रहेंगे और वे हमेशा ही एक महान कलाकार के रूप में याद किए जाते रहेंगे। भारतीय इतिहास में अपने अविस्मरणीय, अतुलनीय, अकथनीय अवदानों की वजह से उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा और उनकी शहनाई के सुर हमारे कानों में गूँजते रहेंगे। वास्तव में उस्ताद ख़ाँ ने देश की धरती की मिट्टी से उठने वाली सांस्कृतिक सुगंध को अपनी शहनाई में बसा लिया था, जिसकी खुशबू ऐसी थी जिसमें वे पले-बढ़े और ज़िंदगी का सफ़र तय करते रहे। उनके सुरों में मानव जीवन हँसता-चहकता, सिसकता, संघर्ष करता हुआ सच की खोज करता हुआ सुनाई पड़ता है। उनकी शहनाई के सुर एक अलग स्वाद और स्वभाव रखते हैं, जो अपनी ओर आकर्षित और प्रभावित करते रहे। उनकी शहनाई की मीठी और ऊँचाई लिए अलाप से रोयें सिहर उठते थे। दरअसल उनके सुरों में हिंदुस्तान की मिट्टी रच-बस गई थी। लोकप्रियता और प्रसिद्धि के चरमोत्कर्ष पर पहुँचे उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ 20 अगस्त, 2006 को चलते-चलते यह कहते गए ;

अब तुमसे विदा लेता हूँ, आओ संभालो मेरी साज
नये तराने छेड़ो मेरे सुरों को नींद आती है

नौशाद अली :

जो साझा संस्कृति के प्रतीक थे

ज़िंदगी और मौत दो बड़ी हक़ीक़तें हैं। जो आता है, वह जाता है, लेकिन आने और जाने के बीच जो रास्ता है, वो कोई किस तरह से तय करता है, इसका महत्त्व होता है। माँ की गोद से क़ब्र के आग़ोश तक एक रास्ता है, जो हर कोई अपनी-अपनी तरह से तय करता है। संगीत के जादूगर नौशाद अली ने आने और जाने के बीच जो रास्ता तय किया वह इतना महत्त्वपूर्ण रहा कि देश की जनता के ज़ेहन में वे अपने संगीत के लिए सदैव याद किए जाएँगे। इसीलिए तो किसी शायर ने कहा है-

बागवॉ बाँध के कश्ती को किनारे पे रखो
एक न एक रोज़ तो होना है रवाना साहब

दरअसल नौशाद साहब ने हाल तक 'फिर आज की आँखों से गुज़रा हुआ कल' देखने की कोशिश की, गोया मरते दम तक शास्त्रीय संगीत को इज़्ज़त बख़्शने की वकालत की, सिफ़ारिश की। उनकी शास्त्रीयाना पेशकश भी इतिहास बन जाती है, क्योंकि वे कह उठती हैं, 'हाँ, मैं नौशाद साहब की देन हूँ।' उनका हर आम-ख़ास गीत, भजन, ग़ज़ल कुछ न कुछ ऐसी ख़ुसूसियत लिए होता है मानो कह रहा हो, 'मैं नौशाद साहब का जाया हुआ हूँ।' फ़िल्मी संगीत में उनके अनेकानेक प्रयोग जगज़ाहिर हैं। 'जादू', 'गंवार' या 'साथी' जैसी फ़िल्मों में माँग के मुताबिक़ पश्चिमी प्रतिरूप देते हुए भी हिंदुस्तानियत बरक़रार रखी। नौशाद साहब के संगीत में जो भारतीयता का रंग भरा था और उनमें भारत की जो मिली-जुली संस्कृति भरी थी, उससे उनकी राष्ट्रीयता की भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। आज के दौर में राष्ट्रीयता जिस प्रकार सीमा, भाषा, जाति, वर्ण, वर्ग, क्षेत्रीयता और मज़हबी हितों की मुहताज हो रही और लोग जिस प्रकार सिद्धांतों से समझौता कर रहे हैं, ऐसे वक़्त नौशाद साहब को हम इसलिए भी याद कर रहे हैं कि भारतीयता और भारतीय परंपरा से उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। आज तो मज़हब के नाम पर इंसान अपनी इंसानियत तक को खोने से बाज़ नहीं आ पा रहा है। आख़िर तभी तो सुप्रसिद्ध गीतकार गोपालदास 'नीरज' ने फ़रमाया -

अब तो मज़हब कोई ऐसा भी चलाया जाए
जिसमें इंसान को इंसान बनाया जाए

आग बहती है यहाँ गंगा में भी, झेलम में भी
कोई बतलाए कहाँ जा के नहाया जाए

पारंपरिक भारतीय संगीत के साथ कोई समझौता न करने वाले संगीत के सरताज नौशाद साहब वास्तव में गंगा-जमुनी तहज़ीब यानी देश की मिश्रित संस्कृति के प्रतीक थे, जिन्होंने भारतीय फ़िल्मों के 67 फ़िल्मों में संगीत देकर प्रसिद्धि दिलाई। पहली फ़िल्म 'प्रेमनगर' से हालिया फ़िल्म 'ताजमहल' तक उनके जीवन में अनेक यादगार लम्हे आए। नौशाद साहब ने प्रतिदिन की ज़िंदगी को गंगा-जमुनी तहज़ीब में जितना जीया, उतना ही दिया भी। वह भारतीय संगीत में पश्चिमी मिलावट से काफ़ी दुखी थे, क्योंकि वे अपनी जड़ों से कभी भी अलग नहीं होना चाहते थे।

नौशाद साहब के संगीत में परंपरागत साज़ोसामान के साथ-साथ ब्रज, अवधी और पंजाब की सोंधी गँध घुली-मिली रही। फ़िल्म संगीत में कोरस को भी क़व्वाली की तरह उन्होंने स्थापित किया। संगीत के आला दर्जे के हुनरमंद नौशाद साहब खुद शायराना दिल भी रखते रहे और उनका दीवान भी हिंदी, उर्दू और अँग्रेज़ी ज़ुबानों में आ चुका है। आज के संगीतकार जहाँ दस मिनट में ही धुनें बना डालते हैं, वहीं नौशाद साहब को कभी-कभी कोई धुन बनाने के लिए महीनों लग जाते थे। उनका ओढ़ना-बिछौना-खाना सब संगीत था। कभी-कभी धुन उन्हें जगा देती और रात में ही हार्मोनियम लेकर उसे तराशने बैठ जाते। ऐसी ही किसी आधी रात को जिस धुन ने उनकी नींद उड़ाई 'वह आवाज़ दे कहाँ है, दुनिया मेरी जवाँ है' के रूप में आज भी हमारे दिलों में बसे हैं। मन की फ़ेहरिस्त में उनके यादगार गीत आज भी उतरते चले जाते हैं और कई हिट फ़िल्मों के सदाबहार गीतों के तराने यथा- ग़म दिए मुस्तक़िल ..., ये ज़िंदगी के मेले ..., मोहे पनघट पे नंदलाल छेड़ गयो ..., दिल का सलाम ले जा ..., जब प्यार किया तो डरना क्या ..., आदि मुखरे के बोल को लोग आज भी गुनगुनाने लगते हैं।

फ़िल्म 'मुग़ले आज़म' के गीत 'जिंदाबाद ज़िंदाबाद, ऐ मुहब्बत ज़िंदाबाद ...' में नौशाद साहब ने पहली बार सौ से ज़्यादा कोरस गायकों का इस्तेमाल किया। यह नौशाद साहब की सर्वश्रेष्ठ धुनों में से एक मानी जाती है। फ़िल्म के बाक़ी गीत भी जनता ने ख़ूब पसंद किए, लेकिन जब पुरस्कारों का वक़्त आया, तो निर्णायकों ने 'मुग़ले आज़म' को सिर्फ़ इसलिए वोट नहीं दिया कि उसे फ़िल्म का संगीत क्लासिकल ज़्यादा लगा फ़िल्मी कम। सच

कहा जाए, तो वे इन गीतों में संगीत का जादू इस तरह बिखेरते रहे कि ज़माना मंत्रमुग्ध हो कर सुनता रहा।

सुरों के जादूगर नौशाद साहब का पिछले 05 मई, 2006 ई० को दिल का दौरा पड़ने से मुंबई में निधन हो गया। ज़िंदगी के 87 वसंत देख चुके नौशाद साहब को संगीत के क्षेत्र में अप्रतिम योगदान के लिए 1982 ई० में 'दादा साहब फ़ाल्के पुरस्कार', 'संगीत अकादमी पुरस्कार', 'अमीर खुसरो पुरस्कार', मध्यप्रदेश सरकार का 'लतामंगेशकर अवार्ड' और 1991 ई० के 'पद्मभूषण' सम्मान से नवाज़ा गया। अपनी तहज़ीब, नफ़ासत और नज़ाकत के लिए मशहूर नवाबों के शहर लखनऊ में 25 नवंबर सन् 1919 ई० में जन्मे नौशाद अली सन् 1930 ई० में अपने घर-परिवार छोड़कर भारतीय संगीत में अपनी क़िस्मत आज़माने के लिए मुंबई आ गए। चार दशक से भी ज़्यादा पुरानी और भारतीय सिनेमा के फ़िल्मों में उन्होंने संगीत दिया, जो मील का पत्थर साबित हुआ। नौशाद साहब का ही कमाल था कि 'मुग़ले आज़म' में बड़े गुलाम अली ख़ाँ ने भी गाना गाया।

नौशाद साहब उस पीढ़ी के प्रतिनिधि थे, जिन्होंने भारतीय संगीत की बुनियाद ही नहीं डाली, बल्कि उसका स्वर्णयुग भी रचा। उनकी लोकप्रियता का यह भी राज़ था कि शास्त्रीय होते हुए उनके संगीत में पूरब के लोकसंगीत का गहरा प्रभाव है। फ़िल्मों में संगीत देने के अलावा नौशाद साहब ने 'बाबूल' और 'उड़नखटोला' जैसी फ़िल्में भी बनाईं। उन्होंने राजेन्द्र कुमार और वहीदा रहमान अभिनीत 'पालकी' की पटकथा भी लिखी थी। बतौर संगीतकार उनकी अंतिम फ़िल्म अकबर ख़ान निर्मित 'ताजमहल' एक प्रेम कहानी थी, जिसे हाल ही में पाकिस्तान में रिलीज़ किया गया। मानवीय गुणों और भारतीय संगीत के प्रति प्रेम की भावना के कारण फिल्म उद्योग में उनको बहुत सम्मान प्राप्त था। भारत के महान संगीतकारों की पंक्ति में शामिल नौशाद साहब की संगीत- -रचनाएँ हर लेहाज़ से देश की धर्मनिरपेक्ष एवं बहुसांस्कृतिक विरासत की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति हैं। भजन तो स्पष्ट रूप से नौशाद साहब की धार्मिक संकीर्णता से परे आध्यात्मिक चेतना को व्यक्त करते हैं। उन्होंने अपने लंबे और यशस्वी जीवन में शास्त्रीय संगीत के व्याकरण को लेकर कभी समझौता नहीं किया। नौशाद साहब की बातें, उनका संगीत और उनकी जीवन-शैली में आज़ादी के पहले के उस नौजवान के सपनों को देखा जा सकता है, जो अपने समाज के लिए प्रतिबद्ध था।

सुर साम्राज्ञी लता मंगेशकर को नौशाद साहब ने ताउम्र बड़े भाई का

प्यार दिया। नौशाद साहब मराठी नहीं जानते थे फिर भी वह लता जी से कभी-कभी मराठी के दो-चार शब्द कहते थे। नौशाद साहब आज हमारे बीच नहीं हैं, मगर 'उठाए जा उनके सितम' व 'सुहानी रात ढल चुकी' जैसे गीतों में वह आज भी ज़िंदा हैं।

सुरैया, उमादेवी (टुनटुन), शमशाद बेगम, महेन्द्र कपूर के अलावा लता मंगेशकर और मोहम्मद रफ़ी को भी नौशाद साहब ने ही बाक़ायदा फ़िल्मों में परिचय कराया। दरअसल नौशाद साहब संगीतकार तो बाद में हैं, इससे पहले एक जज़्बे का नाम हैं, ज़िद का नाम है, एक कूवत का नाम है, उसूलपरस्त, कुलीन इंसान और मोहब्बत के पैगम्बर का नाम हैं। लखनऊ के राज मुंशी परिवार में क्रिसमस की बड़ी देन के रूप में जन्मे नौशाद को यदि बचपन से ही संगीत की तरफ़ कुदरती रुझान न होता, तो भीतर के बड़े संगीतकार को महज़ 40 रुपये प्रति माह की नौकरी से समझौता न किया जाता और फिर कहाँ से मिलता हमें हिंदुस्तानियत पर फ़ख्र करने वाला नौशाद। दादर की जिस दुकान पर वे नौकरी करते थे, देर हो जाने पर उसी की सीढ़ियों पर सोने की इजाज़त उन्हें दे दी गई थी, जहाँ से वे सामने पसरी ब्रॉडवे टॉकीज की चकाचौंध को निहारते रहते। फिर जब इसी में 'बैजूबावरा' फ़िल्म लगी तो चुपचाप भीड़ में खड़े लोगों की प्रतिक्रिया जानने की वे कोशिश करते और फ़िर इसी फ़िल्म के रजत जयंती समारोह के लिए वे ब्रॉडवे टॉकीज आए, तो मध्यांतर के दौरान बालकनी के सामने की उन सीढ़ियों को देख वे फूट-फूटकर रोने लगे। 'बैजूबावरा' के नायक भारतभूषण और नायिका मीना कुमारी के साथ निर्माता विजयभट्ट ने अचानक उन्हें रोते देख पूछा- "नौशाद साहब आप रो रहे हैं?" नौशाद ने कहा, "उस छोर से इस छोर क्रॉस कर पहुँचने में मुझे सोलह साल लग गए इसलिए आँखें छलक आईं।" संगीत के अतिरिक्त नौशाद साहब को शिकार, बैडमिंटन, लिखने-पढ़ने और मछली मारने का शौक़ था। नौशाद साहब ने जो मुक़ाम हिंदी फ़िल्मों में हासिल किया लगभग वही मुक़ाम पाकिस्तानी फ़िल्मों में भी हासिल किया। तुर्रा ये कि अपनी प्रतिक्रिया रखते हुए ठुमरी और ग़ज़ल गायक गुलाम अली भी नौशाद साहब को टी॰वी॰ पत्रकार की तरह 'नाशाद' ही कहते रहे, मगर मोहम्मद रफ़ी नौशाद साहब को मानते रहे और कहते रहे- "साज हो तुम आवाज़ हूँ मैं।" आज जब साज़ और आवाज़ दोनों हमारे बीच नहीं रहे तो नौशाद साहब के प्रति हम श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं इस पंक्ति से-

"ओ जाने वाले हो सके तो फिर लौट के आना।"

गीतकार शैलेन्द्र :

जो आज भी ज़िंदा हैं संघर्षशील जीवन में

फ़िल्मी दुनिया के लिए कालजयी गीत लिखने वाले शैलेन्द्र ने हिंदी फ़िल्मों के लगभग 800 गीत लिखे। ये शैलेन्द्र ही थे, जिन्होंने संघर्षशीलों के लिए 'हर जोरजुल्म के टक्कर में संघर्ष हमारा नारा है' का नारा दिया। यह हमारा दीवानापन है, सब कुछ सीखा हमने, मैं गाऊँ तुम सो जाओ जैसे गीतों से फ़िल्मों को लोकप्रिय बनाया उन्होंने और स्वयं फ़िल्म फेयर पुरस्कार से नवाज़े गए। शैलेन्द्र की फ़िल्म 'तीसरी क़सम' भी 1966 ई॰ में राष्ट्रपति के स्वर्ण पदक से सम्मानित हो चुकी है। 'तीसरी क़सम' बसु भट्टाचार्य निर्देशित तमाम फ़िल्मों में सबसे अलग है। उसे कोई शैलेन्द्र जैसा कवि हृदय ही रच सकता था। राजकपूर 'तीसरी क़सम' में इसलिए हैं, क्योंकि वे शैलेन्द्र के सपनों के 'हीरामन' हैं। 'तीसरी क़सम' की पटकथा, मूल कहानी 'मारे गए गुलफ़ाम उर्फ़ तीसरी क़सम' के लेखक फणीश्वर नाथ रेणु ने स्वयं तैयार की थी। सच तो यह है कि कहानी का रेशा-रेशा उसकी छोटी से छोटी बारीकियों सच्चाई और ईमानदारी से उभरीं। हिंदी में आजतक किसी लेखक ने अपनी कृति के फिल्माँकन की इस तरह सराहना नहीं की जिस तरह रेणु ने ...। रेणु की तरह कोई दूसरा हिंदी लेखक अपनी कृति के सिनेमाई रूपांतरण से अभिभूत नहीं हुआ। 'तीसरी क़सम' रेणु और शैलेन्द्र की समवेत सार्थकता बनी। दोनों को रचनात्मक संतोष दिया। तब ही रेणु ने समर्पण के शब्द लिखे स्वर्गीय शैलेन्द्र को ____ वे सिनेमा द्वारा साहित्य की आराधना किए जाने की सराहना के भागीदार हैं जिनकी याद ज़िंदगी भर आती रहेगी। जब कहीं कोई 'सजनवा बैरी' गाएगा अथवा 'सजन रे झूठ मत बोलो', 'काहे को दे दी जुदाई' गीतकार शैलेन्द्र की याद स्मृति-पटल पर रेखांकित हो जाएगी। 'तीसरी क़सम' के लिए शैलेन्द्र द्वारा लिखे गए गीत ज़िंदगी के गीत सिद्ध हुए। निश्चित ही फ़िल्म माध्यम की यह विडंबना है कि अपना माल बेचने की कला में पारंगत हुए बग़ैर फ़िल्मी दुनिया में टिक पाना नामुमकिन है। शैलेन्द्र इसी मुक़ाम पर हार गए। 'तीसरी क़सम' असफल हुई। वह ठीक तरह से प्रदर्शित ही न हो सकी। 'पर तीसरी क़सम' आज हिंदी सिनेमा में एक शिलालेख है।

शैलेन्द्र की बाबा. नागार्जुन और फणीश्वर नाथ रेणु से गहरी मित्रता थी, क्योंकि तीनों हिंदी कविता के अध्येता तो थे ही, रसिक भी।दरअसल यह

रस उनके गीतों में मथुरा की गलियों ने घोला था, जहाँ आरंभिक कैशोर्य गुज़रा था। वे सिनेमा की गीतों को साहित्यिक सौंदर्य की परिधि तक ही नहीं ले आए, बल्कि केंद्रीय संस्पर्श की झंकृतियों की अनुगूँज का विलझण संसार भी प्रदीप्त किया। 'तू प्यार का सागर है, तेरी इक बुँद के प्यासे हम ..., मैं नदियी फिर भी प्यासी, भेद ये गहरा बात ज़रा-सी ...' थम गया पानी जम गई काई, बहती नदिया ही साफ़ कहलाई ... आदि गीतों को लोग आज गुनगुनाते हैं। सिनेमा में अपनी 'सितारा गीतकार' हैसियत बनाए रखने के लिए कभी किसी तुर्रम ख़ाँ से भी समझौता नहीं किया। शैलेन्द्र केवल राजकपूर के ही प्रिय नहीं थे, बल्कि विमल राय, अमित चक्रर्ती, विजय आनंद, हृषीकेष मुखर्जी जैसे अप्रतिम फ़िल्मकारों के भी वे अतिप्रिय थे। विमल राय की अधिकांश फ़िल्मों के गीत शैलेन्द्र ने लिखे। उनकी फ़िल्म 'परख' के लिए शैलेन्द्र का लिखा गीत आज भी बहुतों के मन में रचा-बसा है - 'ओ सजना, बरखा बहार आई, रस की फुहार लाई, अँखियों में प्यार लाई, ओ सजना ...'।

शैलेन्द्र शब्दों को सांगीतिक स्थापना के द्वारा प्रतिनिधित्व देते थे। बिल्कुल सहज और मानो ठीक कविवर भवानी प्रसाद मिश्र के शब्दों को प्रत्यक्ष करते हुए - जिस तरह मैं बोलता हूँ। उसी तरह तू लिख। और उसके बाद भी, मुझसे बड़ा तू दिख। इसीलिए फ़िल्म के गीतों में शैलेन्द्र कुछ इस तरह भी अपनी उपस्थिति दर्ज करा गए -

चूल्हा है ठंडा पड़ा हुआ
और पेट में आग है
गर्मागरम रोटियाँ-कितना हसीं ख़्वाब है।

शैलेन्द्र के एक और गीत की इन पंक्तियों को आप देखें -

अब कहाँ जाएँ हम ये बता ए ज़मीं
इस जहाँ में तो कोई हमारा नहीं
अपने साए से भी लोग डरने लगे
अब किसी को किसी पर भरोसा नहीं।

इसी प्रकार यह गीत आज चार दशक बाद भी मानक बना हुआ है -

'हम मिट चले, जिनके लिए
बिना कुछ कहे वो चुपचुप रहे
कोई ज़रा ये उनसे कहे
न ऐसे आज़माओ।'

आँसुओं में क़हक़हों की शोख़ी घोलने वाले शैलेन्द्र एक बार ये भी कह गए –

ज़ख़्मों से भरा सीना है मेरा,
हँसती है मगर ये मस्त नज़र। (आवारा)

वे बार-बार कहते हैं –

फटे कलेजा गाओ गीत
दु:ख सहने की है यह रीति। (तीसरी क़सम)

इसी प्रकार उन्होंने लिखा –

क्यों कहते हो प्यार किया था,
कह दो किसी से दर्द लिया था।

राजकपूर ने अपने दोस्त शैलेन्द्र को 'कविराज' की उपाधि दी थी।उस विशेषण को शैलेन्द्र ने सार्थक किया। राजकपूर कहते हैं –

'कवि थे, असली कविराज,
हम जिस क़िस्से कहानी को
सालों-साल में गढ़ पाते
वो उसकी रूह को दो लाइनों में उकेर कर
दो मिनट में सिगरेट की डब्बी पर
लिखकर हमारे सामने फेंक देते थे।'

यह शैलेन्द्र की ख़ास अदा थी- गीत का मुखड़ा लिखने की। निर्माता-निर्देशक या संगीतकार ने गीत की सिच्यूएशन बताई नहीं कि उन्होंने आनन-फ़ानन में सिगरेट की डिब्बी पर गीत की दो पंक्तियाँ लिखकर रख दी।

किशोर वय से यौवन में पहला क़दम रखते ही शैलेन्द्र काव्य-जगत में गहरे उतर गए थे। महज़ उन्नीस-बीस की उम्र में उनकी रचनाएँ काव्य-रसिकों के हृदय में अपना ख़ास स्थान बनाने लगी थीं। विचारधारा से वामपंथी शैलेन्द्र की कविताएँ 'हंस' और 'जनयुग' जैसी प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के साथ ही कवि के मंचों पर श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध करने लगी थीं। सन् 1943 से 1950 ई० के बीच शैलेन्द्र हिंदी काव्य-संसार में पूरी तन्मयता के साथ सक्रिय रहे। अपनी प्रगतिशील विचारधारा और जीवन शैली ज़िदिक पाकर भो शैलेन्द्र इंडियन पिपुल्स थियेटर एसोशियेशन (इप्टा) को गायक मंडली में शामिल हो गए थे। शीघ्र ही इस मंडली के सर्वप्रमुख स्वंय ही हो गए। उनकी

प्रतिभा ने उनके लिए स्वत: मार्ग बना दिया। शैलेन्द्र के नेतृत्व में भीष्म साहनी ने भी गायन मंडली में शामिल होकर इप्टा के मंचों से गीतों की प्रस्तुतियां की थी। सच कहा जाए, तो सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों की जड़ तक जाकर निर्द्वंद्व विचार अपने गीतों में प्रस्तुत करने की अद्‌भुत क्षमता ने शैलेन्द्र को पाठकों और श्रोताओं में बेहद लोकप्रिय बना दिया। सांप्रदायिक एकजुटता, मज़दूर-किसानों का संघर्ष, देशप्रेम, समानता की भावना, शोषक समुदाय की स्पष्ट पहचान और शोषित समाज से गहरे लगाव से अद्‌भुत सकर्मक आक्रोश उनके काव्य के ख़ास उपादान हैं। शैलेन्द्र सन् 1949 ई० में लिखी गई अपनी कविता 'अंदर की यह आग' में आज़ादी के ढोल की पोल उजागर करते हुए लिखते हैं -

वही नवाब, वही राजे, कोहराम वही है,
पदवी बदल गई, किंतु निज़ाम वही है।
थका हुआ मज़दूर वही, दहकान वही है,
कहने को भारत, पर हिंदुस्तान वही है।

शैलेन्द्र जी का निश्चित मत था कि हमारी आज़ादी जनता के सपनों को साकार करने में असमर्थ है। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि गोरों की जगह काले शासक बन गए हैं, पर रीति-नीति वही है। शैलेन्द्र जी की स्पष्ट धारणा थी कि बग़ैर सामाजिक क्रांति के वास्तविक आज़ादी संभव नहीं है। वे इसे 'कोरी आज़ादी' कहते थे, जिसमें ब्रिटिश सरकार की ही भाँति सेठों और शासकों की मिलीभगत से निरीह जनता का शोषण अनवरत जारी है -

तुम सेठों के संग पेट जनता का काटो,
तिस पर आज़ादी की सौ-सौ बातें छांटो,
हमें न छल पाएगी ये कोरी आज़ादी।

आज़ादी से पूर्व जब शैलेन्द्र मात्र चौबीस वर्ष के थे न केवल जनगीत लिखे, बल्कि इप्टा के गान-जत्थों के माध्यम से इन्होंने नुक्कड़ों पर भी गाया। आख़िर तभी तो एक सम्मान-समारोह में कथाकार भीष्म साहनी ने कहा कि शैलेन्द्र के जनगीतों को याद कर आज भी तन-बदन में एक लहर-सी दौड़ जाती है। अन्याय और उत्पीड़न की ताक़तों को जिन जनगीतों ने चुनौतियाँ दीं, उन गीतों में ललकार के स्वर साफ़ सुनाई देते हैं। एक ख़ास अवसर पर शैलेन्द्र के जनगीतों के मुखड़े सुनाते हुए हर्ष आनंद ने कहा था कि उनके गीतों ने न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लिए आवाज़ बुलंद की। शैलेन्द्र का यह जनगीत अँग्रेज़ी सरकार पर करारा व्यंग्य है -

हमारी बगिया में आग लगा गया गोरा परदेशी,
आई मौत देख घबरा गया गोरा परदेशी।

शैलेन्द्र भारत छोड़ो आंदोलन में कई बार जेल भी गए और अपनी रेलवे की नौकरी ट्रेडयूनियन गतिविधि में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने के कारण गंवाई थी। 'आवारा' के लिए लिखे शैलेन्द्र की इन पंक्तियों से मैं उनकी स्मृति को सलाम करता हूँ, क्योंकि वह फ़िल्म दुनिया में अब तक की सबसे अधिक देखी जाने वाली बेहद लाकेप्रिय फ़िल्म रही और जिसने सारे देशों में धूम मचा दी -

आवारा हूँ या गर्दिश में हूँ
आसमान का तारा हूँ
घरबार नहीं संसार नहीं
मुझसे किसी को प्यार नहीं
उस पार किसी से मिलने का
मुझसे कोई इसरार नहीं
अनजान डगर सुनसान डगर का
मारा हूँ / आवारा हूँ।

❖❖❖

मनोहर श्याम जोशी :

जिन्होंने धारावाहिक लिखकर अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया

दूरदर्शन धारावाहिकों के जनक मनोहर श्याम जोशी ने 'हमलोग' और 'बुनियाद' जैसे धारावाहिक लिखकर जहाँ देश में टी॰वी॰ की दुनिया में क्रांति ला दी, वहीं 'कक्का जी कहिन', 'मुंगेरीलाल के हसीन सपने', 'हमराही', 'ज़मीन आसमान' और 'गाथा' जैसे धारावाहिक लिखकर उन्होंन अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया। वर्ष 2006 ई॰ में 'क्याप' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित मनोहर श्याम जोशी हिंदी के उन चंद लेखकों में थे, जिन्होंने न केवल गद्य को एक विशिष्ट पहचान दी, बल्कि भाषा को एक नया मुहावरा दिया और साहित्य को मीडिया तक पहुँचाया। प्रेमचंद और जैनेन्द्र कुमार के बाद हिंदी उपन्यास में जितना बदलाव जोशी ने किया, वह अभूतपूर्व माना जाएगा। धारावाहिकों के भीष्मपितामह जोशी एक ऐसे लेखक थे जिन्होंने अपने लेखन से यह सिद्ध किया था कि साहित्य में विषय जितना महत्त्व रखता है, उससे ज़्यादा भाषा का प्रयोगात्मक इस्तेमाल महत्त्वपूर्ण होता है। भाषा पर उनकी पकड़ अनेक लेखकों से कहीं अधिक थी। यही कारण है कि इस बहुमुखी साहित्यकार ने जितनी सफलता सिनेमा में पाई उतनी ही साहित्य में भी। मीडिया में रहते हुए भी तमाम उम्र उन्होंने शब्दों का आदर किया और भाषा का अनादर होने से बचाया। उनमें मौलिक प्रतिभा छिपी थी। धारावाहिकों के ज़रिए उन्होंने भारत के विभाजन और विभाजन से हुए ज़ख़्मों से बने नासूरों को दिखाने का प्रयास किया। जोशी जी सेंस ऑफ ह्यूमर की मिसाल थे। 'नेता जी कहिन' और फिर ' कक्का जी कहिन' में इनकी प्रतिभा खुलकर सामने आई, जिसे देखकर दर्शक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। दिल्ली के विचार प्रतिनिधि उदय कुमार 'राज़' ने अपने एक रिपोर्ट में लिखा था कि व्यंग्य-विनोद के यशस्वी रचनाकार स्व॰ गोपाल प्रसाद व्यास की जयंती के उपलक्ष्य में विगत 13 फरवरी, 2006 को नई दिल्ली के हिंदी भवन में आयोजित 'व्यंग्यश्री' सम्मान समारोह की अध्यक्षता करते हुए मनोहर श्याम जोशी ने कहा था कि आज जो परिस्थितियाँ हैं हास्य से ज़्यादा व्यंग्य की माँग करती हैं। व्यंग्य-विनोद उनके व्यक्तित्व एवं लेखन की ख़ास विशिष्टता थी। उनके व्यक्तित्व का अंदाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि जब भी वे दोस्तों के बीच में रहते थे वे यह भूल जाते थे कि वह महान लेखक

हैं। आम जन की तरह मिलना-जुलना उनके व्यक्तित्व की निशानी थी।

कथा साहित्य के जानेमाने हस्ताक्षर मनोहर श्याम जोशी का 73 वर्ष की उम्र में 30 मार्च, 2006 ई॰ को दिल्ली में दिल का दौरा पड़ने से निधन हो गया। 9 अगस्त, 1933 ई॰ को अजमेर में जन्मे जोशी मूल रूप से अलमोड़ा ज़िले के खोलागाँव के रहने वाले थे। सपना तो देखा था वैज्ञानिक बनने का, लेकिन वामपंथी राजनीति से प्रभावित होकर छात्र राजनीति में वे सक्रिय हो गए। लखनऊ विश्वविद्यालय में 'भावी वैज्ञानिक' की उपाधि भी उन्हें मिली, पर वे बन गए साहित्यकार। शायद आर्थिक तंगी को इसका कारण माना जा सकता है। सन् 1952 ई॰ में कुछ दिनों तक उन्होंने अध्यापन का कार्य किया, फिर दिल्ली आकर वे आकाशवाणी में उप संपादक बने। कुछ दिनों तक मुंबई के फ़िल्म डिवीज़न में भी उन्होंने नौकरी की। सन् 1963 ई॰ में वह 'दिनमान' में सहायक संपादक और सन् 1968 ई॰ में 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' तथा सन् 1975 ई॰ में 'हिंदुस्तान टाइम्स' 'वीकेंड रिव्यू' के वह संपादक बने। फिर सन् 1984 ई॰ में 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' की नौकरी छोड़ने के बाद जोशी जी ने स्वतंत्र रूप से लेखन प्रारंभ किया। लेखन का यही चलन आगे चलकर उनका प्रोफेशन बन गया। उनकी एक पुस्तक के आवरण में सही ही लिखा गया है, "विपुल स्कूल मास्टरी, कलर्की व बेरोज़गारी का अनुभव बटोरने के बाद वे 21 वें वर्ष में वे पूर्णतः लेखक बन गए।" जिस प्रकार व्यंग्य लेखन में जोशी जी ने अपनी गहरी पहचान बनाई उसी प्रकार हिंदी गद्य में भी उन्होंने अपनी निजी शैली विकसित की। यही नहीं, 'कुकरु कुरु स्वाहा', 'कसप' और 'क्या' जैसे उपन्यास लिखकर उन्होंने अपने सशक्त लेखन का परिचय दिया। उनकी अन्य पुस्तकों में 'हरिया हरक्यूलिस की हैरानी', 'बातों बातों में', 'मंदिर घाट की पौड़ियाँ' और 'टा टा प्रोफेसर' शामिल हैं। उनके पाँच उपन्यास, तीन कहानी-संग्रह, दो व्यंग्य-संग्रह और दो संस्मरणात्मक-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उन्होंने हिंदी सिनेमा में 'हे राम', 'अप्पू राजा', 'पापा कहते हैं' और 'भ्रष्टाचार' जैसी बेहतरीन फ़िल्में दीं।

जोशी जी हिंदी के अकेले और विरल ऐसे कथाकार थे, जिन्होंने गंभीर कथा साहित्य, पत्रकारिता तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के बीच इतना सघन और सार्थक संबंध स्थापित किया। साहित्यकार कृष्ण नारायण कक्कड़ के अभिन्न मित्र जोशी जी के मन में अमृत लाल नागर के प्रति अगाध सम्मान था, जिन्हें वे अपना गुरु मानते थे। संस्मरणों की पुस्तक 'लखनऊ मेरा लखनऊ' में वे लिखते हैं, "भाषा का ज्ञान मैंने नागर जी स सीखा।" विचारधारा से साम्यवादी होते हुए भी जोशी जी अपनी भक्तिमागी पत्नी के विचारों का

बहुत आदर करते थे।

यूँ तो जोशी जी के जीवन का अधिकतर हिस्सा दिल्ली में बीता, किंतु धारावाहिक और फ़िल्मों के लिए लिखने के कारण उनका मुंबई से निरंतर जुड़ाव था फिर भी वे याद लखनऊ को भी करते थे। उनको अपने लखनवी होने का मुग़ालता था। 'लखनऊ मेरा लखनऊ' में एक जगह वे अपने को संबोधित करके लिखते हैं, ''फ़िलहाल चहलक़दमी करते हुए वह लखनऊ के संस्मरण टाइप करवा रहे हैं तो इसलिए कि उन्हें अपने लखनवी होने का मुग़ालता है।''

जोशी जी को जीवन के अंतिम समय में लेखन से मोहभंग हो गया था। लेखन के क्षेत्र में और सामाजिक मूल्यों में आ रही लगातार गिरावट से वे इतने ज़्यादा व्यथित हो गए थे कि यह कहने लगे थे, ''लेखन करके उन्होंने बहुत ग़लत काम किया और हम निर्लज्ज समाज में रहते हैं जहाँ लेखन की कोई क़दर नहीं है। जो लेखन समाज को कुछ दे न सके उस लेखन का कोई फ़ायदा नहीं। अगर मैं कविता की तरह गद्य भी लिखना छोड़ देता, तो शायद बुढ़ापे में यह दिन देखना नहीं पड़ता।''

ख़ैर जो हो, जोशी जी एक ज़िंदादिल इंसान थे। सच तो यह है कि रचनाकार होने के लिए बहुत सी वर्जनाओं को तोड़कर जीना पड़ता है। जोशी जी एक ऐसे ही रचनाकार थे, जिन्होंने अपनी कथनी और करनी से यह बताने का प्रयास किया कि यदि व्यक्ति चाहे, तो ईमानदारी के सांथ अपने पेशे से निर्वाह कर सकता है। इनकी बहुमुखी प्रतिभा अभी पूर्ण विकसित होने की अवस्था में ही थी कि वे चले गए। जोशी जी में वह वैश्विक दृष्टि सघनित हो रही थी, जिसके संदर्भ में वह भारत को समग्रता से देख रहे थे। निश्चित रूप से उनके निधन से साहित्य, पत्रकारिता और धारावाहिक के तीन माध्यमों के बीच सेतु-संबंध टूट गया। जीवन के पारखी, अपने कला प्रयोग में मौलिक और संक्रमणशील भारतीय समाज को गहराई से समझने वाले मनोहर श्याम जोशी जी को श्रद्धा व सम्मान भाव से नमन।

❖❖❖

<u>मकबूल फिदा हुसैन</u> : जो सौंदर्य, लोकप्रिय विषय और अद्‌भुत कला के महान चित्रकार थे

'भारत का पिकासो' के रूप में परिचित मकबूल फिदा हुसैन की पेंटिग्स ने भारत की कला और संस्कृति को नया विस्तार दिया और चीजों को बेबाकी से बखूबी पेश किया। उनकी चित्रकारी में एक खास भावना रहती थी, भले ही कुछ लोग उसे समझ नहीं पाए, किंतु जिसने भी कुछ ठहरकर उनकी कला के करीब पहुँचने का प्रयास किया, वे उनके मुरीद हो गए। उनकी चित्रकारी को विदेशों में भी इसलिए पसंद किया गया, क्योंकि उन्होंने भारत के महान धार्मिक ग्रंथों, महाकाव्यों को नए तरीके से पेश करने की कोशिश की और वे भारत की कला और शिल्प को भी बेहतरीन तरीके से अपनी कला में ढालते रहे। उनके द्वारा बनाए गए चित्र भारतीय कला-परंपरा के जिसमें सृष्टि की सर्जना को वरदान देते हुए शिव प्राणी हैं, रास के रंग से पूरी पृथ्वी को मोहने वाले कृष्ण और उनके रंग में रंगने वाली गोपियाँ हैं, अखण्ड मातृत्व का उद्‌घोष करती यक्षणी और शालभंजिकार हैं, तो कहीं नल-दमयंती उदयन, वासवदत्ता के सपने के रंगों की पहचान करती चिन्मयी मूर्तियाँ हैं। इसी प्रकार मिट्टी और गोबर से रामकथा का अपना अर्थ उकेर मिथिलांचल की ग्राम्य-कला हो या खुजराहो-कोणार्क रतिमग्न राजसी उल्लास या हो फिर मोहनजोदडो़ की नृत्य मग्न मूतियाँ या हुसैन की बनाई गजगामिनी फिल्म की माधुरी दीक्षित के अंग-संचालन का लालित्य, सबसे एक खास उस आँख की अपेक्षा रखती है जो उससे कोई तार जोड़ सके।

'पाब्लो पिकासो' वाला रौब और साल्बाडोर डालीवाली नाटकीयता मकबूल फिदा हुसैन के व्यक्तित्व की सदा पहचान रही। शायद इसी वजह से उन्हें अंतरराष्ट्रीय कला जगत में 'इंडियन पिकासो' के रूप में अपार ख्याति मिली। मगर एम.एफ. हुसैन ने जितनी प्रसिद्धि पाई, उससे अधिक कहीं अधिक विवादों से भी वे घिरे रहे। भारतमाता, देवी-देवताओं तथा अपनी अनेक पेंटिग्स के कारण वे विवादों में रहे। यहाँ तक कि हिंदू देवी-देवताओं की विवादित पेंटिग्स की वजह से हिंदू संगठनों ने उन्हें धमकी दी थी। कई कट्‌टरपंथी संगठनों ने तोड़ फोड़ की और एम.एफ. हुसैन को धमकी मिलने के बाद पिछले साल जनवरी 2010 में उन्होंने कतर की नागरिकता स्वीकार की। वैसे वर्ष 2006 में ही स्वेच्छा से उन्होंने भारत छोड़

दिया था और तभी से वे लंदन में रह रहे थे। हुसैन को भारत छोड़ने का दर्द अंतिम समय तक सताता रहा। उनके दिल में अंतिम वक्त तक देश ध ड़क रहा था और वे वापस आना चाहते थे, देश के लोगों के प्रति उनके मन में कोई गिला-शिकवा नहीं था। वतन से बाहर रहते हुए अंतिम वक्त में उनके मन में हमेशा बेवतन होने का मलाल रहता था। अपने करीबी लोगों से वह अक्सर दिल का ये दर्द जाहिर करते रहते थे। उनकी पेंटिग्स को लेकर भले ही विरोध के स्वर उठते रहे, पर उन्होंने पूरे जीवन में कभी भी अपने वतन के खिलाफ बात नहीं की। भारत और भारतीय संस्कृति ही उनकी पेंटिग्स की प्रेरणा रही है।

उम्रभर सांप्रदायिकता के खिलाफ सोचने और उस सोच में बेचैन करने वाले रंग भरने के उस्ताद मकबूल फिदा हुसैन को 95 की उम्र में लंदन के रायल ब्रॉम्पटन अस्पताल में 11 जून 2011 को निधन हो गया और उनके देहावसान के साथ ही रंगों की सनातन डोर से उनका रिश्ता टूट गया। हुसैन को फेंफड़े का कैंसर था। अब फिदा हुसैन नहीं रहे, लेकिन अपने जीवन काल के आखिरी कुछ वर्षो में उन्हें जिस प्रकार विवादों में घसीटा गया, वह हमारे धर्मनिरपेक्ष चरित्र के लिए बेहद शर्मनाक रहा। इतने बड़े कलाकार की सृजनात्मकता की तारीफ करने की बजाय कुछ लोगों द्वारा उन्हें धमकियाँ देने के साथ-साथ मुकदमों में घसीटा गया, जिसके चलते उन्हें न चाहते हुए भी अपना देश छोड़ना पड़ा। सच कहा जाए, तो इससे मकबूल फिदा हुसैन का नहीं, बल्कि हमारा ही नुकसान हुआ। अब हाथों में ब्रश लिए, हँसते-मुस्कराते हुसैन साहब का तो भारत आना संभव नहीं। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि एम. एफ. हुसैन के निधन से समकालीन भारतीय कला की एक सदी का अंत हो गया।

महाराष्ट्र के पंढरपुर गाँव में 17 सितंबर, 1915 में जन्मे मकबूल फिदा हुसैन ने बचपन में ही अपनी माँ को खो दिया था। पिता ने दूसरी शादी की और लाडले मकबूल को लेकर इंदौर चले गए। यहीं से उन्हें पेंटिंग का शौक लग गया। माँ की कमी के खालीपन को रंगों से भरने का भरसक वे प्रयास करने लगे। रंग और ब्रश लेकर साइकिल से वे निकल पड़ते और प्राकृतिक दृश्यों को नदी के किनारे बैठकर निहारते और उन्हें कैनवास पर उतारने लगते।

जब वे 20 साल के हुए, इंदौर से मुंबई आ गए और 1935 में मुंबई के प्रसिद्ध सर जे॰जे॰ स्कूल ऑफ आर्ट से उन्होंने चित्रकारी का

प्रशिक्षण प्राप्त किया। फिर सूरत, बड़ौदा और अहमदाबाद जाकर पेंटिंग की दुनियाँ में उन्होंने संघर्ष किया। उन्होंने जीविकोपार्जन के लिए एक खिलौना बनाने वाले के कारखाने में नौकरी की जहाँ वे खिलौना डिजाइन किया करते थे। सन् 1947 में वे एफ एन शुजा द्वारा स्थापित प्रोग्रेसिव ऑर्टिस्ट ग्रुप से जुड़ गए। यह ग्रुप ऐसे युवा कलाकारों का संगठन था, जिन्होंने तत्कालीन कला जगत में स्थापित राष्ट्रवादी परंपरा के दायरे से बाहर निकलकर प्रयोगध र्मी शैली को अपनाया। दुनिया की मशहूर पत्रिका फोर्ब्स द्वारा 'भारत की पिकासो' की उपाधि उन्हें सुनहरा संसार पेंटिंग के लिए दी गई थी, जिसने उनके जीवन में सुनहरे दौर की शुरुआत की। इसे बॉम्बे आर्ट॰ सोसाइटी की प्रदर्शनी में दिखाया गया 1995 में पद्मविभूषण से सम्मानित किया गया। यों तो हुसैन के दिल में बसने वाली अनेक फिल्मी हस्तियाँ थीं, किंतु माधुरी दीक्षित, मधुबाला, रेखा, अनुष्का शर्मा, तब्बू, देविका रानी, गीताबाली, वैजयंतीमाला, हेमामालिनी पर वे विशेष रूप से मेहरवान हुए और उन्हें अपनी चित्रकारी में स्थान दिया। हुसैन की अभिनेत्रियों पर फिदा होने की कहानी के 'हम आपके हैं कौन' वाले रूप का अपनी पेंटिंग में पिरोया। कुछ समय बाद हुसैन ने माधुरी को लेकर फिल्म 'गजगामिनी' बनाने की घोषणा की। दरअसल, लोग उन्हें एक चित्रकार के रूप में जानते रहे, मगर खुद हुसैन के भीतर एक फिल्मकार कुलबुलाता रहा। मकबूल फिदा हुसैन का सपना था कि वे गंगा पर लघु फिल्म बनाएँ, लेकिन उनकी हसरत अधूरी रह गई। किसी कारणवश यह पूरी नहीं हुई और 95 साल की उम्र में वे दुनिया को अलविदा कह गए।

मकबूल फिदा हुसैन का बिहार से गहरा जुड़ाव रहा। सन् 1968 में हुसैन ने पटना आर्ट एण्ड क्रॉफ्ट कॉलेज में अपने चित्रों की एकल प्रदर्शनी लगाई थी। तब उन्होंने कला और कलाकारों पर फोर्स करती तीन फिल्मों का प्रदर्शन भी किया था। इनमें मुद्रा, आर्टिस्ट स्टेच बुक और चित्रकार की आँखें शामिल हैं। इसी प्रकार सन् 1982 में हुसैन तब पटना आए थे, जब हिंदी के विख्यात समालोचक आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की चित्रकार पत्नी कुमुद शर्मा की कलाकृतियों की प्रदर्शनी थी। फिर 16 दिसंबर 2002 को पटना में आयोजित पुस्तक मेले में उनके आने पर बिहार विधान परिषद् में उन्हें सम्मानित किया गया था। इसी दौरान उनसे मिलने और उनसे कुछ सुनने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ था। दैनिक जागरण से साक्षात्कार के दौरान एम एफ हुसैन ने कहा था-'मेरी जिंदगी एक खुली किताब की तरह है। जिसे

मेरे चाहने वाले आसानी से समझ सकते हैं।' हमेशा नंगे पाव चलने वाले हुसैन से एक बार एक पत्रकार ने पूछा था कि वह चप्पल क्यों नहीं पहनते, तो उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं जमीन से जुड़े रहना चाहता हूँ।'

मकबूल फिदा हुसैन भारत के एक ऐसे चित्रकार थे जिनकी कृतियाँ सबसे अधिक दाम में बिकती थीं। उनके चित्रों की माँग कला-संग्राहकों के बीच कभी कम नहीं हुई। कला उनके लिए 'पत्रकारिता' की तरह दैनंदिन थी। वह रोज काम करते थे, यह भूल कर कि उनके आज के रचे हुए का क्या होगा? पिछले एक दशक से लगभग आत्मनिर्वासन के बावजूद उनके 'रचे हुए' ने जहाँ एक ओर अपार ख्याति और संपदा अर्जित भी दीं, वहीं दूसरी ओर उन्होंने भरपूर मर्त्सनाओं का भी सामना किया। उनकी कृतियों को उन्मादियों ने तोड़ा-फोड़ा और आग के हवाले किया, फिर भी हुसैन साहब ने जवाब आक्रोश या घृणा से नहीं दिया, बल्कि उन्होंने कहा कि हर ध्वंस का एक ही उत्तर है, और वह है 'सृजन'। वह लगातार विवादों, मुकदमों, भर्त्सनाओं और आलोचनाओं को लांघते हुए अपने कैनवास के सामने खड़े होते रहे और जिसे ईश्वर बनाना भूल गए उसे फिदा हुसैन रचते रहे तथा अपनी कला के जरिए दुनिया के हर देखे-अनदेखे रंग को लोगों के सामने रखते रहे। उन्होंने ऐसी चित्रकारी की जिनमें आकास्मकता झलकी जो उनकी कला की विशेष पहचान है। 95 साल के होने पर भी उनकी रचनात्मकता में कोई कमी नहीं आई और वे निरंतर कला का सृजन करते रहे। युवा कलाकारों को उनके द्वारा दिया गया प्रोत्साहन भी भारतीय कला जगत को उनकी एक महान भेंट है। ब्राजील के साओ पाओलो शहर में प्रत्येक वर्ष एक बार आयोजित कला उत्सव में हुसैन और स्पेनी मूल के चित्रकार पाब्लो पिकासो को सन् 1971 में आमंत्रित किया गया था।

मकबूल फिदा हुसैन दुनिया घूम चुके थे, लेकिन उनके भीतर 'कस्बे का आदमी' जिंदा था या कहें कि उन्होंने उसे जिंदा बनाए रखा था। इसलिए वे उनलोगों में से नहीं थे, जो पीछे छोड़ दिए की तरफ नहीं देखते। उनसे कुछ भी छूटा नहीं था। जो कुछ था, वह उनके साथ और पास था और वह उसे हरदम उलटते-पलटते रहते थे। उन्हें कई बार व्यावसायिक भी कहा गया, लेकिन वह बाजार के पीछे नहीं थे, बाजार उनके पीछे था। लगभग भागता-सा बाजार। उनका काम और उनकी जिंदगी सबकुछ यही चित्रकारिता थी। उन्होंने हमेशा बेपरवाह होकर अपनी कल्पनाशीलता पर काम किया और मशहूर हुए। दरअसल, जब जिंदगी में काम और जिंदगी एक हो जाए, तो

जो चीज उभरकर लोगों के सामने आती है, वह लाजवाब होती है। हुसैन साहब के साथ भी कुछ ऐसा ही था। किसी कलाकार की यही सबसे बड़ी उपलब्धि है कि उसके नहीं रहने पर भी हम उनकी बातें और उनकी कृतियों को सहेज कर रख पाएँ और उन्हें याद रख पाएँ। हुसैन साहब अपनी कृतियों के माध्यम से हमेशा हमारे बीच बने रहेंगे। अपने विचारों को व्यक्त करने में जरा-सी भी चुक नहीं महसूस करने वाले मकबूल फिदा हुसैन ने यह कभी नहीं सोचा कि कोई उनके बारे में क्या कहेंगे। उन्होंने पूरी स्वतंत्रता के साथ अपने विचारों को कला के माध्यम से व्यक्त किया जिसके लिए वे हमेशा याद किए जाएँगे और वह भी एक महान कलाकार के रूप में।

पद्मश्री और पद्मभूषण से सम्मानित मकबूल फिदा हुसैन सन् 1973 में राज्य सभा के सदस्य के रूप में नामित भी हुए थे। साठ-सत्तर सालों से भारतीय सभ्यता को अपनी चित्रकारिता के जरिए सर्वोच्च प्राथमिकता देने वाले मकबूल फिदा हुसैन सभी महिलाओं में अपनी माँ को खोजते रहे, क्योंकि भारतीय सभ्यता में महिला को शक्ति का प्रतीक माना जाता है ताउम्र अपनी रचनाशक्ति से अनमोल कृतियों का निर्माण करने वाले हुसैन जी के जीवन से यह सीखा जा सकता है कि जीवन में रंगों और खुशियों का क्या महत्त्व होता है।

राजनीतिक रुप से मूलतः लोहियावादी मकबूल फिदा हुसैन ने रामायण शृंखला के सैकड़ों चित्र बनाए जो दुर्भाग्यवश आज तक प्रदर्शित नहीं हुए और वे सूबे हैदराबाद में बद्री विशाल पित्ती के गोदाम में रखे हुए हैं। विडंबना यह है कि किसी लोहियावादी ने आज तक यह माँग नहीं कि उनका सार्वजनिक प्रदर्शन हो। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि मशहूर चित्रकार मकबूल फिदा हुसैन के फिल्म निर्माता बेटे ओवैस हुसैन पिता की जिंदगी के अनछुए पहलुओं को फिल्म के जरिए लोगों तक पहुँचाने की योजना बना रहे हैं जिसका शीर्षक रखा है 'लेटर्स टू माइ सन अबाउट माइ फादर'। ओवैस हुसैन का यह कहना जायज है कि उनके चार साल के बेटे को बड़े होने पर अपने महान विरासत के बारे में जानकारी होनी चाहिए। उनकी यह मंशा शत प्रतिशत सही है। अपनी महान विरासत को सहेज कर रखना नई पीढ़ी का दायित्व बनता है। मगर आधुनिक भारत के उस महान पेंटर पर, जो अपने प्रगतिशील विचारों के लिए जाना जाता रहा, जिसे भारत की सामासिक संस्कृति की एक कला प्रतीक माना जाता रहा, सांप्रदायिक ताकतों को उसकी कला में मूर्त प्रतीक के दर्शन होने लगे। उनकी वह कला पीछे रह गई, जिसके कारण उनको भारत का पिकासो कहा जाता था। उनका देश छोड़ना एक

तरह से देश से उस सेक्युलर राजनीति के सिमटते जाने का भी प्रतीक कहा जा सकता है जिसकी दृष्टि ने हुसैन जैसे कलाकार को संपूर्णता में अभिव्यक्त करने का अवसर दिया। बनते-बिगड़ते प्रतीकों के इस दौर में भारत के जो महान चित्रकार एक अभिशक्त मिथक की तरह जिए और मरे उसे मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ शायर मुनव्वर राणा की इन पंक्तियों से-

एक पेड़ को किसी से शिकायत न थी,
मगर वह बीच में आने से कट गया।
खंडहर से दिल में कोई तमन्ना घर बनाता है,
मेरे कमरे एक चिड़िया घर बनाती है।

मकबूल फिदा हुसैन के अंदाज का कोई जवाब नहीं था। वह लंबे थे और दाढ़ी में खासा खूबसूरत दिखते थे। उन्होंने इंदिरा गाँधी के आपातकाल का समर्थन किया था। फिदा साहब ने एक बड़ी पेंटिंग बनाई थी, जिसमें देश में फैली अराजकता पर इंदिरा गाँधी शेर की सवारी कर रही थी। श्रीमती गाँधी ने उसे संसद में लगवाया था, लेकिन जैसे ही वह चुनाव हारी, उसे हटवा दिया गया। उनकी हर पेटिंग करोड़ों रुपए में बिकती थी, यों उन्हें पता नहीं था कि उस पैसे का करना क्या है? सो उन्होंने ताबड़तोड़ एक बार छह बेहद महंगी कारें खरीद डाली।

दुनिया से उनकी विदाई को मीडिया ने जबर्दस्त कवरेज किया। उसकी एक वजह यह थी कि हम सबको वह अपराधबोध था कि जरूरत के वक्त उनके साथ खड़े नहीं हो पाए।

पद्मश्री विंध्यवासिनी देवी :

जिनके निधन से लोकगायकी के एक युग का अवसान हो गया

बिहार के लोक गीतों और लोक सांस्कृतिक परंपरा की विरासत को राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय पहचान दिलाने वाली सुर सम्राज्ञी पद्मश्री विंध्यवासिनी देवी के निधन से राज्य का लोकगीत संसार सूना हो गया और लोकगायकी के एक युग का अवसान हो गया। सन् 1955 ई० से 1980 तक आकाशवाणी, पटना के लोकगीत प्रसारण से जुड़ी विंध्यवासिनी देवी ने लोकगीत विरासत को एक नया आयाम दिया। लोकगीतों में निहित ग्राम्य जीवन की धार्मिक, व्यावहारिक एवं पारंपरिक विरासतों के प्रति जागरूकता उत्पन्न कर पर्दा प्रथा के बीच मर्यादा के अनुरूप लोकगीत प्रस्तुति में स्त्रियां की सहभागिता को उन्होंने प्रोत्साहित किया। कई दशक तक देश में अपनी सुरीली अवाज़ में अवधी, मैथिली, मगही और भोजपुरी गीतों में जान फूँकने वाली विंध्यवासिनी देवी का निधन 18 अप्रैल, 2006 को पटना में हो गया।

05 मार्च, 1920 ई० को सीतामढ़ी के बैरगनियाँ की माटी में आँखें खोलने वाली विंध्यवासिनी देवी की शिक्षा-दीक्षा मुज़फ़्फरपुर में उनके नाना चतुर्भुज सहाय के सान्निध्य में हुई और भारतखण्डे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ से सन् 1944 ई० में शास्त्रीय संगीत की उच्च शिक्षा उन्होंने प्राप्त की। तब से उनके संगीत का जादू सात दशकों तक भारतीय संगीतप्रेमियों के सिर चढ़कर बोलता रहा। अपने जीवन काल में ही किंवदंती बन चुकी विंध्यवासिनी देवी के देहावसान के साथ ही बिहार की लोकसंस्कृति का एक ऐसा अध्याय भी विराम पा गया जिसके फ़लसफ़े देश क्या विदेशों तक बिखरे पड़े हैं। सन् 1973 ई० में बिहार सरकार के अनुरोध पर देश की सीमा लाँघ कर पड़ोसी राज्य मॉरिशस में अंतरराष्ट्रीय मंच पर जब विंध्यवासिनी देवी ने बिहार का प्रतिनिधित्व किया था, तब उस वक़्त के जानेमाने लेखक व पत्रकार मोहन महिर्षी ने मॉरिशस के अँग्रेज़ी दैनिक में उनके सम्मान में लिखा था कि विंध्यवासिनी देवी वही लोकगायिका हैं, जिन्हें पचास हज़ार से अधिक गाने कंठस्थ हैं। दरअसल मैथिली, भोजपुरी, रसमयता उड़ने वाली मगही, बज्जिका, अंगिका और अवधी गीतों में विंध्यवासिनी देवी के सफल लोकगायिका बनने के पीछे उनके त्याग और संघर्ष की लंबी गाथा है। कहा जाता है कि वह पहली बिहारी महिला थीं, जिन्होंने अपने सफ़र की शुरुआत में ही यह

एहसास करा दिया था कि उनके संगीत के क्षेत्र में आने के बाद रूढ़िवादी परंपराएँ समाप्त होंगी और महिलाओं के लिए संगीत के वास्ते घर से निकलना सहज हो जाएगा और ऐसा हुआ भी। लोकजगत और बिहार में 'मौसी' के नाम से चर्चित विंध्यवासिनी देवी को कुछ लोग चाची भी कहते थे।

जहाँ तक मान-सम्मान का संबंध है विंध्यवासिनी देवी संभवत: बिहार की पहली ऐसी महिला बनी, जिनको भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद के हाथों सन् 1954 ई॰ में 'संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार' स्वरूप स्वर्ण पदक मिला। सन् 1974 ई॰ में उन्हें 'पद्मश्री' सम्मान से नवाज़ा गया। इसी वर्ष बिहार सरकार ने भी 'बिहार रत्न' की उपाधि से सम्मानित किया। मध्यप्रदेश सरकार ने सन् 1997 ई॰ 'अहिल्याबाई सम्मान' से उन्हें नवाज़ा। इसके पूर्व विश्व के प्रथम भोजपुरी सम्मेलन में उन्हें सन् 1995 ई॰ में 'भिखारी ठाकुर सम्मान' मिला। इसके अतिरिक्त लोकगीत की विशिष्ट सेवा के लिए प्रशस्ति-पत्र सहित कई पुरस्कारों से उन्हें विभूषित किया गया।

विंध्यवासिनी देवी की ज़िंदगी का एक महत्त्वपूर्ण पहलू उनका लेखन भी रहा है। उन्होंने 'लोकरामायण' की रचना कर लोकरचना संसार में नई इबारत लिखी। 'ऋतुरंग', 'बिहार के संस्कार गीत' के अलावा 'मानव', 'दानव' जैसे संगीत रूपक 'सेठ जी का लोटा', 'सत्तू में भैंस', 'चार चोर चार परियाँ', 'जवाहर लाल नेहरू की जीवनी' आदि उनकी रचनाएँ प्रकाशित हुईं, किंतु बज्जिका में लिखित 'वैशाली', 'रेडियो संगीत रूपक', 'लोकगीत देवी-देवताओं के', 'लोकगीतों में कृष्णकथा', और 12 खंडों में रचित 'लोक संगीत सागर' उनके जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हो सकीं। फ़िल्मों में उनका गायन मैथिली फ़िल्म 'कन्यादान', 'छठ मैया की महिमा', 'भैया' और 'डाक्टर बाबू' जैसी फ़िल्मों में लोकप्रिय हुआ। वे अपनी संस्था 'विंध्याकला मंदिर' का आजीवन संचालन करती रहीं। लोकगीतों पर आधारित उनकी लिखी एक पुस्तक 'लोकरागिनी' भी है। घर में उनकी भाषा बज्जिका थी, किंतु मैथिली और हिंदी भी वे अच्छी तरह बोलती थीं। उम्र के बढ़ते अनुभवों ने उन्हें एक अच्छा वक्ता भी बना दिया था।

विंध्यवासिनी देवी अपने पति सहदेवेश्वर चंद्र वर्मा का इलाज कराने के लिए 1945 में पटना आई थी। राजधानी में इलाज के बाद सहदेवेश्वर जी स्वस्थ हो गए। फिर उन्होंने पटना को ही अपना आशियाना बना लिया और विंध्यवासिनी देवी ने पटना को अपनी कर्मभूमि बनाई। विंध्यवासिनी देवी अपने गीत खुद कॉपियों पर लिखती थीं। विंध्यवासिनी देवी के पटना स्थित

राजेन्द्रनगर के सुनहरे केसरिया रंग से रंगे भवन के प्रवेश द्वार के एक कोने पर विंध्यकला मंदिर व विंध्यवासिनी देवी के पति सहदेवेश्वर का नाम सुनहरे अक्षरों में लिखा देखा जा सकता है तथा भवन के मुख्यद्वार के ठीक सामने वाले कमरे में संगीत नाटक अकादमी सम्मान, पद्मश्री सम्मान, बिहार रत्न सम्मान, देवी अहिल्या बाई सम्मान, भिखारी ठाकुर सम्मान आदि विंध्यवासिनी देवी के होने का अहसास दिलाते हैं। उनकी पुत्री पुष्परानी मधु का आवास बहादुरपुर गुमटी के पास है।

वस्तुत: विंध्यवासिनी देवी के स्नेहिल व्यक्तित्व ने एक ऐसा वातावरण बनाया था जिसकी छाया तले सैकड़ों कलाकार पुष्पित-पल्लवित हो बड़े हुए। आख़िर तभी तो कलाकार के मानस पटल पर विंध्यवासिनी जी के निर्गुण की ये पंक्तियाँ अक्सर उभर आती हैं -

एह पार गंगा, ऊही पार जमना
बीच में सैंयाजी के डेरा

यही कारण है कि आज हर कलाकार उनकी अनुपस्थिति में अपने को असहाय महसूस करता रहा है। मगर उनके मधुर कंठ की याद को कम से कम बिहारवासी अपने हृदय में संजोए रखेंगे और सबके बीच उनके लोकगीतों की सुगंध फैलती रहेगी। 'विचार दृष्टि' परिवार की ओर से जीवन की हर सच्चाई से रिश्ता जोड़ने वाली विंध्यवासिनी देवी को हार्दिक श्रद्धांजलि।

❖❖❖

बासुदेव नारायण :
जिनका सान्निध्य सदैव स्मरणीय रहेगा

एक शतक से अधिक अपनी जीवन-यात्रा का सफर तय कर मशहूर संगीतज्ञ पूज्य मामा बासूदेव नारायण जनवरी 2006 को पटना जिलांतर्गत बाढ़ अनुमंडल स्थित चौधरायनचक नामक अपने पैत्रिक गाँव में सदा के लिए मौन हो गए और अपने परिवार एवं सगे-संबंधियों सहित मेरे जैसे अनेक लोगों के लिए एक उज्ज्वल एवं अनुकरणीय विरासत छोड़ गए। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब प्रवेशिका परीक्षा पास पर पटना कॉलेज, पटना में इंटरमेडियट के प्रथम वर्ष में मैंने नामांकन कराया था उन्हीं के सान्निध्य में मुझे रहने का अवसर प्राप्त हुआ था। उन दिनों वे पटना के अशोक राजपथ स्थित पटना साइकिल वर्क्स का दायित्व बड़ी निष्ठा से संभाल रहे थे और कर्म को ही उन्होंने पूजा समझा था। सच मानिए तो गीता का सार 'कर्म ही पूजा है' का ज्ञान मुझे भी मामा जी से ही मिला और आज तक मैं उन्हीं के बताए रास्ते पर चल रहा हूँ। धार्मिक प्रवृत्ति और निर्मल मन के हमारे पूज्य बड़े मामा बासुदेव नारायण ने अपनी जिम्मेदािरियों के निर्वहण में न तो कभी शिथिलता बरती और न ही उनसे बचने का प्रयास किया।

अपने इलाके में सामाजिक मनोवृत्ति और अतिथि सत्कार के लिए प्रसिद्धि पाए नाना होरिल बाबू के सबसे बड़े सुपुत्र बासुदेव नारायण को संगीत में बड़ी दिलचस्पी थी। हारमोनियम पर उन्होंने गीत बजाने का अभ्यास मुझे कराया था जिसका परिणाम यह हुआ कि एक-दो गीतों के मुखड़े को आज भी हारमोनियम पर मैं गा-बजा लेता हूँ। उनके सान्निध्य के प्रसाद का फल मुझे अभी भी जीवंत और स्वस्थ बनाए रखा है, जो सदैव स्मरणीय और प्रेरणास्पद रहेगा। पूज्य मामा जी जब कभी भी मेरे निवास आते थे, तो मेरे बच्चों को संस्कृत के दो-चार श्लोक न केवल सुनाते थे, बल्कि उनकी कापियों पर लिखकर उन्हें याद करने को कहते थे। गीता और रामायण की छोटी-छोटी पुस्तकें भेंट करना वे कभी नहीं भूलते थे। उनके बोल-चाल, उनकी भाषा और उनकी अभिव्यक्ति इतनी सरल और मीठी होती थी कि परिवार के हम सभी सदस्य उनकी बातें बड़े ध्यान से सुनते थे। कथनी और करनी में सदा सामंजस्य रखने वाले मामा जी मन, वचन और कर्म से एक थे और उनके वचनों में एक युग बोलता था। सचमुच अपने जीवन काल में

ही वे एक मिथ की भाँति स्थापित हो गए। मैं महसूस करता हूँ कि मेरे हृदय में उनका नाम सदैव अमर रहेगा, क्योंकि उनके प्रति हमारे हृदय में हमेशा श्रद्धा व सम्मान रहा। आखिर तभी तो जैसे ही उनके बड़े सुपुत्र बालेश्वर के द्वारा चौधरायनचक गाँव से दूरभाष पर उनके निधन का मुझे समाचार मिला, तो तत्काल उपलब्ध गाड़ी से बाढ़ स्थित उमानाथ घाट के लिए मैं रवाना हो गया और उनके दाह-संस्कार में सम्मिलित होकर उन्हें श्रद्धा-सुमन अर्पित किया। सच मानिए मामा जी की दिलकश आवाज का जादू आज भी मेरे सिर चढ़कर बोलता है और उन्हें स्मरण कर मुझे कुछ गुनगुनाने का मन करने लगता है। उनकी अपनी एक अलग जीवन शैली थी जिसके तहत उनका खान-पान, योग-ध्यान, नित गंगा-स्नान और संगीत का अभियान उन्हें औरों से अलग करता था। सत्य और अहिंसा के पुजारी मामा जी के आचरण, व्यवहार, स्वभाव और कर्मों ने मेरे जीवन को बहुत प्रभावित किया। इनके जीवन में मैंने एक चारित्रिक स्पष्टता देखी। अपनी कमियों, कमजोरियों और आदतों को लेकर इनमें न तो कोई खास दुराव ही रहा और न ही अपराध-बोध। भले ही ये अपने पारिवारिक जीवन की समस्याओं और समाज-मित्र वर्ग आदि पर अपना ध्यान केंद्रीत नहीं कर पाए, किंतु इनके आचरण और व्यवहार इनके नैतिकता-बोध और गहरे भारतीय संस्कारों से जुड़े रहे। अपनी जिंदगी में उच्च आदर्शों को ओढ़ने वाले सादगी-करुणा की प्रतिमूर्त्ति मामा बासुदेव नारायण सही मायने में सत्यान्वेषी थे जिनके लिए अपनी आत्मा की आवाज सर्वोपरि थी और जिसका पालन उन्होंने मरते दम तक किया। विचारों को व्यक्ति के विचार का आईना माना जाता है। जीवन में विचार और चिंतन का अपना एक विशेष महत्त्व है। मामा जी के व्यक्तित्व की यह विशेषता रही कि उनके विचार न केवल अच्छे थे, बल्कि उनके संपूर्ण जीवन में सार्थक विचारों और चिंतन का एक खास महत्त्व रहा। मैंने अनुभव किया कि व्यर्थ की सोच के पचड़े में पड़कर ये कभी तनावग्रस्त नहीं हुए। इनकी सोच सदैव सार्थक और सकारात्मक होती थी। इन्होंने मानवता के धर्म से बड़ा कोई धर्म नहीं माना। भारतीयता की मूल प्रवृत्ति ही सबके लिए सुख की कामना है-'सर्वेभवंतु सुखीनः, सर्वे संतु निरामया':। दरअसल, इनकी विचाराधारा प्रजातांत्रिक को ही इन्होंने अपने जीवन में अपनाया।विवेक के आधार पर ज्यादा गढ़ी हुई थी। यही कारण है कि मानवीय जीवन में शुचिता और सार्वजनिक जीवन में पारदर्शिता पर ये सर्वाधिक बल देते रहे। इनके स्वयं के जीवन में भी ये गुण स्पष्ट रूप से

परिलक्षित होते थे जिसे केवल मैं ही नहीं, बल्कि इनके समकालीन भी महसूस करते रहे। इनकी नैतिक शक्ति और चारित्रिक पवित्रता बड़ी-से-बड़ी भौतिक शक्ति को अपने आगे झुकाने की ताकत रखती थी। बंधन-मुक्त जीवन, सच्चाई, सरलता, निर्मलता, सुख और दुख में अविचल अवस्था, निर्भयता, आत्मत्याग और अहिंसा से हमें साक्षात्कार में सहयोग मिलेगा, यही बासुदेव बाबू की अवधारणा थी। इनकी इस अवधारणा से सहमत होना इसलिए आवश्यक जान पड़ता है कि तेजी से बदलते इस उपभोक्तावादी-भौतिकवादी युग में शांति से जीने के लिए इसके अलावा और कोई चारा नहीं है। इस लिहाज से इनके अनथक परिश्रम, लक्ष्य पर पहुँचने की व्याकुलता, कठिनाइयों से जूझने की ताकत से लोग प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं और निराशा के विरूद्ध आशा का संचार उनमें हो सकता है, इन्हीं सब कारणों से इनके साथ मेरा संबंध अनवरत रूप से प्रगाढ़ रहा। स्नेह के अपार सागर थे मेरे मामा जी। इनके स्नेह की शीतल छाया तले कोई भी सुख की नींद सो सकता था। इनसे मिलना सुख और संतुष्टि से भर जाना होता था। हमारे घर इनका आना घर के सदस्य का उपस्थित होना था। मेरे भीतर एक नयी स्फूर्ति का आना होता था उनका आगमन। ऐसे स्फूतिदायक और प्रेरणास्पद पूज्य मामा बासुदेव बाबू को मैं अपनी तथा 'विचार दृष्टि' परिवार की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनकी पावन-स्मृति को नमन करता हूँ।

❖❖❖

पं॰ श्यामदास मिश्र :
अभाव के बीच भी जिन्होंने संगीत की दुनिया में अपनी एक अलग पहचान बनाई

कश्मीर से कन्याकुमारी तक राष्ट्रीय एकता व अखंडता का प्रचार-प्रसार संगीत के माध्यम से करते हुए छह बार राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित पं॰ श्यामदास मिश्र हमेशा गरीबी में रहने के बावजूद पढ़ाई में कभी कमजोर नहीं रहें। गरीबी से सदैव एक-एक हाथ करने को तैयार पं. श्यामदास मिश्र मेहनत के बल पर संगीत की दुनिया में अपनी एक अलग पहचान बनाई।

बिहार के संगीत घरानों में अति सम्मानित बड़हिया घराना के संस्थापक तबला सम्राट पं॰ बच्चा मिश्र के घर 13 जुलाई, 1948 को जन्में पं॰ श्यामदास मिश्र संगीत के बहुआयामी व्यक्तित्व के मालिक थे। वे शास्त्री गायन ध्रुपद, धमाल, ख्याल, तराना, ठुमरी, कजरी, चैती, पूर्वी सुगम, अजन, गीत, ग़जल आदि के अतिरिक्त, तबला, जल तरंग, सितार व गिटार वादन में भी सिद्धहस्त कलाकार जैसे महफिल वैसी गीत प्रस्तुत करन वाले पं. मिश्र श्रोताओं को झूमने पर विवश कर देते थे।

पं. श्यामदास मिश्र का जीवन संगीत साधना के लिए समर्पित था और उन्होंने संगीत के माध्यम से राष्ट्रीय एकता, सांप्रदायिक सद्भाव एवं अखंडता का प्रचार किया। शास्त्रीय संगीत में अपूर्व क्षमता रखने वाले स्व. मिश्र भारतीय संगीतज्ञों की उत्कृष्ट परंपरा में अग्रणी बने रहेंगे। जीते जी दूसरों की मौत के बाद शोकसभा में निर्गुण गाने वाले पं. मिश्र के ये बोल लोगों के दिल में एक कसक के साथ उभर रही थी-

जगत का क्या भरोसा फकत दो दिनों का मेला है, जवानी जिसको कहते हैं वो मिट्टी का एक ढेला है। बड़े ऊँचे मकानवाले पेड़ जब काल पाले देखा उनके हाथ में न कोड़ी है, न ढेला है।

दूसरों के दुःख के दिनों में इन पंक्तियों को अपने गायन से अश्रु की अविरलधारा बहा देने वाले संगीतज्ञ पं. मिश्र व्यवहार व नम्रता के साथ बड़ा हो या छोटा भी को वे सम्मान देने से नहीं चूकते थे।

92 वर्षीय माँ राधा देवी और पत्नी मंजू देवी तथा दो पुत्र एवं दो पुत्रियों सहित हजारों शुभेच्छुओं से अलविदा होकर गंधर्व लोक में पं. श्यामदास मिश्र चले गए और रह गया उनकी यशः काया, उनकी साधना,

सृजन सेवा, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं संगीत के प्रति समर्पण से जुड़ी यादें, जो स्मृतिशेष के रूप में संगीत की पीढ़ियों के लिए सदैव प्रेरणा स्रोत बनी रहेगीं। पं. श्याददास मिश्र एक ऐसी सख्शियत थे जिनकी यादें सदैव जीवंत रहेगी और लाखों संगीत प्रेमियों के जेहन में उनकी मंद मुस्कान, कोमल, प्रिय और मधुरवाणी एवं विविधतापूर्ण तथा नवीनतापूर्ण उनकी गायकी सदैव जीवित रहेगी।

बिहार के लखीसराय जिलांतर्गत बड़हिया उच्च विद्यालय से प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद पं. मिश्र ने तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय से स्नातक एवं स्नातकोत्तर किया। फिर प्रयाग संगीत समिति, इलाहाबाद से संगीत प्रवीण, प्राचीन कला केंद्र, चंडीगढ़ से संगीत भास्कर भी किया। संगीत पर शोधपरक कार्य करने के लिए पीएच.डी. और शास्त्रीगायन, तबलावादन, उपशास्त्री गायन तथ जल तरंग आदि में आक्षुण्ण कलाकार पं. श्यामदास मिश्र की संगीत साधना अपनी माँ संगीत विदुषी राधा देवी से मिली तथा प्राथमिक शिक्षा एवं स्वर के अभ्यास का सौभाग्य मिला। पिता संगीत सम्राट बच्चा मिश्र से गायन व वादन की विधिवत् शिक्षा मिली। यही नहीं, विश्व विख्यात संगीत मार्तण्ड पं. ओंकार नाथ ठाकुर से संगीत के सुक्ष्मगायन का गुर भी पं. श्यामदास मिश्र ने प्राप्त किया।

पटना के कचौड़ी गली स्थित नारायणी कन्या उच्च विद्यालय में वर्ष 1981 से संगीत शिक्षक के रूप में कार्यरत पं. श्यामदास मिश्र हजारों छात्र-छात्राओं को संगीत विधा में निपुण करने के बाद वर्ष 2008 में सेवानिवृत्त हुए। विगत 5 जुलाई, 2011 को पेंशन लेने के लिए अपने निवास स्थान चौक शिकारपुर के जंगली प्रसाद लेन से पं. मिश्र निकले ही थे कि सड़क के किनारे नाले में गिर गए जिससे उनके सिर में काफी चोट आई और इलाज के लिए उन्हें दिल्ली स्थित भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) में लो जाया गया जहाँ वे काफी दिनों तक कौमा में रहे, पर चिकित्सकों द्वारा इलाज से इनकार किए जाने के बाद 23 जुलाई 2011 को पटना में ऑपरेशन ने काफी राहत दी जिसके फलस्वरूप चार दिनों तक वे बातचीत भी किए, मगर 09 अगस्त, 2011 की रात उन्होंने पाटलीपुत्र डिवायन अस्पताल में दम तोड़ दिया और फिर 10 अगस्त, 2011 को खाजेकला घाट पर पं. श्यामदास मिश्रा का अंतिम संस्कार किया गया। उनके निधन से कला व संस्कृति जगत में सन्नाटा छा गया। वे अपने पीछे दो पुत्र और दो पुत्री सहित भरा-पुरा परिवार छोड़ गए।

अपने जोशपूर्ण गीतों से कार्यक्रमों में चार चाँद लगाने वाले पं. श्यामदास मिश्र ने विदेशों में जाकर संगीत के कार्यक्रमों में अपनी धूम मचाई तथा वे सम्मानित किए गए। 'ये है मेरा बिहार............' जैसे सैकड़ों बिहार गौरवगाथा के गीत तथा 35 संगीत की पुस्तकों के रचयिता पं. श्यामदास मिश्र की आवाज में एक खास थी जो श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देती थी और उसी बल पर उन्होंने अपनी गायकी का लोहा मनबाया।

मेरा यह सौभाग्य रहा कि मैं उनसे व्यक्तिगत रूप से परिचित था और कई बार उनके संगीत के कार्यक्रमों में उनके गीतों को सुनने का अवसर मिला। कदमकुआँ के पार्क स्थित हिमाचल प्रेस के स्वामी तथा अपने शुभेच्छु रजनी के बाल गीतों को जो उन्होंने स्वर और संगीत प्रदान का सजाया-संवारा उन्हें भी सुनने का मौका मुझे पं. श्यामदास मिश्र से कई बार मिला। दिनों में बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार की माँ जागेश्वरी देवी और पत्नी मंजू के उनके नालंदा जिलांतर्गत कल्याण बिगहा गाँव में स्मारक के अनावरण समारोह के अवसर पर जब पं. श्यामदास मिश्र के गीतों को सुनकर मेरे साथ हजारों लोग भाव-विभोर हुए। स्व. मिश्र की हार्दिक इच्छा थी कि बिहार में संगीत विश्वविद्यालय की स्थापना हो, ताकि बिहार की प्रतिभाओं का भरपूर दिग्दर्शन राष्ट्रीय स्तर पर मिले और साथ ही बिहार की प्राचीन गायन शैलियों, परंपराओं व लोकसंगीत को संग्रहित कर उसे अक्षुण्ण बनाए रखने की व्यवस्था की जा सके। पर उनके जीते जी ऐसा न हो सका और न उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया जा सका जिसका अभाव कम-से-कम बिहारवासियों को अवश्य खटकता है।

❖❖❖

खंड-चार

राजनीतिज्ञ

देशरत्न डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद :

जिन्होंने देश के सर्वोच्च पद पर रहकर ऐसे मानक प्रस्तुत किए जो भारतीय राजनीति के लिए निकष भी है और प्रेरणा के श्रोत भी।

आज़ादी के बाद जब हमने अपने देश के संचालन के लिए संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली अपनाई और लोकतंत्र ने प्रगति और मजबूती के जो सोपान तय किए उसके मूल में देश के चिंतकों, मनीषियों, साहित्यकारों और संस्कृतिकर्मियों का अमूल्य योगदान तो रहा ही, राजनीतिज्ञों का भी काफ़ी योगदान रहा है। राजनीतिक क्षेत्रों में जवाहर लाल नेहरू, लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल, लोकमान्य तिलक, गोखले, सुभाषचंद्र बोस और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जैसे अनेक मूर्धन्य महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपनी-अपनी सोच के अनुरूप राजनीति के नए-नए मानदंड स्थापित किए हैं। मगर इन महापुरुषों के अतिरिक्त एक ऐसे भी महापुरुष हुए जिन्होंने देश के सर्वोच्च पद पर रहकर ऐसे मानक प्रस्तुत किए, जो भारतीय राजनीति के ख़ासकर आज के नेताओं के लिए निकर्ष भी हैं और प्रेरणा-स्रोत भी। देशरत्न डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ऐसे ही महापुरुष हुए जिन्होंने देश के प्रथम राष्ट्रपति पद पर विराजमान होकर उसे गौरवान्वित किया और आज भी प्रत्येक देशवासी उन पर गर्व महसूस करता है।

देशरत्न डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद की छवि हमारे मन में ऐसी है जैसे लगता है कि हम शताब्दियों की मनीषा का एक साथ साक्षात्कार कर रहे होते हैं। लगता है कि प्राचीन मनीषा का ज्ञान सार एक साथ नवीकृत करता हुआ कोई मेधावी विद्वान हमारे सामने उपस्थित हो। एक साथ प्राचीन की सुगंध एवं नया आलोक दोनों समेकित रूप से विद्यमान हो। देशरत्न डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद को मैं इसी रूप में स्मरण करता हूँ। भारतीय राजनीति और विचारधारा को दुनिया को जिन कुछेक राजनीतिज्ञों ने प्रभावित किया है उनमें देशरत्न डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आप इस बात से अवगत होंगे कि देशरत्न डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद

राष्ट्रपति पद से मुक्त होने के बाद बिहार की राजधानी पटना के सदाक़त आश्रम में रहने लगे थे। मेरी शिक्षा-दीक्षा चूंकि पटना में ही हुई थी इसलिए मैं भी उन्हीं सौभाग्यशालियों में से एक हूँ जिसे दूर-ही-दूर से सही, किंतु उन्हें देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। राजेन्द्र बाबू एक ऐसे ही महापुरुष थे जिनमें ज्ञान और अनुभव के लिए अतोषनीय भूख थी। सुई से लेकर समाजवाद तक सभी वस्तुओं का अनुसंधान करने के लिए उत्सुक रहते थे। बोलने की बजाय सुनना उन्हें अधिक पसंद था। आत्माभिमान का उनमें एकदम अभाव था, फिर भी अपनी क्षमताओं व त्रुटियों की जाँच स्वयं ही करना पसंद करते थे।

राजेन्द्र बाबू के व्यक्तित्व और कृतित्व का स्पर्श करना संस्कृति के महासिंधु में अगाहन करना है। उनका ऋषितुल्य व्यक्तित्व संस्कृति, सभ्यता, समाज और राजनीति का एक तरंगित ज्योतिपुंज है। इसी के आलोक में हम अतीत से लेकर मध्यकाल तक और वर्तमान से होते हुए भविष्य तक दृष्टि डाल सकते हैं। परंपरा और आधुनिकता के बीच एक सेतु की भूमिका निभाते हुए उन्होंने दोनों में अद्‌भुत समन्वय स्थापित किया।

डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने शास्त्र की अपेक्षा लोक को अधिक महत्त्व दिया। उन्होंने मनुष्य मात्र को सर्वोपरि मानने पर बल दिया। उनकी सांस्कृतिक दृष्टि अभिजन तक सीमित न होकर उस आमजन तक गई जो कई शताब्दियों से वंचित और उपेक्षित था तथा शास्त्रीय परंपरा में जिसे हाशिए पर जगह दी गई थी। आख़िर तभी तो उनके कार्यकाल में राष्ट्रपति भवन में जाना आमजन के लिए भी आसान था और राष्टपति भवन में रहकर भी अपनी पुरानी भारतीय संस्कृति, रहन-सहन, वेष-भूषा, खान-पान, आव-भगत में कोई परिवर्तन नहीं किया। ये वे लोग थे जिनके बिना हमारी संस्कृति, हमारा इतिहास अधूरा और अपर्याप्त रह जाता है। भारतीय राजनीति के इतिहास में राष्ट्रपति पद पर रहकर उन्होंने एक नए इतिहास की नींव डाली। कारण कि डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद रूढ़ परंपराओं को नहीं, बल्कि अच्छी परंपरा को वरेण्य मानते थे और इसी परंपरा को जीवन और जीवंतता का लक्ष्य मानते थे नारी की गरिमा और वंचित वर्ग के प्रति सम्मान का उनके मन में गहरा स्थान था।

26 जनवरी, 1950 ई॰ को हमारा देश पूर्ण गणतंत्र बना, क्योंकि उसी दिन से हमारा अपना संविधान लागू हुआ और भारतीय संविधान सभा द्वारा स्वीकृत सार्वभौम संप्रभुता संपन्न गणतंत्र की स्थापना हुई। डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद

देश के प्रथम राष्ट्रपति हुए। सारा देश एक भारतीय प्रशासन के अधीन हो गया। सार्वभौम संप्रभुतासंपन्न भारत के एक राष्ट्रपति होने के पश्चात् इस देश में संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली की स्थापना हुई जो भारतवर्ष के इतिहास में पहले अज्ञात थी।

डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने राष्ट्रपति पद की शपथ लेने के पश्चात् दो प्रमुख बातें कहीं – "हमारे लंबे और घटनाक्रम इतिहास में यह प्रथम अवसर है जब उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पश्चिम में काठियावाड़ और कच्छ से लेकर पूर्व में काकीनाड़ा और उत्तर-पूर्व में कामरूप व अरुणाचल तक एक विशाल देश का संविधान और एक संघ राज्य के छत्राधीन हुआ है। इसमें संपूर्ण देश के करोड़ों नर-नारियों के कल्याण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया गया है। दूसरी बात हमारे गणराज्य का उद्देश्य है अपने सभी नागरिकों को बिना किसी वर्ण अथवा वर्ग-भेद के न्याय, स्वतंत्रता और समता प्राप्त कराना तथा इसके विशाल प्रदेशों में बसने वाले तथा भिन्न-भिन्न धर्मों को मानने वाले भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलने वाले और भिन्न-भिन्न आचार-विचार वाले लोगों में भाईचारे की अभिवृद्धि करना। इन दो बातों का हमें सदा ध्यान रखना है। अधिकार की चर्चा के साथ अपने कर्त्तव्य पालन पर भी हमें दृढ़ रहना है।"

डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद का बारह साल से अधिक का राष्ट्रपतित्व काल भारत के इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय है, जिसमें एक गौरवशाली पद की गरिमा की सुगंध बसी हुई है। बारह वर्ष तक राष्ट्रपति के पद पर रहकर जिन परंपराओं और संवैधानिक परिपाटियों को डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने जन्म दिया और पोषित किया वह भारतीय गणराज्य की स्थिरता के लिए सबसे बड़ा वरदान है। संसदीय पद्धति और प्रजातंत्र पणाली को हमारे प्रथम राष्ट्रपति के सर्वोपरि योगदान का प्रमुख कारण उनका अद्‌भुत व्यक्तित्व था। संयम, समन्वय, सात्त्विकता, निराभिमान सौम्यता उनके स्वभाव के अंग थे। मेरा मानना हे कि उनके उज्ज्वल, राज़नीतिक या संवैधानिक दृष्टिकोण के कारण हमारे गणराज्य के वे वर्ष सबसे अधिक उत्कर्ष के थे। उनमें स्वाभाविक गरिमा थी।

दुनिया में संख्या की दृष्टि से सबसे बड़े लोकतंत्रात्मक गणराज्य और संसार की सबसे प्राचीन संस्कृति के उत्तराधिकारी और वह भी प्रथम राष्ट्रपति जिनका ऊपर से नीचे तक खद्दर का पहनावा– गंजी, धोती, कुरता, कुरते के ऊपर बंडी, सिर पर तेल-हीन छोटे-छोटे बालों पर लापरवाही से पहनी गई

गाँधीजी के नाम से मशहूर 'गाँधी टोपी' तथा देहाती किसान जैसी कद्दावर काया भेदती हुई चमकीली किंतु विनम्र आँखें, गझिन मूछें– ऐसे राष्ट्रपति डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने निःसंदेह अपने वैभवशाली राष्ट्रपति भवन को चकित निगाहों से देखा। कहना नहीं होगा कि डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने उस राष्ट्रपति भवन, को जो एक दिन पहले तक वायसराय भवन कहलाता था जिसमें वायसराय की गंध रची थी, जो पश्चिमी संस्कृति का नमूना था, जिसमें मांस और शराब के दौर चलते थे और जिसके अंदर बैठकर विदेशी शासकों ने भारत की आत्मा को कुचलने की और उसकी अकूत संपत्ति के दोहन की कुचक्र भरी योजनाएँ बनाई– ऐसे भवन को सचमुच राष्ट्रपति भवन बनाने में उन्होंने कोई कसर न छोड़ी। आज साज-सज्जा, कलाकृति, खान-पान आदि की दृष्टि से राष्ट्रपति भवन में जो भारतीयता की छाप है, उसका सारा श्रेय डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद को जाता है।

इस राष्ट्रपति भवन में रहकर डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने अँग्रेज़ों द्वारा भारत पर शासन करने के लिए बनाए गए क़ानून के स्थान पर भारतीय संविधान को स्थापित किया। दासता की बू जिनसे आ रही थी, ऐसी परंपराओं को प्रजातंत्रीय रूप दिया, विश्व की अन्य देशों की राजनीति में नवोदित गणराज्य की साख क़ायम की, चौकन्ने होकर उनकी मान-मर्यादा की रक्षा की और केन्द्रीय तथा प्रांतीय मंत्रिमंडलों पर नज़र रखा तथा उनके लिए आचार-संहिता बनवाया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि गाँधीजी ने नेहरू को जन नेता बनाया, तो डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने उन्हें कुशल प्रधानमंत्री बनाया। हर बात को सोच-समझकर करने वाले डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद के स्वभाव की वजह से राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के रिश्ते को उन्होंने बड़ी ख़ूबसूरती से निभाया। वे दोनों एक दूसरे के पूरक रहे– एक गंभीर तो दूसरा भावुक, एक अंतर्मुखी तो दूसरा बहिर्मुखी दोनों एक दूसरे के प्रशंसक थे, एक दूसरे का सम्मान करते थे। हालांकि यह भी सच है कि नेहरू जी डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद को राष्ट्रपति नहीं बनाकर राजगोपालाचारी को चाहते थे, किंतु सरदार पटेल जब प्रधानमंत्री के प्रबल दावेदार होने पर अटल हो गए, तो नेहरू जी को आख़िरकार झुकना पड़ा और राष्ट्रपति पद के लिए डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद के नाम पर उन्होंने अपनी सहमति दे दी, अन्यथा कहा जाता है कि यदि सरदार पटेल प्रधानमंत्री पद के दावेदार होते और नेहरू जी के नाम पर अपनी सहमति न देते तो पटेल ही भारत के प्रधानमंत्री होते, क्योंकि काँग्रेस की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के अधिकांश सदस्य सरदार पटेल को प्रधानमंत्री बनाना चाहते

थे, मात्र तीन सदस्य ही उनके विरोध में थे। दरअसल गाँधीजी की पसंद नेहरू जी थे, क्योंकि सरदार पटेल की सुपुत्री मणि बेन पटेल द्वारा प्रकाशित अद्यतन डायरी के अनुसार गाँधीजी की आकांक्षा थी कि यदि नेहरू जी को प्रधानमंत्री उन दिनों न बनाया गया होता, तो वह शांति से न बैठते और देश में उथलपुथल की आशंका थी। मगर गाँधीजी को संभवतः पटेल की राष्ट्रीयता पर पक्का यक़ीन था और इसके मद्देनज़र उन्हें प्रधानमंत्री न बनाए जाने पर वैसी किसी तरह की संभावना नहीं थी और वैसा ही हुआ भी। आज़ादी के बाद देश के 562 रियासतों को संगठित कर संघ में मिलाने में जो अदम्य साहस और दूरदर्शिता का परिचय पटेल जी ने दिया तथा नेहरू जी के प्रध ानमंत्रित्व काल में उनके कंधों से कंधा मिलाकर गृह मंत्री के पद को पटेल ने संभाला उसे ऐतिहासिक कहा जाएगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राष्ट्रपति पद पर राजेन्द्र बाबू को गौरवान्वित करने का श्रेय सरदार पटेल को जाता है। राष्ट्रपति भवन में रहते हुए तथा सर्वोच्च पद पर आसीन होते हुए भी डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद साक्षात् विदेह रहे, क्योंकि उन्हें किसी प्रकार की गर्वानुभूति नहीं हुई। शरीर उनका राष्ट्रपति भवन में अवश्य रहा, मगर उनकी आत्मा ने सादगी, विनम्रता, सौजन्य, निरभिमानिता, अपरिग्रह, निर्लोभ पर मैल नहीं बैठने दिया। डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद जैसे थे वैसे ही रहे और न ही उनके परिवार वालों ने उनके पद का दुरुपयोग कर उनकी धवलकीर्ति पर कोई ध ब्बा लगाया। उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसी सादगी, ऐसा भोलापन, ऐसा अपनापन, ऐसी सहजता और खुलापन था कि उनसे मिलते हुए किसी को कोई झिझक नहीं होती थी। वे सबके थे, सब उनके थे। डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद जो प्रभाव अपने ज़माने पर छोड़ा, उससे हमारा सिर ऊँचा हुआ। डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद इस युग की बहुत मज़बूत कड़ी थे, जिन्होंने अपने मुल्क के लिए अपनी क़ाबिलियत का इस्तेमाल किया और हर देशवासी के दिल में अपने लिए जगह बनाई।

बिहार के सीवान ज़िला के जीरादेई गाँव में 03 दिसंबर, 1884 ई॰ में जन्मे राजेन्द्र प्रसाद अपने पिता बाबू महादेव सहाय के पाँच संतानों में सबसे छोटे थे। इनके पिता बाबू महादेव सहाय के पिता यानी राजेन्द्र प्रसाद के दादा मिश्री लाल हथुवा राज के दीवान थे। महादेव सहाय की सबसे बड़ी संतान थी भगवती देवी जो दुर्भाग्यवश शादी के कुछ ही समय बाद विधवा होकर जीरादेई में रहने लगीं और जब राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति हो गए तब भगवती देवी भी राष्ट्रपति भवन में मृत्यु पर्यन्त रहीं। अपने माता-पिता की

चौथी संतान महेन्द्र प्रसाद राजेन्द्र प्रसाद के अग्रज थे जिन्होंने सदा अपने छोटे भाई का पथ-प्रदर्शन किया और आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। उस समय की परंपरा के अनुरूप डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने बिस्मिल्लाह के साथ उर्दू-फ़ारसी में अपनी प्रारंभिक पढ़ाई की, घर पर ही एक मौलवी साहब उन्हें पढ़ाते थे। फिर जब वे आठ वर्ष के हुए, तो उन्हें पढ़ने के लिए छपरा जाना पड़ा। फिर जब बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद एंट्रेस पास कर उच्च शिक्षा के लिए पटना आ गए तब राजेन्द्र प्रसाद को भी उनके साथ पटना आना पड़ा जहाँ उन्होंने टी॰के॰ घोष एकेडमी में नाम लिखवाया। पटना में मात्र एक वर्ष पढ़ने के बाद अपने अग्रज महेन्द्र प्रसाद के कोलकाता एफ॰ए॰ में पढ़ने के लिए जाने के कारण पुनः राजेन्द्र प्रसाद को छपरा लौटना पड़ा। एंट्रेस से पूर्व स्कूली शिक्षा यानी 'सेंटप' में राजेन्द्र प्रसाद सबमें अव्वल रहे। फिर कोलकाता विश्वविद्यालय से एंट्रेसी परीक्षा में उन्होंने प्रथम स्थान प्राप्त किया जो अपने आप में एक गौरव की बात थी। फिर कोलकाता विशविद्यालय के प्रेसिडेंसी कॉलेज में उन्होंने नामांकन कराया और 1907 ई॰ में एम॰ए॰ (सम्मान) पास किया। सन् 1910 ई॰ में बी॰एल॰ और सन् 1915 ई॰ में एम॰एल॰ में उत्तीर्ण हुए। एम॰एल॰ की परीक्षा में इतने अंक आए कि वहाँ तक अन्य कोई पहुँच नहीं पाया था। इस प्रकार शुरू से अंत तक की परीक्षाओं में उन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त की। एक बार उनकी उत्तर पुस्तिका में जाँचकर्ता प्रोफेसर ने लिखा- ''Examinee is better than examiner''

डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद के गर्हस्थ्य जीवन में एक विशेष घटना यह घटी कि बारह वर्ष की उम्र में ही सन् 1896 ई॰ में इनका विवाह राजवंशी देवी के साथ हो गया जिससे दो लड़के – मृत्युंजय प्रसाद और धनंजय प्रसाद क्रमशः 1906 तथा 1909 ई॰ में हुए।

सन् 1906 ई॰ में डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने जब एक स्वयं सेवक की हैसियत से अखिल भारतीय काँग्रेस के कलकता अधिवेशन में भाग लिया, तब कौन जानता था कि एक दिन यही स्वयं सेवक देश का प्रथम राष्ट्रपति बनेगा।

एक दिन डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद कुँए पर स्वयं पानी भर रहे थे। अपने कपड़े में साबुन लगाकर धो रहे थे। गाँधीजी ने देखा और मज़ाक़ में कहा, ''आखिर मेंने पटना हाईकोर्ट के वकील से कपड़े साफ़ करा लिए। मेरे यहाँ काम करने में उसी की सफलता का यह बहुत बड़ा चिह्न मिल रहा है। अब हमलोग यहाँ से कामयाब होकर जाएँगे।'' इधर चंपारण के किसानों को

उनकी गुलामी से मुक्ति दिलाने का काम चल रहा था और उधर गुजरात में वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में खड़े किसान सत्याग्रह कर रहे थे। डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद वहाँ भी गए। इस संबंध में वल्लभ भाई पटेल ने लिखा, सन् 1918 ई॰ के सत्याग्रह की लड़ाई के दिनों में डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद से पहली बार मिलना हुआ था। उसी समय से उनके प्रति मेरे दिल में जो आकर्षण उत्पन्न हुआ और हम दोनों के बीच प्रेम की जो गाँठ बँधी वह अब तक बँधी हुई है। डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की छाप हमारे दिल पर पड़ती है।''

चंपारण से लौटने के बाद डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद का जीवन एक सार्वजनिक जीवन बन गया। इस संबंध में वह अपनी आत्मकथा में लिखते हैं– ''चंपारण ने हमारे जीवन पर भी बहुत बड़ा असर ड़ाला। वहीं हमलोगों ने जाति–पांति का भेदभाव छोड़ा। ज़िंदगी में सादगी भी बहुत आई। हमलोगों के साथ नौकर थे वे सब एक–एक कर हटा दिए गए। अपने हाथों से कुँए से पानी भर लेना, नहाना, कपड़े साफ़ कर लेना, अपने जूठे बर्तन को धोना, रसोई घर में तरकारी बनाना, चावल धोना इत्यादि सब काम हम खुद किया करते थे। कहीं जाना होता तो तीसरे दर्जे में सफर करना और जहाँ तक हो सके, पैदल चलना, सब कुछ वहाँ हमने गाँधीजी से सीखा, आराम का जीवन छोड़ देना पड़ा।''

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद अनेक बार जेल गए। जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में 2 दिसंबर, 1946 ई॰ को केंद्र में जब अंतरिम सरकार बनी डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद कृषि एवं खाद्य मंत्री बने। 9 दिसंबर, 1946 ई॰ में लोक सभा भवन के केंद्रीय हॉल में हुई भारत की संविधान सभा के डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद स्थायी अध्यक्ष चुने गए। संविधान को निर्दोष और कालजयी बनाने के लिए जिस असाधारण दूरदर्शिता की दरकार थी वह डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद में मौजूद थी। इस पद पर उनका चुनाव इस बात का सबूत था कि भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उनका अपना ख़ास स्थान था और देश के नेताओं और जनता को डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद की असाधारण योग्यता में पूरा–पूरा विश्वास था। संविधान निर्माण के दौरान अध्यक्ष की हैसियत से डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने कई महत्त्वपूर्ण घोषणाएँ कीं, वे सभी ऐतिहासिक और राष्ट्र की थाती के रूप में संग्रहणीय हैं।

आजादी के बाद डॉ. राजन्द्र प्रसाद देश के ऐसे प्रथम राष्ट्रपति हुए जिन्हें सार्वजनिक जीवन में ईमानदारी की प्रतीक माना जाता है। महात्मा गाँध

ो ने जिस प्रकार देशवासियों की दशा देखकर धोती धारण किया उसी प्रकार देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने राष्ट्रपति जैसे राष्ट्र के सर्वोच्च पद पर विराजमान करते हुए भी अपनी सभ्यता व संस्कृति को नहीं छोड़ा। यानी भारतवासियों का पूरा प्रतिनिधित्व किया। किंतु आज जब इस देश के दूसरे राजनीतिज्ञों को महिमामंडित किया जा रहा है, देश में हीं नहीं, विदेश में भी उनके व्यक्ति व कृतित्व की श्रेष्ठता की दुदुंभी बज रही है ऐसे समय क्यों हम अपने प्रतिभा के धनी और सार्वजनिक जीवन में एक अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करने वाले राजनीति के साधक डॉ राजेन्द्र प्रसाद के प्रति मौन हो जाते हैं। क्या हमें ऐसा लगता कि इस देशरत्न के पति अपेक्षित सम्मान भाव नहीं है। सच कहा जाए तो आज भारतीय राजीती में जिस तेजी से गिरावट देखी जा रही है उसके परिप्रेक्ष्य में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के प्रति हम अपनी उदारता का परिचय देकर उनके साथ न्याय कर पाते। क्यों राजनीति की दुनिया में एक बड़ा राजनेता छोटा और एक बड़ा बन जाता हैं। क्यों कुछेक लोगों की कसौटी पर ही राजनेता कसा जाता है कि वह काल से परे होकर भी परे धकेल दिया जाता है।

देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद! यह नाम सामने आते ही उनके बचपन से युवा और फिर छात्र जीवन से सार्वजनिक जीवन तक की कितनी ही यादें आलोड़ित होने लगति हैं। फिर राष्ट्रपति भवन में उनके बिताए जीवन का तो कहना ही क्या। आज जब राजेन्द्र बाबू को याद कर रहा है, तो अपने साथ उनके साहित्य, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जीवन से संदर्भित अनेक संस्मरण उमड़ रहे हैं। मैं सोचता हूँ आखिर वह कौन सी चीज है जो अनायास किसी राजनीतिज्ञ को पढ़ने वाले की स्मृति का हिस्सा बना देती है। ऋग्वेद की ऋचाए हजारों साल तक, अनलिखी रहने के वाबजूद वाचिक में सुरक्षित बची रह जाती है?

आज जब हम मूल्यों की बात करते हैं, तो हमारे सामने राजेद्र बाबू के जीवन के मूल्य, सत, अहिंसा, ईमानदारी, निष्ठा, नैतिकता, आस्था, श्रद्धा और चरित्र की उज्ज्वलता आदि दिखाई पड़ती है, किंतु ये सभी मूल्य बढ़ते कदम और मिटती आस्था के घोर भौतिकवादी युग में पुरातत्व विमाग की संपत्ति बनकर रह गए है। आखिर क्यों? मुझे ऐसा लगता है कि आज चाहे जिस प्रकार से हो सफलता पाने की या राजनीति की सीढ़िया चढ़ने की जो स्वतः लोगों में बढ़ रही है उसके चलते ही समस्त शाश्वत मूल्य जो राजेन्द्र बाबू के जीवन में देखने को मिलते थे वे सब बाजार में बिक रहे हैं और यह बाजार सारे परिवार में भी घुसकर बाजार का लघु रूप बनकर रह गया है।

बचपन से ही ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित करने वाले राजेन्द्र बाबू अपनी कुशाग्र बुद्धि से सबको आकर्षित कर लेते थे। वह अपने अनुभव दूसरों को बतलाते और भेदभाव को दूर करने की शिक्षा देते थे। भारतीय राजनीति के इस पुरोधा का नाम आमजन के बीच बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उनके व्यक्तित्व में राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति की स्पष्ट झलक देखने को मिली। गाँधी जी के आंदोलनों में राजन्द्र बाबू ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय इतिहास में इनका नाम देशरत्न के रूप में प्रसिद्ध है।

इस बात में सच्चाई है कि जितना सम्मान राजेन्द्र बाबू को मिलना चाहिए था, उतना नहीं मिल पा रहा है। सरकार तथा उनसे जुड़ी संस्थाएँ उनकी स्मृति में सभाएँ तो कर रही हैं पर मुझे नहीं लगता कि उन्हें अपेक्षित सम्मान मिल रहा है। जबकि राजेन्द्र बाबू जिस प्रकार अपनी विलक्षण प्रतिभा, सादगी, सहजता, संस्कार और संस्कृति के लिए पहचाने जाते रहे हैं वे आज भी प्रासंगिक है। बिहार उनकी जन्मभूमि थी। बिहार से उन्हें प्यार था। 1962 में राष्ट्रपति पद से मुक्त होने के बाद किसी सरकारी बंगले में रहने की बजाय पटना के बिहार विद्यापीठ स्थित झोपड़ीनुमा मकान में रहने का फैसला किया। 28 फरवरी, 1964 को उनका देहावसान हो गया। राजेन्द्र बाबू दमा के मरीज थे। उनके सिरहाने के पास ऑक्सीजन रखा हुआ था। 28 फरवरी की सुबह जब उन्हें दिल का दौरा पड़ा, तो सिलिंडर को चालू किया गया। पता चला कि इसमें ऑक्सीजन है ही नहीं। किसी ने भी यह जहमत नहीं की थी कि पूर्व राष्ट्रपति के जीवन रक्षक के रूप में जो सिलिंडर रखा है उसमें ऑक्सीजन है या नहीं। आनन-फानन में पटना मेडिकल कॉलेज अस्पताल को खबर की गई। जब तक वहाँ से ऑक्सीजन का सिलिंडर लाया जाता, राजेन्द्र बाबू का निधन हो चुका था।

आंध्र प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री नीलम संजीव रेड्डी, जो बाद में राष्ट्रपति भी हुए, एक बार डॉ. राजेन्द्र प्रसाद से मिलने पटना आए। संयोगवश उस समय बिजली कटी थी। एक पूर्व राष्ट्रपति के रहने की जगह को देख नीलम संजीव रेड्डी रो पड़े। उन्होंने राजेन्द्र बाबू से हैदराबाद स्थित अपने घर चलने का अनुरोध किया। अनुरोधा को स्वीकारते हुए राजेन्द्र बाबू हैदराबाद स्थित मुख्यमंत्री आवास में कुछ दिन रहे। इस प्रवास के दौरान उनकी पत्नी की तबियत खराब रहने लगी। पत्नी की इच्छा अंतिम समय पटना में गजारने की थी। पत्नी की बीमारी और उनकी इच्छा को देख राजेन्द्र बाबू पटना लौट आए, पर पटना में उन्हें रहने के लिए अपना निवास नहीं

रहने के चलते सरकार ने छज्जुबाग स्थित पी.डब्लू.डी. के अतिथिगृह में रहने की व्यवस्था की जहाँ राजेन्द्र बाबू की पत्नी का निधन हुआ।

सरकारी आवास के संदर्भ में एक और बात काबिलगौर है कि यदि सरकार पी.डब्ल.डी. के उस अतिथिगृह में रहने देने के एवज में किराया लेना स्वीकार करती, तो शायद राजेन्द्र बाबू वहाँ और अधिक दिन रहते, लेकिन सरकार किराये लेने के लिए तैयार नहीं हुए। अखिरकार लोकनायक जयप्रकाश नारायण के सहयोग से बिहार विद्यापीठ परिसर के एक साधारण झोपड़ीनुमा मकान में राजन्द्र बाबू के रहने लगे, मगर चार महीने के बाद ही उनका निधन हो गया।

राजेन्द्र बाबू ने अपने जीवनकाल में ही उपहार के रूप में मिले सम्मान को पटना संग्रहालय को सौंप दिया था और जो पुस्तकें उनके साथ आई थी, उस बिहार विद्यापीठ स्थित मजहरूल हक लाइब्रेरी को दे दिया गया। राजेन्द्र बाबू की सादगी और ईमानदारी का एक उदहारण यह भी है कि गाँधी जी की सलाह पर गठित बिहार रिलीफ कमिटी के राजेन्द्र बाबू जब कर्त्ता-धर्त्ता बने तो चंदा के रूप में इकट्ठे और खर्च किए गए पैसे में कोई गड़बड़ी नहीं हुई और उनके हिसाब-किताब की गाँधी जी ने बड़ी तारीफ की। इसके पूर्व गाँधी जी ने काँग्रेस में भ्रष्टाचार प्रवेश कर गया है। मुझे लगता है कि काँग्रेस में आजतक वही भ्रष्टाचार फल-फूल और तेजी से पनप रहा है।

राजेन्द्र बाबू के व्यक्तित्व की एक और विशेषता यह थी कि वह अपने ज्ञान-वैभव का प्रभाव अपनी स्वाभाविक सरलता की वजह से प्रतिष्ठित नहीं करते थे। चाहे इतिहास हो, साहित्य हो, संस्कृति हो, राजनीति हो, भाषा शास्त्र हो, धर्म हो, वेदांत हो वह जिस उच्चतर पर अपने विचार व्यक्त करते थे उनकी महत्ता का भाव काफी रहता था।

राजेन्द्र बाबू शुरू से ही गंभीर प्रकृति के तो ही, परंतु राष्ट्रपति पर पर प्रतिष्ठित होकर उन्होंने और भी अपने सीमा निर्धारित कर ली थी। कहा जाता है कि राजेन्द्र बाबू नीलकंठ थे, क्योंकि वह गरल को कंठ से नीचे उतार कर वाणी में अमृत ही बनाए रखते थे और उसी का विस्तार करते थे। जब संविधान का निर्माणा हो रहा था, तो किसी सदस्य के अनुचित आरोप से असंतुष्ट हो राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के समक्ष जाकर उसकी अध्यक्षता छोड़ने की उन्होंने इच्छा व्यक्त की थी। तब गाँधीजी ने उनसे कहा था कि अमृत पीने वाले तो बहुत हैं पर मेरे पास अकेले राजेन्द्र बाबू ही तो जहर पीने वाले हैं। वह जहर से घबरा जाएँगे, तो कौन पीएगा। बात बहुत सच है। राजेन्द्र बाबू

ने नीलकंठ की तरह अनेक बार सहज भाव से जहर इलाहल पीया और हजम किया।

मौजूदा भारतीय राजनीति के राजनेताओं की करगुजारियों के संदर्भ में जब हमारी नजर राजेन्द्र बाबू जैसे राजनीतिज्ञों के व्यक्तित्व-कृतित्व पर जाती है, तो पीड़ा इसलिए होती है कि राजेन्द्र बाबू जैसे नामचीन राजनीतिज्ञों को राजनीतिक जगत ने भुला दिया या जो खेमेबंदी से बाहर रहे उनका व्यक्तित्व--कृतित्व समय के खाँचे में नहीं बैठ पाया। क्या हम-आप भी इतने कृतघ्न-इतने कृपण हो गए हैं और भयभीत भी इतने कि हम अपने श्रेष्ठ राजनीज्ञ राजेन्द्र बाबू की स्मृति में एक दीप भी नहीं जलाते। राजेन्द्र बाबू की स्मृति को जिंदा रखने के लिए अधिक नहीं छोटे प्रयासों की ही आवश्यकता है। कुछ इसी ख्याल से इस संस्मरण में उनकी स्मृति को संजोने का मैंने प्रयास किया है। वैसे एक अप्रतिम प्रतिज्ञा को याद करना हम सबका पुनीत कर्त्तव्य बनता है। मौलिक प्रतिभा के धनी भारत के राजनीतिज्ञों में उस समय के राजनेता राजेन्द्र बाबू की प्रतिभा के कायल थे।

13 मई, 1962 ई० को राष्ट्रपति भवन से विदा लेकर जब डॉ० राजेन्द्र प्रसाद पटना के सदाक़त आश्रम में रहने लगे तब जब कभी उनको शारीरिक कष्ट हो और डाक्टर देखने को आवें तब उनसे डॉ० राजेन्द्र प्रसाद कहते थे – ''डॉक्टर साहब! शरीर के सभे कल-पुर्जा घिस गइल बा, धीरे-धीरे सभे अपना काम करल बंद करीं केतना के ठीक करब, जायँ दीं – एसन शरीर से कौनो काम न लेवे के ठहरल तब एकरा जाही के चाहीं।'' शरीर के प्रति ऐसी विदेहता के बावजूद उन्होंने सार्वजनिक काम के लिए समय देना नहीं छोड़ा। देहावसान के दिन 28 फरवरी, 1963 ई० को पटना विश्वविद्यालय में दीक्षांत भाषण देने का कार्यक्रम निश्चित कर दिया गया था। भाषण लिख चुके थे। छप गया था। उसी दिन संध्या को अचानक उन्हें ज्वर आ गया। पटना विश्वविद्यालय नहीं जा सके। बिहार विधान सभा के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने पटना विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का लिखित भाषण पढ़कर सुनाया। 28 फरवरी, 1963 ई० को उनके देहावसान की ख़बर सुनकर पटना शहर के साथ देश-विदेश के लोगों का उनके दर्शन के लिए आना शुरू हो गया। दूसरे दिन दोपहर को राजकीय सम्मान के साथ पटना के बाँसघाट पर उनका अंतिम संस्कार किया गया। उनका नश्वर शरीर तो अब नहीं है, मगर उनके सारे कार्य जीवित हैं और सदा जीवित रहेंगे।

<u>लौह पुरुष सरदार पटेल</u> :
जो राष्ट्रीय एकता व अखंडता के प्रतीक थे

देश इन दिनों अस्मिता के संकट और विखंडन की ताकतों से एक साथ जूझ रहा है। एक ओर कश्मीर में अलगाववादियों के द्वारा जहाँ भारत की राजसत्ता पर लागातार आक्रमण जारी है, वहीं दूसरी ओर पूर्वोत्तर राज्यों के आतंकवादियों ने अमन-पसंद लोगों की जिंदगी को दूभर बना डाला है। फिर असम के अल्फाइयों ने भी इधर कम कहर नहीं ढाला है। स्वाभाविक है उस लौह पुरुष सरदार पटेल की आज याद आना जिनकी उपस्थिति में इन सभी समस्याओं की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। अनायास ही आज हम सबों के मुँह से यह आवाज आ जा रही है, काश! आज सरदार पटेल हमारे बीच होते, तो कदाचित जितनी समस्याओं का आज हमें सामना करना पड़ रहा है, उनमें से एक भी शायद पैदा ही नहीं होती। नेहरू जी ने कश्मीर तथा तिब्बत की समस्या को सरदार पटेल से अपने हाथ लेकर आज किस मजबूरी तक हमें पहुँचा दिया। कश्मीर आज हमारा सर-दर्द बन गया। इस बात का खुलासा करते सत्ता के हुकमरानों को आज भी डर लगता है कि इस सचाई को सामने लाने पर जवाहरलाल नेहरू जी का कहीं कद न छोटा हो जाय। यही कारण है कि देश के सर्वोच्च शिखर पर आज तक बैठे सत्ताधारियों ने सरदार पटेल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को उजागर करने में कंजूसी करते रहे, सकुचाते रहे। किंतु वे सचाई पर परदा बहुत दिनों तक डाले नहीं रह सकते। समय ने करवट बदली है और असलियत अब जनता के सामने आने लगी है। मौजूदा आर्थिक संकट, राजनीति में पनप रहे चमचावाद, स्तरहीनता के फलस्वरूप समाज में हर स्तर पर ह्रास तथा देशभक्ति की भावना लोगों में लगातार लुप्त होते देख हम सब आज बाध्य हो रहे हैं, सरदार पटेल को याद करने के लिए। माखनलाल चतुर्वेदी जी की ये पंक्तियाँ हमें याद आ रही हैं–"दुनिया की मर्दुम शुमारी गलत हो रही है। यथार्थ में दुनिया में दो चार ही गिने-चुने जीव रहते हैं। उन्हीं की गिनती दुनिया भी करती है और उन्हीं का मत दुनिया का मत।"

इसलिये आज जरूरत है सरदार पटेल के विचारों एवं आदर्शों को घर-घर तथा जन-जन तक पहुँचाने की, क्योंकि देश की एकता और

अखण्डता की रक्षा के लिये एकजुट रहने की आवश्यकता है, ताकि भारत माँ के निकट बेड़ियों की झनझनाहट तक नहीं पहुँचने पाए। जब-जब देश को खण्डित करने वाली शक्तियाँ अपना सर ऊपर उठाती हैं, भारत के लौहपुरुष तथा राष्ट्र की एकता के प्रतीक सरदार पटेल की याद बरबस हम सभी देशवासियों के मानस-पटल पर छा जाती है। किंतु दुख की बात यह है कि आज हर मंच से देश की एकता तथा अखण्डता के नारे नेताओं द्वारा लगाए जा रहे हैं पर नाम उनका लिया जा रहा है जिनका भारत के स्वतंत्रता-आंदोलन में योगदान करने की बात तो दूर, उन दिनों उनकी पैदाइश भी नहीं हुई थी। यह कैसी विडंबना है।

लौहपुरुष व्यक्ति से अधिक एक प्रतीक थे और प्रतीक से भी बढ़कर इतिहास के परिच्छेद। उस प्रतीक को संबंधों के मजार का दीया बनाने का प्रयास हम करेंगे, तो सरदार पटेल के व्यक्तित्व को बौना बनाएँगे, जो कभी भी न्यायोचित नहीं होगा। हमने यदि अपने राष्ट्र पुरुषों को बौना बनाया, तो हमारा राष्ट्र भी बौना हो जाएगा। जाने वाला चला जाता है और छोड़ जाता है समय की शिला पर एक ऐसी लकीर, जिस पर इतिहास हो या साहित्य, समाज हो या संस्कृति, अपने बौने पैरों से उन लकीरों का बोध बनाता है। सहज और सरल व्यक्तित्व की ऐसी रेखाएँ हैं, जिनमें वक्रता की कोई गुंजाइश नहीं होती। सरदार पटेल का व्यक्तित्व भी ऐसा अदम्य साहस और शौर्य से भरा था कि हजार चाहने के बावजूद भी उसे वक्र बनाने में स्वयं वह बौना हो जाएगा, केवल दीवार पर लिखे को पढ़ने की जरूरत है जरा देखें इन पंक्तियों को-

वक्त जब गुलशन पे पड़ा था,
तो हमने खून दिया,
अब बहार आई हैं
तो कहते हैं तेरा काम नहीं

आज जहाँ एक तरफ हमारे यहाँ लोग राष्ट्रीय एकता की दुहाई देते नहीं थकते और दूसरी ओर बेशर्मी से ऐसे काम करते हैं जो राष्ट्रीय एकता की जड़ों पर प्रहार करने वाले हैं। मुश्किल यह है कि हमारे मन में आज राष्ट्रीयता का एक मूल आधार हमारा संविधान है। उसकी प्रस्तावना में स्वतंत्रता और समता के साथ बंधुता का अल्लेख करते हुए कहा गया है कि यह मूल्य व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता तभी मजबूत हो सकती है जब देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उचित सम्मान मिले और साथ ही

हममें भाईचारे का विकास हो। इसका एक निहितार्थ यह है कि यदि देश के किसी नागरिक को चोट पहुँचाई जायगी, उसके साथ भेद-भाव किया जायगा, तो राष्ट्रीय एकता कभी मजबूत नहीं होगी।

आज भारत के अनेक इलाकों में जो असंतोष, विद्रोह और अलगाव की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं उनके पीछे भी कारण वही है। हमने अभी तक आबादी के बड़े भाग को आर्थिक और सामाजिक न्याय से वंचित रखकर उसकी जायज आकांक्षाओं को प्रताड़ित किया है। बेरोजगारी और आय के असमान वितरण ने इस समस्या को और जटिल बनाया। गलत आर्थिक नीतियाँ, जो ऊपर के पांच-सात प्रतिशत लोगों की हित-पोषक रही, अपनाई गई। सामाजिक न्याय के लिये संविधान में जो व्यवस्था की गई थी उसे राष्ट्रीय एकता का तमाशा करने वाली पार्टियों, उच्च वर्गों और राजनेताओं द्वारा प्रताड़ित किया गया। सदियों से जिन जातियों के गर्व को वर्ण-व्यवस्था ने कुचला, उन्हें आज भी मानवीय गरिमा का एहसास नहीं कराया जा सका है। आरक्षण व्यवस्था को, जो वर्ण-व्यवस्था को तोड़ने का कारगर हथियार है, जातिवाद को बढ़ाने वाला कहकर पेश किया गया तथा समाज के कुछ वर्गों को भड़काया गया। इन सब के चलते राष्ट्रीय एकता का वह स्वप्न पूरा नहीं होगा, तो सरदार पटेल के सपनों का भला क्या होगा? इस पर आज हम सबों को गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

एक बात और, जिसके संदर्भ में सरदार पटेल के नाम को घसीटने का असफल प्रयास किया जा रहा है, जिसकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट कराना चाहूँगा। स्वतंत्रता-आंदोलन के वक्त हमने धर्म, नस्ल, संस्कृति, भाषा और जाति को राष्ट्रीयता का आधार कभी नहीं माना। हमारे स्वतंत्रता-आंदोलन में धर्म के आधार पर बने दो राष्ट्रों के सिद्धांत का लगातार विरोध किया गया था लौहपुरुष सरदार पटेल के द्वारा। बल्कि सच तो यह है कि स्वतंत्रता-आंदोलन के शुरु से ही हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी आदि फिरकों का भेद समाप्त करके इस देश को सभी भारतवासियों का देश मानने का आग्रह उन्होंने किया था और अथक प्रयास के बावजूद भी धर्म के नाम पर जब भारत को बँटते देखा, तो अंत में उनका कहना था कि यदि धर्म के नाम पर ही देश को बाँटना है, तो धर्म के आधार पर देश की पूरी आबादी का बँटवारा भी हो जाना चाहिए, अर्थात् हिंदू हिंदुस्तान में और मुस्लिम पाकिस्तान में। किंतु उनकी वह बात भी नहीं मानी गयी। फलतः आज जो कुछ हो रहा है वह बस आपके सामने है। काश! सरदार की वह सलाह उस समय यदि मान

ली गई होती, तो कदाचित आज सांप्रदायिकता की आग से हमें छुटकारा मिल गया होता।

"काश! आज सरदार पटेल हमारे बीच होते, तो कदाचित् जितनी समस्याओं का आज देश को सामना करना पड़ रहा है, उनमें से एक भी शायद पैदा ही नहीं होती।" ये वाक्य हैं भारत के पूर्व प्रधान मंत्री चौधरी चरण सिंह के, जिन्होंने दो दशक पूर्व सरदार पटेल की जयंती के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका के लिए मुझे भेजे गये अपने संदेश में कहा था।

सरदार पटेल आजादी के उन प्रथम पंक्ति के नेताओं में हैं, जो हमेशा प्रासंगिक रहेंगे। पटेल जैसे निर्णायक, ईमानदार, साहसी, समाज की गहरी समझ रखने वाले, निर्भीक और दो-टूक वाले नेता की हमारी राजनीति में हमेशा जरूरत थी और आज भी है। देश की आंतरिक समस्याओं की गहरी समझ रखने के साथ ही प्रशासनिक ढाँचे को खड़ा करने में पटेल की भूमिका अद्वितीय है। यह पटेल की दूरदर्शिता ही थी कि उन्होंने आजादी के बाद भी बहुत से अँग्रेज अधिकारियों को नहीं बदला। शुरुआती वर्षों में भारतीय प्रशासनिक सेवा को जितना सम्मान और स्वाभिमान किसी ने दिया तो वे पटेल ही थे। मेरा ख्याल है कि ऐतिहासिक विभूतियाँ अपने को एक ही रूप में खुद का बार-बार नहीं दोहरातीं और ना ही परिस्थितियाँ ही खुद को वापस बुलाती हैं। इस अब भारतीय राजनीति में फिर कोई पटेल होगा, ऐसा कहना मुश्किल है। हालांकि ऐसे नेता की आज सख्त जरूरत है। भारत के भौगोलिक, राजनीतिक और एकता के रूप में आज जिस बात को देखने की हमें आदत पड़ गयी है, वह सरदार पटेल ने ही दी है। यह एक ऐसा काम था, जो शायद और कोई और नहीं कर सकता था। नियति ने यह काम सरदार पटेल के कंधों पर डाला और जिस तरह से वी. पी. मेनन के साथ उन्होंने इसे पूरा किया, वह आज किसी भी देश के लिए ऐतिहासिक गर्व की बात है।

सरदार पटेल को किसी वाद या विचारधारा में बाँध कर देखना ऐतिहासिक अपराध होगा। सबकी अपनी एक अलग दृष्टि और संवेदनशीलताएँ होती हैं। गाँधी जी के सर्वाधिक निकट लोगों में जिस तरह से पटेल बने रहे, वह कोई हिंदूवादी नहीं कर सकता था। पटेल ने इस बात पर बल दिया कि हमारा लक्ष्य सभी वर्गों के नागरिकों को जितना जल्दी हो सके समानता के स्तर पर लाने तथा समस्त वर्गीकरणों, भेदों व विशेषाधिकारों को समाप्त करने का है। बहुसंख्यक व अल्पसंख्यक दोनों को उनके दायित्व का स्मरण कराते हुए उन्होंने कहा था कि यह सबके हित में है कि सेक्युलर राज्य की वास्तविक

और प्रामाणिक नींव डाली जाए। हमें यह समझना होगा कि भारत में केवल एक ही समाज है।

इसी प्रकार सरदार पटेल सांप्रदायिकता के विरोधी और धर्मनिरपेक्षता के लिए पूरी तरह प्रतिबद्ध थे। उन्होंने कई बार सार्वजनिक रूप से सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक संगठनों का विरोध और धर्मनिरपेक्षता में अपनी आस्था घोषित की। जून, 1947 में भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने का सुझाव खारिज करते हुए उन्होंने कहा था-'हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे यहाँ अल्पसंख्यक भी हैं, जिनकी सुरक्षा हमारी ही प्राथमिक जिम्मेदारी है। राज्य सबके लिए है और उसमें जाति या धर्म का कोई भेदभाव नहीं है।'

हमारे देश के स्वाधीनता-आंदोलन और स्वतंत्र गणराज्य के नवनिर्माण में अपनी अग्रणी जननेता सरदार वल्लभभाई पटेल सर्वत्यागी देशभक्त निर्भय राष्ट्रवादी थे। अपने गंभीर व्यक्तित्व, त्यागमय चरित्र, कूटनीति कौशल और संकल्पनिष्ठा के बल पर वे स्वतंत्र के प्रधानमंत्री के पद के सच्चे अधिकारी माने जाते थे। मगर गाँधी जी की इच्छा से पदमोह त्यागकर, उन्होंने नेहरू जी के नेतृत्व में राजसत्ता संभाली और कर्तव्य निष्ठा तथा अनुशासन का जीवन आदर्श प्रस्तुत किया।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी डायरी में लिखा था कि आज हम जिस भारत की बात करते हैं और जिसके बारे में सोचते हैं, वह सरदार पटेल की व्यापक राजनीतिक सूझबूझ और दृढ़ प्रशासन के कारण ही मुमकिन हुआ है। देश की आजादी के समय समूचा देश छोटे-छोटे भू भाग में विभाजित था। इनके शासको को भारत या पाकिस्तान में से किसी एक में विलय का फैसला लेने को कहा गया था। जब अँग्रेजों ने भारत छोड़ा, तब वे स्वतंत्र शासक बनने के स्वप्न देख रहे थे। उन्होंने तर्क दिया कि स्वतंत्र भारत की सरकार उन्हें बराबरी का दर्जा दे। उनमें से कुछ लोग तो संयुक्त राष्ट्र संगठन को अपना प्रतिनिधि भेजने की योजना बनाने की हद तक चले गए थे। ऐसे दुविधापूर्ण समय में 1947 से 1949 के बीच दो वर्षो की अवधि में उन्होंने रिकॉर्ड समय में 565 देशी रियासतों को भारत से जोड़ने में कामयाबी पायी थी। इसी प्रकार महात्मा गाँधी ने भी साफ कहा था कि राज्यों और रजवाड़ों की समस्य को कोई सुलझा सकता है तो वह है सरदार पटेल 15 अगस्त, 1947 तक केवल जम्मू-कश्मीर, जूनागढ़ और हैदराबाद को छोड़कर सभी देशों रजवाड़ों को भारत में विलय का राष्ट्रवादी औचित्य समझा देना एक भगीरथ प्रयास था। हैदराबाद का निजाम, जो 'स्वतंत्रता,

पाकिस्तान अथवा युद्ध' पर अड़ा हुआ था, वह भी भारत में विलय करने के लिए राजी हो गया।

1875 के 15 दिसम्बर को गुजरात के नाडियाद में जन्में पटेल 1890 में बड़ौदा रियासत के तहत जिले में स्कूली शिक्षा प्राप्त की और 1892 में महज 17 वर्ष की उम्र में झावेरबा के साथ उनका विवाह हुआ था। 1900 में लॉ की शिक्षा हासिल करने के बाद गोधरा में बतौर क्रिमिनल लॉयर वकालत शुरुआत की। बाद में वे अहमदाबाद आ गए थे। 1910 में वकालत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे इंगलैंड गए। 1918 में खेड़ा सत्याग्रह के दौरान गाँधी जी ने 1921 में अहमदाबाद में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के राष्ट्रीय अधिवेशन के दौरान पटेल को गंभीरता से सुना गया और देश ने उनकी सांगठनिक क्षमता को समझा। फिर 1924 में अहमदाबाद म्यूनिसिपल बोर्ड के वे अध्यक्ष चुने गए। 1927 में कराची में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के अधिवेशन के दौरान वे अध्यक्ष चुने गए। फिर 1947 में आजाद भारत के सरदार पटेल पहले उपप्रधानमंत्री नियुक्त हुए। 15 दिसम्बर, 1950 को सरदार पटेल का निधन हो गया। सरदार पटेल उन गिने-चुने लोगों में से थे, जो दो-टूक में बात करते थे और किसी वर्ग विशेष की भावनाओं को तुष्ट करने या उन्हें खुश करने के लिए नहीं, बल्कि तथ्यों पर बात करते थे। पटेल और गाँधी ही उस समय ऐसे नेता थे जो हिंदू तथा मुसलमानों को भी डांट सकते थे और ये दोनों इनकी बात सुनते थे। लेकिन वर्तमान दौर की भारतीय राजनीति में ऐसा कोई नेता नहीं दिखता बल्कि सच तो यह है कि आज या तो लोग हिंदुओं को खुश करने की बात करते हैं या मुसलमानों को, या तो दलितों को खुश करने की बात करते हैं या सवर्णो को। हमारी राजनीति और नेताओं का चरित्र ऐसा हो गया है कि वे वर्गीय हितों को ध्यान में रखकर ही बात करते हैं। इसलिए आज देश और समाज को समग्रता को सामने रखकर सबके हित की बात करने को जो जरूरत है, वही चीज सरदार पटेल को प्रांसगिक बनाती है और उन्हें किसी खाँचे से मुक्त करती है। मेरा स्पष्ट मत है कि अगर सरदार वल्लभ भाई पटेल भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बनते, तो कश्मीर की समस्या हमारे सामने आज नहीं होती और हम चीन से पहली लड़ाई में नहीं हारे होते। प्रधानमंत्री नेहरू की लिखी हुई सरदार पटेल की चिट्ठियाँ यह बताती हैं कि किस तरह से उन्होंने बार-बार चीन के इरादों से नेहरू को सचेत किया था। नेहरू पटेल ने बार-बार कहा कि चीन पर भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि चीन के

इरादे ठीक नहीं हैं। इसी तरह कश्मीर के बारे में पटेल लगातार सचेत करते रहे। एक आम भ्राँति देशवासियों में गाँधी-नेहरू परिवार और उनके बाद काँग्रेस जनों द्वारा उस समय फैलायी गयी कि नेहरू वैश्विक राजनीति को ज्यादा गहराई से समझते थे, जबकि पटेल की सारी समझ आंतरिक मामलों को लेकर ही थी। मेरे ख्याल से यह एक गलत अवधारणा लोगों में फैलायी गयी, क्योंकि अगर केवल पटेल-नेहरू के पत्राचार को देखते हैं, तो हम पाते हैं कि पटेल को वैश्विक राजनीति में आने वाले उतार-चढ़ाव की गहरी जानकारी रहती थी और वैश्विक मामलों में एक अंतर्दृष्टि भी थी। इसी अंतदृष्टि के चलते वे बार-बार नेहरू जी को आगाह करते रहे कि चीन के साथ कैसे रिश्ते होने चाहिए।

बहुमुखी व्यक्तित्व के सरदार वल्लभभाई पटेल मजबूत इच्छाशक्ति के पुंज तो थे ही, त्वरित फैसले तथा दो टूक अपनी बात रखने के भी आदी थे। ठोस कार्रवाई के लिए जाने जाने वाले सरदार पटेल एकता में विविधता की भावना के हामी भी थे। उनमें देशभक्ति का उदात्त भाव था।

सरदार पटेल के सख्त नजरिए और तौर-तरीकों से सहमत या असहमत हुआ जा सकता है, लेकिन भारत की एकता को सहेजने में उनकी प्रतिबद्धता पर प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। उन्होंने जिसे सच समझा उसी के पक्ष में हमेशा लड़े। इसी प्रकार उन्होंने पार्टीगत पदक्रम का पूरा सम्मान करते हुए अपनी नाराजगी जताने के लिए हमेशा प्रक्रियात्मक मार्ग को अपनाया। इसी के साथ उन्होंने तमाम असंतोष और मत-भिन्नता के प्रति भी पूरा सम्मान दिखाया। पटेल के नेतृत्व का मर्म तो उनके न्यायप्रिय व्यवहार में निहित है, जिसके बल पर उन्होंने सभी के साथ समान व्यवहार किया। बहरहाल, भले ही सरदार पटेल का स्वर और लहजा कड़ा था, कभी-कभी संशय पूर्ण भी, लेकिन दावे के साथ कहा जा सकता है कि वह अल्प संख्यकों और बहुसंख्यकों के बीच सौहार्द बनाए रखने के कट्टर हामी थे।

जहाँ तक सरदार पटेल और जवाहर लाल नेहरू के साथ संबंध का सवाल है, भले ही गाँधी जी के कहने पर नेहरू प्रधानमंत्री बने और सरदार पटेल उनके मंत्रिपरिषद् में उपप्रधानमंत्री, लेकिन दोनों के संबंधों में कभी खटास नहीं आया। नेहरू जी भी सरदार पटेल की राष्ट्रवादिता और कर्मठता को देखते हुए उनका सम्मान करते थे। आखिर तभी तो सरदार पटेल के देहावसान के बाद उनके दोनों संतानों-बेटी मणिबेन और बेटे डाहयाभाई को नेहरू ने संसद में भेजा। मणिबेन दक्षिण कैरा लोकसभा सीट से जहाँ 1952

में और फिर आनंद सीट से 1957 में काँग्रेस के टिकट पर निर्वाचित हुई, वहीं 1962 में गैप होने के बाद उन्हें छह साल के लिए राज्यसभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित करवाया। इसी प्रकार मणिबेन द्वारा इंदिरा सरकार के द्वारा देश में लगाए गए आपातकाल का विरोध करने की वजह से मणिबेन जतना पार्टी के टिकट पर 1977 में मेहसाना से जीतीं। वह एक बहुत ही परिपक्व राजनीतिक कार्यकर्ता थीं जिनके नाम पर ही वह शहर बसा है, जो कुछ पहले तक नरेन्द्र मोदी का विधान सभा क्षेत्र हुआ करता था। डाह्या भाई पटेल जो अपनी बहन मणिबने से तीन साल छोटे थे, बंबई में एक बीमात कंपनी में काम करते थे, को भी काँग्रेस के टिकट पर 1957 और 1962 में लोकसभा के सदस्य रहे। बाद में वह फिर 1970 में राज्यसभा के सदस्य बने और मृत्युपर्यन्त रहे।

वर्तमान दौर की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के मद्देनज़र सरदार पटेल की प्रासंगिकता इसलिए भी बढ़ गई है, क्योंकि आज की भौतिकवादी दुनिया में जहाँ नैतिक संकट है, वहीं हमारे देश भारत में देशभक्ति की भावना का तेजी से ह्रास हो रहा है। जाति, धर्म, भाषा तथा क्षेत्रीयता के नाम पर हम एक-दूसरे से दूर होते चले जा रहे हैं। आपने देखा नहीं पिछले दिनों गाँधी और पटेल की जन्मभूमि गुजरात विधानसभा चुनाव, 2017 के चुनाव में जाति और धर्म को आधार बनाकर प्रायः सभी राजनीतिक दलों ने खुलकर राजनीति की।

सरदार पटेल एक किसान नेता थे और 1928 में हुए ऐतिहासिक बारदोली के किसान आंदोलन को उन्होंने नेतृत्व किया था जिसमें उन्होंने देशवासियों को बारदोली सत्याग्रह और किसान आंदोलन का संदेश दिया था कि अहिंसा, असहयोग और नागरिक अवज्ञा का इस्तेमाल करते हुए बड़ी से बड़ी ताकत को झुकाया जा सकता है।

उल्लेख्य है कि जब अँग्रेज हुकूमत ने भू-राजस्व बढ़ाने की घोषणा की थी, तो विरोध स्वरूप सरदार पटेल की अगुवाई में किसानों द्वारा शुरू किए गए इस आंदोलन के वक्त भू-राजस्व नहीं चुकाने और ब्रिटिश सरकार के हितैषियों का सामाजिक बहिष्कार करने की घोषणा की गयी थी। बारदोलीं का यह सत्याग्रह और किसान आंदोलन कई महीनों तक चला और आखिरकार ब्रिटिश सरकार को नाक रगड़नी पड़ी, क्योंकि इस आंदोलन को देशभर का समर्थन मिला जिसका पूरा श्रेय सरदार पटेल इसलिए गया क्योंकि इसे गाँधी जी का दिशा-निर्देश मिला, मगर जमीनी स्तर पर सभी काम सरदार

पटेल ने ही किया था। कुछ इसी ख्याल से बारदोली की महिलाओं ने लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल को 'सरदार' की उपाधि दी थी और उन्हें अपना मुखिया चुना। इस आंदोलन से एक संदेश यह भी गया कि अगर एक बारदोली का एक तालुका के किसान इतनी बड़ी और ताकतवर हुकूमत को घुटनो पर गिरा सकते हैं, तो किसान एकजुट होकर क्या नहीं कर सकते हैं? वर्तमान दौर में देशभर के किसानों की जो बदतर स्थिति है और उसके समक्ष जो अनेक समस्याएँ खड़ी हैं उसका सामना एकजूट होकर ही किया जा सकता है और उसका हल निकाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त सरदार पटेल ने भूमि सुधार को लेकर देशभर में किसानों के लिए अलख जगाई और यह संदेश दिया कि जो खेत जोतता है, जमीन उसी की होनी चाहिए।

सरदार पटेल ने कृषि कार्य में चल रही बँधुआ मजदूर प्रथा पर रोक लगाई। इस दृष्टि से देखा जाए, तो जिस प्रकार सरदार पटेल के व्यक्तित्व में जो अदम्य साहस, दूरदर्शिता और राष्ट्रीयता की भावना थी उससे वर्तमान दौर में देशवासियों को उनसे प्रेरणा लेने की जरूरत है। इस लिहाज से लौहपुरुष सरदार पटेल आज के दौर में ज्यादा प्रासंगिक हैं।

लाल बहादुर शास्त्री :
जो गरीबी में पलकर, भारतीयता में ढलकर प्रधानमंत्री के पद पर आसीन हो राष्ट्र के जन मानस मं रेखांकित हो गए

किसी व्यक्ति की महानता की परख इए बात से की जाए कि वह कहाँ से चला और कितनी ऊँचाई तक पहुँचा। इस दृष्टिकोण से लाल बहादूर शास्त्री धरती के बहुत नीचे से उठे और हिमालय के शिखर पर अपनी जीवन पता फहरा दिए। गरीबी में पले और भारतीयता में ढले शास्त्री जी अपनी निष्ठा, कर्मठता, ईमानादारी और सीधे सच्चे स्वभाव एवं साधारण रहन-सहन के कारण प्रधानमंत्री के पद पर आसीन होकर राष्ट्र के जन-मानस में रेखांकित हो गए।

1965 के भारत-पाक युद्ध के वक्त भारत में अनाज की कमी हो गई थी और अमरीका घटिया गेहूँ की आपूर्त्ति भारत को कर रहा था और बाद में उसे भी बंद करने की धमकी दे रखा था, शास्त्री जी ने राष्ट्रवासियों को आह्वान करते हुए कहा; "हम कए वक्त भूखे पेट रह लेंगे, पर अपनी आन पर आँच नहीं आने देंगे।" सप्ताह में एक समय अन्न न खाने की उनकी अपील को लोगों ने खुशी से स्वीकार किया। यह था शास्त्री जी के प्रति देशवासियों का प्यार और सम्मान जो विरले किसी राजनेता को मिल पाता है। 'जय जवान जय किसान' का नारा देने वाले लाल बहादूर शास्त्री की 1 सितंबर 1965 की वह बात जब पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल अयूब खान ने कश्मीर पर टैंको से हमला कर दिया था, का बिलगौर है। जिसमें शास्त्री जी ने कहा था, 'जीतने के लिए जो भी जरूरी हो करो, क्योंकि हारना नहीं है।" भारतवासियों की याद की याद है कि भारत के पुराने टैंकों ने ही, पाकिस्तानी टैंकों का दिवाला निकाल दिया और दो सप्ताह के युद्ध में ही पाकिस्तान का जोश ठंडा हो गया। शास्त्री जी कद में छोटे पर का में बड़े थे।

आज हमारे देश के कर्णधार गाँधी जे.पी. शास्त्री जी तथा पटेल जैसे महान पुरुषों की खास तौर पर उनकी जयंतियों के अवसर पर रट तो लगाते हैं किंतु उनके सिद्धांतों और विचारों को नहीं अपनाते हैं। सच तो यह है कि वे पहले अपेक्षा आज ज्यादा प्रासंगिक हैं। उनकी इस प्रारंभिकता को समझना होगा, उनके विचारों का अमल में लाना होगा, क्योंकि उनके बिना हमारा राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता है। आजादी के पैंसठ साल बाद भी हम राष्ट्र नहीं बना

पाए हैं। हम अभी राष्ट्र बनाने की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। भारत राष्ट्र अभी अपने जन्म की प्रसव पीड़ा भुगत रहा है। यह संताप बहुत ही गहरा और गंभीर है, क्योंकि हमें स्वयं की पहचान नहीं है। हम अपनी अस्मिता और अपने अस्तित्व को बोझ समझते हैं। हमारी राष्ट्र प्रीति सहत नहीं, परिस्थितिजन्य और घटना सापेक्ष है। शत्रु सामने हो तो हम निहायम देशभक्त और शत्रु सामने न हो, तो हम निहायत घटिया दर्जे के स्वार्थी और पेट' ऐसे में लालबहादुर शास्त्री जी के व्यक्तित्व और कर्त्तव्य से सीख लेनी होगी, क्योंकि उनके सारे सपने आज बिखरते नजर आ रहे हैं। शास्त्री जी ने लोक को जगाने का काम किया था।

सन् 1965 ई॰ में जब लाल बहादुर शास्त्री प्रधान मंत्री बने, तो उन्होंने इस देश के विकास के लिए पाँच वर्षीय योजना क्रियान्वित करने की बात सोची, लेकिन भाषा के लिए उस वक़्त तक किए गए प्रयास को उन्होंने नगण्य बताया। इसके लिए उन्होंने सभी राज्यों के मुख्यमंत्रियों को दिल्ली में आमंत्रित कर उनसे इस विषय पर गहन चचा की और सर्वसम्मति से सभी राज्यों में त्रिभाषा सूत्र लागू करने का एक प्रस्ताव पारित कराया। इस सूत्र के अनुसार प्रथम भाषा के रूप में मातृभाषा, द्वितीय भाषा के रूप में हिंदी तथा तृतीय भाषा के रूप में अँग्रेज़ी पढ़ाने की बात कही गई थी। आंध्र, केरल और कर्नाटक में तो इसका पालन हुआ और हरियाणा में थोड़ा प्रयास हुए तथा उत्तर प्रदेश में भी तेलुगु को कुछ जगह पढ़ाया गया, किंतु कुलमिलाकर इस पर गंभीरता से काम नहीं हुआ। एक भारतीय के नाते राष्ट्र के लिए हिंदी को प्रशासनिक एवं भारत-भारती के रूप में शास्त्री जी अवश्य देखना चाहते थे। उनकी यह भी इच्छा थी कि संपूर्ण राष्ट्र के लिए अगर एक राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनती, तो सारे बच्चों को एक प्रकार की शिक्षा मिलती। 'जय जवान जय किसान' का नारा लाल बहादुर शास्त्री ने 1965 में पाकिस्तान से युद्ध के वक्त भारतीय जवानों का उत्साह बढ़ाने के लिए दिया था।

लाल बहादुर शास्त्री का जन्म 2 अक्टूबर, 1904 को मुगलसराय जिले में हुआ था। जब शास्त्री जी मात्र एक वर्ष के थे, उसी समय उनके पिता का निधन हो गया था। इसलिए उनका लालन-पालन उनकी माता ने किया था।

लाल बहादुर शास्त्री के जीवन की एक घटना मुझे याद आती है जिससे उन्हें जीवन की सबसे बड़ी सीख भी मिली। घटना यूँ है कि जब शास्त्री जी मात्र छह वर्ष के थे, तो एक दिन अपने कुछ दोस्तों के साथ स्कूल

से लौटने के दौरान रास्ते के एक बगीचा से आम चुराने का कार्यक्रम बना जिसमें शास्त्री जी को किसी खतरे की सूचना देने के लिए नीचे खड़ा किया गया और बाकी दोस्त पेड़ पर चढ़कर आम तोड़ने लगे। इतने में ही बगीचे का रखवाला आ गया। उसने शास्त्री जी को बहुत डांटा और बाद में उनकी पिटाई भी करने लगा। पिटाई से बचने के लिए उन्होंने कहा कि 'आप मुझे छोड़ दे, क्योंकि मेरे पिता भी नहीं हैं। यह सुनते ही रखवाले ने उन्हें छोड़ दिया, लेकिन साथ ही यह हिदायत भी दी कि तुम्हारे लिए एक अच्छा आदमी बनना तो और भी आवश्यक है, क्योंकि तुम्हारे द्वारा किए गए अच्छे कर्मो से ही तुम्हारे पिता का नाम जीवित रहेगा। रखवाले की इस बात ने उनके मन पर गहरा प्रभाव छोड़ा। तभी से शास्त्री जी ने एक अच्छा इंसान बनने के प्रयास में जुट गए। देश के स्वतंत्रता संघर्ष में शास्त्री जी ने अमूल्य योगदान दिया और भारत के दूसरे प्रधानमंत्री बने।

❖❖❖

बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर : कब बनेगा जिनके सपनों का भारत?

महाराष्ट्र में अपनी वीरता, पराक्रम और ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध, प्रभावकारी और अस्पृश्य कही जाने वाली महार जाति में रत्नागिरी ज़िले के आंबवडे गाँव में जन्मे बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने इस देश के जनजीवन में जो क्रांति पैदा की, उसकी कोई मिसाल नहीं। उन्होंने प्रजातंत्र और साम्यवाद में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। इस देश में जन-जन में निर्माण के लिए किए गए भेद-भावों को मिटाकर समान अधिकारों को स्थापित करने वाला संविधान प्रदान कर न केवल ढाई हज़ार वर्षों के बाद पहली बार प्रजातंत्र के मूल्यों की नींव रखी, बल्कि हज़ारों वर्षों से हिंदू धर्म द्वारा प्रचलित अस्पृश्यता को क़ानून के बल पर नष्ट करने की कोशिश की। अहिंसा के प्रवर्तक तथा राजनीति के द्रष्टा डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने हर तरह के लूले-लंगड़े, अपंग, बहरे और दृष्टिहीन अस्पृश्य समाज को स्वाभिमान से जीना सिखाकर उसे स्वावलंबी बनाने का हर संभव प्रयास किया। निकोलस ने उनके विचारों तथा उद्‌गारों को पिस्तौल से छूटने वाली गोलियों की उपमा दी थी। संविधान के निर्माण के वक़्त उसकी हर धारा को समझाकर, उनकी गुत्थियों को सुलझाकर, वे विरोधी दल के सदस्यों के मन को बड़ी कुशलता से जीतते थे और उनका समर्थन प्राप्त करते थे। बेमिसाल व्यक्तित्व के धनी बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेदकर ने अपने क्रांतिकारी विचारों द्वारा समाज की अस्वस्थ परंपराओं को ख़त्म कर एक नया समाज बनाने का आंदोलन किया था। इस द्रष्टा महापुरुष ने लोकतंत्र और साम्यवाद में समन्वय स्थापित कर जिस जीवन-दर्शन का प्रतिपादन किया था उसका आज जिस तरह सत्ताधीशों द्वारा दुरुपयोग किया जा रहा है, वह निस्संदेह चिंतनीय है। नाना तरह के हथकंडों द्वारा बराबरी के हक़ से लगातार वंचित किया जा रहा है। यह कहना आवश्यक नहीं कि ऐसी परिस्थिति में संघर्ष ही एक मात्र रास्ता बचता है । स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ यह उम्मीद की गई थी कि भारतीय समाज की जो मौजूदा तस्वीर है वह बदल जाएगी, दलित-सवर्ण संघर्ष निरंतर कम हो जाएँगे, किंतु आज़ादी की आधी शताब्दी से अधिक बीत जाने के बाद भी दलित उत्पीड़न समाप्त नहीं हो पाया। बल्कि सच तो यह है कि हत्या, बलात्कार, लूट, आगज़नी तथा महिलाओं को

नंगा कर घुमाए जाने की घटनाएँ इत्यादि 99 प्रतिशत दलितों की ही हो रही हैं। दरअसल इसके कारण क्या हैं इस पर आज के परिवेश में विचार करना ज़रूरी हो गया है।

हम सब इस बात से अवगत हैं कि देश की जाति-व्यवस्था बड़ी जटिल है। भारत की प्राचीनता और विशालता के साथ जाति, संप्रदाय, भाषा, प्रांतीयता विभिन्नताओं ने समाज की संरचना को जटिलता प्रदान की है और यही तत्त्व राजनीतिक मूल में रहे हैं। इसके दुरुपयोग से जाति का राजनीतीकरण हो गया है। उच्च जातियों ने अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए अपनी पुरानी भावना को अभी तक नहीं छोड़ा है, इसका ख़मियाज़ा समाज के हाशिए पर खड़े कमज़ोर जातियों को भुगतना पड़ता है, क्योंकि जीवन के हर क्षेत्र में चाहे वह सामाजिक हो या राजनीतिक, धार्मिक हो या सांस्कृतिक उसे उच्च जातियों के विरोध का सामना करना पड़ता है। कारण यह है कि बाबा साहब ने भारत के संविधान में रानी-मेहतरानी, अछूत-सछूत, मालिक-नौकर, अमीर-ग़रीब, स्त्री-पुरुष सभी को समान मताधिकार का प्रावधान कर धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक व्यवस्था का जो निर्माण किया उसके परिणामस्वरूप कमज़ोर तथा दलित समुदाय के सदस्यों में अधिकाधिक शक्ति और सत्ता प्राप्त करने की आतुरतापूर्ण होड़ हो गई। डॉ० भीमराव अम्बेडकर द्वारा दलित जातियों को शिक्षित और संगठित होने की सलाह के चलते ही आज के भारतीय समाज में मुक्ति की छटपटाहट देखने में आ रही है। उनमें अँधेरे से लड़ने की ताक़त महसूस हो रही है। मौजूदा समाज-व्यव्स्था की सड़न को दफ़नाने का अंतहीन सिलसिला शुरू हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक धर्मनिरपेक्ष समतामूलक समाज के निर्माण का सपना अभी मरा नहीं है। पर दिक़्क़त यह है कि दलित राजनीति की कमज़ोरी की वजह से देश में कमज़ोर व दलितों की बहुलता के बावजूद सत्ता व्यवस्था पर वह हावी नहीं हुआ है। जब दलित राजनीति सामाजिक समता के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने में विफल हो जाती है, अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने में जब असमर्थ हो जाती है, तो जाति की रेखाएँ धूमिल नहीं होतीं और समाज के ब्राह्मणवाद के स्वरूप में बदलाव नहीं आता है, क्योंकि दलित अथवा शूद्र राजनीति के पुरोधा को भी सत्ता पर पहुँचने के बाद कुर्सी से चिपके रहने तथा धन बटोरने की चिंता सताने लगती है और वे भी भ्रष्टाचार की गंगा में डुबकी लगाने से बाज़ नहीं आ पाते हैं। फलतः ब्राह्मणवाद के विरोध में जनतंत्र के माध्यम से सत्ता में आई हुई सरकार भी दलितों और कमज़ोर वर्गों के बीच के रिश्ते

में किसी प्रकार का सुधार नहीं ला पाई। न तो दलित राजनीति सारे देश में फैल पाई ओर ना ही अपने जन्म स्थानवाले राज्य तमिलनाडु में स्थायी हो पाई। आज भी तमिलनाडु में ऊँच-नीच का भेदभाव परंपरागत ढंग से ही क़ायम है और अस्पृश्यता समाप्त नहीं हो पाई है अन्यथा मीनाक्षीपुरम और इसके इर्द-गिर्द के अछूत हिंदू धर्म को छोड़कर इस्लाम क्यों क़बूल करते? सत्ता में आने के बाद ब्राह्मणवाद का विकल्प तैयार करने की बजाय उसका चरित्र द्विजवादी हो जाता है और सत्ता के जोड़-तोड़ में वह भी चंद सामाजिक समूहों अथवा अपनी-अपनी जातियों को मदद करने में अपनी शक्ति लगाता है। फलतः सामाजिक निष्पक्षता धूमिल हो जाती है।

लोकतंत्र में नियमबद्धता से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होता है उत्तरदायित्व। बाबा साहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के ऐसे ही ओजस्वी और देश व समाज को दिशा प्रदान करने वाले विचार आज भी पथ-प्रदर्शक हैं। दरअसल, उनके विचार उनको एक समाजवादी इतिहासकार, कुशल रणनीतिकार, संवैधानिक विधि निर्माता तथा सांस्कृतिक क्रांतिकारी के रूप में स्थापित करते हैं। उनके विचारों और उनकी आज के संदर्भ में प्रासंगिकता पर आज चिंतन करने की आवश्यकता है। डॉ. अम्बेडकर के यह विचार कि शिक्षा संरचनात्मक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन और गतिशीलता के लिए अत्यंत आवश्यक है, आज भी प्रासंगिक है। सामाजिक न्याय के विचारों को समरसतापूर्ण समाज बनाने के लिए डॉ. अम्बेडकर कटिबद्ध थे, विशेष तौर पर दलितों और महिलाओं के उन्नयन पर उनका खास ध्यान था। महिलाओं के सवाल पर तो उनका मानना था –'अगर यह पता लगाना हो कि समाज ने कितनी तरक्की की है तो पहले यह जानना जरूरी है कि उस समाज की महिलाओं ने कितनी तरक्की की है।' दरअसल, परिवार बच्चो की पाठशाला होती है और माँ उस पारिवारिक पाठशाला बच्चे की प्रथम शिक्षिका। एक लड़के के शिक्षित होने का तात्पर्य है एक व्यक्ति का शिक्षित होना, मगर एक लड़की के शिक्षित होने का तात्पर्य है पूरे परिवार का शिक्षित होना। इसलिए बाबा साहेब महिलाओं की शिक्षा पर जोर देते थे।

देश में कई क़ानूनों के ज़रिए समाज में बराबरी का हक़ देने की कोशिश की गई है। राजनीतिक दलों द्वारा भी जात-पांत का भेद-भाव समाप्त करने की बजाय अपनी रोटियाँ सेंकने का प्रयास किया जाता है। यही कारण है कि देश में विकास संबंधी जो योजनाएँ बनती हैं, दलितों के उद्धार के लिए नीतियाँ अपनाई जाती हैं उनके परिणाम दलित हितों के विरुद्ध चले जाते हैं।

उदाहरण के तौर पर उच्च शिक्षा में शैक्षिक पदों पर दलितों की हिस्सेदारी को लिया जा सकता है या संविधान में दलितों के लिए नौकरियों में आरक्षण के परिणामों को ले सकते हैं। संविधान लागू होने के 65 साल बाद भी ग़ैर दलित की वर्चस्व-मानसिकता के कारण ही दलितों का लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व डेढ़ प्रतिशत से आगे नहीं बढ़ पा रहा है। सरकारी नौकरियों में भी दलितों के कोटे आज तक पूरे नहीं हो पाए। कारण यह है कि दलितों की जगहों पर ग़ैरदलितों की पहले तदर्थ फिर स्थाई नियुक्ति की जाती है। जब भी क़ायदे-क़ानून की बात आती है, तो वर्णवादी लोग जन्मना मेरिट की बात करने लगते हैं, जो असंवैधानिक मनुवादी विचार हैं।

तकनीकी संचार तथा सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में ईजाद हो रही नई नौकरियों के लिए भी दलितों को प्रशिक्षित नहीं किया जा रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी दलितों की मुसीबतें निरंतर जितनी तेज़ी से बढ़ रही हैं, यदि यही सिलसिला जारी रहा तो 10 वर्ष में दलित वर्ग पूरी तरह तबाह होते दिखाई देंगे। आज़ादी के बाद धर्म-परिवर्तन तेज़ हुए हैं। दलित वर्ग में ऊर्जा की कमी नहीं है, परंतु उनकी सारी ऊर्जा आई०ए०एस०, आई०पी०एस०, सांसद और विधायक बनने में जा रही है। हमारा भारत अपने राष्ट्रीय प्रेरणा-स्रात डॉ. भीमराव अम्बेडकर की 125वीं जयन्ती 14 अप्रैल, 2016 को मना रहा है जो करोड़ों भारतीयों और दुनिया भर में समानता एवं सामाजिक न्याय के समर्थकों के लिए प्रेरणा बने हुए है। अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को मध्य प्रदेश में हुआ था और उनका निधन 14 अप्रैल 1956 को। उन्हें 1990 में मरणोपरांत 'भारत रत्न' सम्मान से नवाजा गया था।

आजादी की लड़ाई में जहाँ काँग्रेस समेत कुछ राजनीतिक दलों की कोशिश अँग्रेजों को बेदखल कर सत्ता भारतीयों को हस्तांतरित करने की थी, वहीं डॉ. अम्बेडकर की प्राथमिकता हिंदू समाज में जाति आधारित असमानताएँ और छुआछूत रहित राष्ट्र का निर्माण करना था। डॉ. अम्बेडकर की समझ थी कि राष्ट्रीयता सामाजिक भावना है, जो भाव जगाती है कि वो एक हैं। अंबेडकर के अनुसार एक तरफ अपने लोगों के प्रति अपनत्व और दूसरी तरफ दूसरों के प्रति नफरत के कारण दोहरी राष्ट्रीयता में भारत मजबूत राष्ट्र नहीं बंन सकता। इसलिए उनका सपना था कि भारत एक जातिविहीन समाज हो, क्योंकि भारतीय समाज किसी एक जाति से नहीं बना है इसलिए देश के अंदर रहने वाले लोगों के बीच समानता और बंधुत्व की भावना का विकास ही अंबेडकर के राष्ट्रवाद का आधार था। स्पष्ट है कि डॉ. अंबेडकर राष्ट्रवाद

के भाव पक्ष का अधिक महत्व देते थे न कि भौगोलिक सीमाओं को।

14 अप्रैल, 2016 को पहली बार संयुक्त राष्ट्र संघ बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर के 125वीं जयन्ती समारोह का आयोजन कर जहाँ बाबा साहेब के विचारों को अंतरराष्ट्रिय स्तर पर मान्यता मिली, वहीं भारत में उनके दिए विचारों को जानने, समझने और अनुपालन करने की जरूरत महसूस की जा रही है खासतौर पर तब जब इस देश में राष्ट्रवाद से राजनीतिक लड़ाई लड़ी जा रही हो।

दलितों के लिए संघर्ष का रास्ता ही उनके दुखों के ख़ात्मे में अहम भूमिका निभा सकता है और यह संघर्ष विरोध और प्रदर्शनों द्वारा नहीं, बल्कि अंधविश्वासों व पाखंडों का त्याग करके, भाग्य में विश्वास न कर कर्म में विश्वास करके तथा साक्षरता को बढ़ावा देकर ही किया जा सकता है। दलितों के नाम पर अभिजात्य वर्ग द्वारा जो शोषण और विनाश चल रहा है। उसके विरुद्ध जेहाद छेड़कर ही उन्हें विकास के पथ पर अग्रसर किया जा सकता है। समाज में मौजूदा असमानता के विरुद्ध दलित चेतना जाग्रत करने के लिए संघर्ष करना होगा। बाबा साहब ने जिस धार्मिक रूढ़िवादी अस्पृश्यता, जातिभेद और सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ सबसे बड़ी और कारगर लड़ाई लड़ी थी, उसे आज और गति प्रदान करने की आवश्यकता है। समय का तक़ाज़ा है कि देश को आत्मनिर्भर बनाने तथा समतामूलक समाज का निर्माण करने के लिए दलित-शिक्षा का विस्तार तथा दलितों को संगठित होकर अपने सर्वांगीण विकास पर विचार करने की आवश्यकता है तभी बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर के सपनों का भारत बन पाएगा।

❖❖❖

बाबू जगजीवन राम :

जो राजनीति के एक गतिशील यात्री थे

किसी व्यक्ति का जन्म उसके वश की बात नहीं है। उसके पैदा होते ही जाति, वंश, धर्म उससे जुड़ जाते हैं। इनसे उसकी मुक्ति नहीं है। परंतु काम करने की योग्यता, उसका कर्म या तो उसे यश और ख्याति के उच्च शिखर पर पहुँच देता है या फिर अपयश उसे खाई में गिरा देता है। विश्व के महापुरुषों के जीवन-चरित्रों का जब हम अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि कोई भी व्यक्ति जन्म से महान नहीं होता। यह महानता उसे अपने जीवन में त्याग और परिश्रम की भारी पूँजी लगाकर प्राप्त करनी होती है। रूस के स्टॉलिन और अमेरिका के लिंकन-दोनों ही महापुरुष एक साधारण परिवार में पैदा हुए थे, किंतु इन दोनों व्यक्तियों के विकास में सामाजिक गुलामी की बेड़ियों ने बाधा नहीं पहुँचाई थी। आख़िर तभी तो इन दोनों ने अपने-अपने देश के जन-जीवन में जो क्रांति पैदा की, उसकी कोई मिसाल नहीं है। उसे अद्वितीय कहा जा सकता है। स्टॉलिन ने जहाँ व्यक्ति-स्वातंत्र्य का विरोध कर रूस के सारे राज्य में समतावादी अर्थव्यवस्था को स्थापित किया, वहीं अब्राहम लिंकन ने सर्वशक्तिमान देश अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी भागों को एकता के सूत्र में बाँधकर वहाँ काले और गोरे के भेद को सबसे पहले समाप्त कर अमेरिका में पहली बार लोकतांत्रिक राज्य प्रणाली की नींव डाली।

यदि हम कहें कि मनुष्य जाति का संपूर्ण इतिहास कुछ हज़ार व्यक्तियों के जीवन का इतिहास है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भारत के लिए एक ऐसा कालखंड था जब प्रत्येक देशवासी भारत की दासता से जकड़ी ज़ंजीरों को येन-केन-प्रकारेण काटने के लिए कटिबद्ध था। बस एक ही लक्ष्य था, एक ही ध्येय था और एक ही आशा और विश्वास था कि किसी तरह भारत को गुलामी से मुक्त कराया जाए। बिहार की भूमि ने भी ऐसे-ऐसे सपूतों को जनम दिया जिनकी एक ही चाह, एक ही राह और एक ही चिंतन था भारत माता की पराधीनता से मुक्ति। इस सदी में प्रत्येक क्षेत्र में अपना कीर्तिमान स्थापित क्ररने वाले एक से बढ़कर एक महापुरुष, साहित्यकार, कलाकार, राजनेता, विधिवेत्ता, समाज-सुधारक तथा अध्यात्म के गुरु पैदा हुए, जिनके एक इशारे पर लाखों लोग न्योछावर होने को तैयार थे। इन्हीं पाँच दशकों में एक से एक महापुरुष पथ-प्रदर्शक

बनकर आए, जिन्होंने देशवासियों को अपने विचारों और आचारों से अनुप्राणित किया। इन्हीं प्रकाशमान दीपों के बीच आश्वस्तिपरक रोशनी प्रदान करने वाले भोजपुर की रत्नप्रसू धरती में बाबू जगजीवन राम जी पैदा हुए, जिन्होंने अपने महान व्यक्तित्व और ऊर्जस्वल कृतित्व से जनम के आधार पर श्रेष्ठता की संकीर्ण भावना को धता बताते हुए दलित परिवार में पैदा हुए इस बालक ने देश में धर्मनिरपेक्ष समतामूलक समाज बनाने का एक सपना संजोया। इनका जन्म ऐसे समय में हुआ जब भारतीयों में मुक्ति की छटपटाहट तो थी, पर अँधेरे से लड़ने की शक्ति नहीं थी और तत्कालीन समाज-व्यवस्था की सड़न को दफ़नाने की प्रक्रिया लोगों के दिमाग़ में नहीं सूझ रही थी। बाबू जगजीवन राम जी ने दलितों पर हो रहे अत्याचार और जाति एवं वर्ण की व्यवस्था सुरक्षित रखने के लिए दलितों पर हो रहे अत्याचार और जाति एवं वर्ण की व्यवस्था सुरक्षित रखने के लिए दलितों पर किए जा रहे उत्पीड़न को समाप्त करना चाहते थे, क्योंकि इस व्यवस्था में असमानता को बढ़ावा मिलता है। जगजीवन बाबू ने इसे बख़ूबी समझा था कि तमाम प्रगतिशील आंदोलनों और शिक्षा के बावजूद हिंदू समाज अस्पृश्यता का त्याग नहीं कर पा रहा था, क्योंकि सांस्कृतिक चीज़ होने की वजह से संस्कार एक पीढ़ी को विरासत में देती थी ओर हिंदू समाज चाहकर भी इसे नहीं रोक पा रहा था। धार्मिक रूढ़िवाद, अस्पृश्यता, जातिभेद और सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ सबसे बड़ी और कारगर लड़ाई लड़ने का साहस ज़िस योद्धा ने किया था उसी के जीवन और व्यक्तित्व पर अपने भावों को व्यक्त करने के लिए मैंने अपनी लेखनी उठाई है।

निजी जीवन हो या इतिहास का मामला, अतीत को न तो पूरी तरह भुलाया जा सकता है, न ही पूरी तरह लौटाया जा सकता है। व्यक्तिगत जीवन की तरह इतिहास भी यादों और यादगारों का एक ढेर है; जिसमें से चुन-चुनकर कुछ चीजें और कोई ढर्रा समय-समय पर अपनाया जाता है। सब कुछ हासिल करने या सारा कुछ खोकर, अंत में किसी भी व्यक्ति के हाथ जो आता है वह केवल स्मृतियाँ हैं। और कुछ दूसरी चीज़ें उस तरह 'अपनी' नहीं होतीं जिस तरह की स्मृतियाँ। भरसक इसी वजह से अनुभव की स्मृति और स्मृति को संवेदना में बदलने की मैंने कोशिश की है। कारण कि जोवन केवल वर्तमान में चरितार्थ नहीं होती है, अतीत हमारा पिता होता है। हमारा अतीत यदि कुछ स्वर्णिम है तो उसकी स्मृति क्यों न रहे और स्मृति भी तो परोक्ष साक्षात्कार है। मेरे जीवन के साथ जगजीवन बाबू की जो स्मृतियाँ जुड़ी हैं, वे मेरी अमूल्य निधि हैं और मैं सदैव उनसे नई प्रेरणा ग्रहण करता हूँ। भाव

जगत की चीज़ें ही हैं, जिन्हें अपने भीतर समेटा जा सकता है। जगजीवन बाबू से जुड़ी भाव-जगत की स्मृतियाँ वैसी ही चीजें हैं, जिन्हें शब्द-बद्ध कर इस संस्मरणात्मक लेख में समेटने की हमने कोशिश की है।

समाज औंर देश में जब किसी महान व्यक्ति की चर्चा होती है तो उसके संपूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व को अतीत में झाँककर देखना होता है। अतीत की भूमिका यही है कि उस व्यक्ति ने कैसा समाज बनाने की कोशिश की और उसका आदर्श किस हद तक हासिल हो सका। यह उस व्यक्ति के प्रयत्न और इतिहास-भूगोल के दबावों पर निर्भर है। अगर उनके आदर्श ऊँचे रहे, तो उसके पूरे आयाम पर विचार करना होगा। इसलिए समाज की आदर्श कल्पना में निश्चय ही उस व्यक्ति की प्रकृति, उसके समरस संबंधों, अद्वैत और अभेद, सहयोग एवं करुणा, प्रेम एवं शांति के तत्त्वों पर ज़ोर देना ज़रूरी है। कुछ इसी दृष्टिकोण से जब हम जगजीवन बाबू को संपूर्णता में देखते हैं, तो पाते हैं कि हिंसा, स्वार्थ, लोभ, कामलिप्सा में लिप्त मनुष्यों के बीच जगजीवन बाबू कहीं-न-कहीं परमार्थ, करुणा, सौंदर्य, प्रेम, त्याग और बलिदान में भी स्वतः समर्थ थे। वे स्वयं भी न केवल भारतीय परंपरा के रीति-रिवाजों से जुड़े थे, बल्कि नैतिक परंपरा की उपादेयता, प्रासंगिकता में उनकी गहरी आस्था थी। इतना ही नहीं, उन्हें तो समाज के सामान्य जन-जीवन से नाता था। यही कारण है कि जीवनपर्यंत राजनीति में रहते हुए भी उनकी संवेदनशीलता कभी कुंठित नहीं हुई और न प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए जीवन के मूल्य-मर्यादाओं को ही उन्होंने तिलांजलि दी। केंद्रीय मंत्रिमंडल में चाहे वे रेलमंत्री रहे हों या कृषि मंत्री नई दिल्ली के अपने निवास में देश के कोने-कोने से पधारे प्रायः सभी वर्गों के लोगों को समान भाव से आतित्य-सत्कार करते थे। यही कारण है कि एक राजनेता के रूप में जो प्रतिष्ठा और यश उन्हें मिला, वह विरलों को मिलता है। यथार्थ का यह आदर्श पक्ष और आदर्श का यह यथार्थ पक्ष है बाक़ी उड़ान सबकी अपनी-अपनी है।

एक ओर जहाँ जगजीवन बाबू का अपने समकालीनों के प्रति स्नेह-भाव था, तो दूसरी ओर हमारे जैसे सामाजिक कार्यकर्ताओं को वह गौरव और सम्मान भी देते थे। वैयक्तिक-संवेदना से परिपूर्ण जगजीवन बाबू में हृदय-ग्राहिकी सरसता की गौरवास्पद संभावनाओं के बीज को झाँकी देखने को मिलती थी। उनकी भावुकतामयी वाणी अनायास हृदय को उल्लास से भर देती थी। ऐसे वक़्त कवि रामनरेश पाठक के 'अनामा' के गीतों की निम्न पंक्तियाँ मुझे याद आ रही हैं-

बेधती है मर्म अब तो याद पल-पल,
क्या हुआ, प्यासा रहा संपूर्ण जीवन।
हूँ संजोए भाव और अभाव का धन,
अमीर होकर प्राण देता बहुत पागल।

जगजीवन बाबू समाज के उस काल-खंड में जी रहे थे, जबकि सारा आकाश सशक्त सामाजिक-राजनीतिक नेताओं से आच्छादित था। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि उनकी सामाजिक एवं राजनीतिक प्रतिबद्धता के सौष्ठव की रवि उस तारामंडल में कभी भी धूँध होने को नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप निखरता ही जाएगा, जो वर्तमान वह आने वाली पीढ़ी के लिए प्रकाश-स्तंभ के रूप में पाथेय का काम करेगी। आज भी वे बसते हैं हमारे चित्त में, समाज में, हवा में और आकाश में। आख़िर तभी तो जगजीवन बाबू की नैतिक भावभूमि की व्यास परिधि ने समाज के कठोर यथार्थ को अपनी कोमल बाहूपाश में समेट लिया था।

आज भारतीय राजनीति में लोभ, स्वार्थ, ईर्ष्या, अनीति की कमाई, अहंकार तथा केवल अपना और अपने परिवार का हित चाहने वाले राजनेता समस्याओं से घिरे रहते हैं और वही उन्हें दूसरों की नज़रों से गिराते हैं, जगजीवन बाबू इन चीज़ों से सदैव बचे रहे और झूठ, वाहवाही तथा आत्म-प्रशंसा के लिए कभी दंभ एवं अहं से नहीं भरे, क्योंकि वह जानते थे कि यह सब थोड़े ही समय के लिए मान-प्रतिष्ठा देती है। मेरी स्पष्ट धारणा है कि उनके आदर्शों को आमजन ने इसलिए ग्रहण किया कि उन्होंने स्वयं अपने आदर्श को अपने जीवन में उतारा। केवल उपदेश से आदर्श भी नहीं चल सकता है। लोक जीवन में तब तक ऐसे व्यक्ति नहीं उतरते, स्वयं जिसके जीवन में वे आदर्श सक्रिय न हुए हों, तबतक लोक उन्हें ग्रहण नहीं करेगा। कथनी और करनी में सामंजस्य रखने में मनुष्य के मन पर उसका प्रभाव पड़ता है। जिन नेताओं ने अपने कृतित्व, वाणी और आचरण से नकार और निषेध के सकारात्मक पक्ष को थामे रखा उनमें जगजीवन बाबू बड़ी जीवटवाले रहे। उनका भरा-पूरा सक्रिया जीवन रहा। एक संदेश जो इनका होना इनके जाने के बाद हमें देता है वह बड़ा बेचैन करने वाला है। सारा जीवन सक्रिय रहने के बाद क्या इनका कुछ असर समाज पर पड़ा? बहुजन-अभिजन दोनों को छोड़ दीजिए, सघन सारस्वत सान्निध्य में रहने वाले राजनीतिज्ञ तथा राजनीतिक कार्यकर्ता पर ही यदि हम ध्यान केंद्रीत करें, तो मुझे लगता है कि इनके व्यक्तित्व का कुछ भी असर उनपर नहीं पड़ा।

आज हममें से कितने हैं जो श्रद्धांजलि के बाद कुछ दूर इनके रास्ते पर चलना चाहेंगे। जब हम वर्तमान पर नज़र डालते हैं, तो पाते हैं कि हमारे वैचारिक चिंतन या इसकी परंपरागत स्थापनाओं में किसी अच्छे क्रांतिकारी परिवर्तन की अपेक्षाएँ कमज़ोर हुई हैं। जहाँ तक मेरी समझ है बाबू जी के विचारों के अनुसार भारतीय जाति-व्यवस्था के ढाँचे की भी तोड़ना होगा जो आदमी-आदमी में फ़र्क़ कराती है और जो ग़ैर-बराबरी के ढाँचे पर खड़ी है जिसमें होने की पहचान और फ़ायदा उठाता है। यह जाति-व्यवस्था भारतीय समाज की सच्चाई और विडंबना दोनों है। जगजीवन बाबू सामाजिक बदलाव के लिए प्रतिबद्ध उन जुनूनियों में थे वो अब निरंतर समाप्त हो रहे हैं। मैं कहना यह चाहता हूँ कि उनकी बातों की अनसुनी और अनदेखी किए जाने का ही नतीजा है कि आज तो वे सिर्फ़ समानांतर शक्ति है, कल हम खुद अपनी व्यथा सुनाने के लिए तरसेंगें। अगर अब इतिहास की इस करवट हो हम देख नहीं पा रहे हैं, तो हमें यह कहने के लिए विवश होना पड़ता है कि आत्महत्या-ग्रंथि ने हमें अँधा कर दिया है और हमें कोई नहीं बचा सकता। लाख चाहने पर भी आज हम इन निचले उभारों को रोक नहीं पायेंगे, क्योंकि वे हमारे चाहने या अनुमति से ऊपर नहीं आए, बल्कि हमारे हरचंद न चाहने पर आए हैं– निश्चय ही यह हमारी सदियों की करनी का फल है। हमें तो ऐसा लगता है कि यदि हमें अनेक रास्तों पर खुले-दबे गृहयुद्धों से बचना है तो बाबू जी के बताए रास्ते पर चलना होगा और ऊपरी आचार-व्यवहार, वक्तव्यों-घोषणाओं में नह जाकर उन शक्तियों को समझना होगा जो समाज और राजनीति के सारे समीकरण बदल रही हैं।

सच तो यह है कि जगजीवन बाबू से लेकर आज तक दलित समाज ने भारतीय सामाजिक जीवन की मुख्य धारा के अंदर एक लंबी लड़ाई लड़ी है। वे बार-बार गिरे हैं, फिर उठे हैं। उन्होंने अपनी तथा अपने समाज की समस्याओं को लेकर संघर्ष किया है, तब जाकर उन्हें हाशिए से केंद्र में थोड़ी-सी जगह मिली है। पर यह जगह उतनी नहीं है कि वे पाँव पसार कर बैठ सकें। इसलिए आज ज़रूरत इस बात की है कि हम अपनी मानसिकता में बदलाव लाएँ। मानसिकता में बदलाव लाए बिना समाज नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि उस दिशा में सामाजिक मूल्यों के प्रति सार्थक प्रतिबद्धता पैदा की जा सकती है।

दलित, शोषित, पीड़ित समाज के पक्षधर जगजीवन बाबू ने आधुनिक जीवन में व्याप्त असमानता, अन्याय, पक्षपात और बाह्याडंबरों पर प्रहार किया। साथ ही उन्होंने अत्याचारियों पर जोशीले आवाज़ से प्रहार कर जनता

जनार्दन को उनके विरुद्ध लड़ने और उठ खड़े होने के लिए प्रोत्साहित किया। क्रांति की आग को हर तरफ़ प्रज्ज्वलित कर दलित व पीड़ित समाज को नई दिशा प्रदान करना उनका ध्येय था। उनका पूरा जीवन सामाजिक सुधार, देश-भक्ति की भावना एवं उत्कृष्ट विचारों से ओत-प्रोत रहा, क्योंकि वे उत्तम समाज के सृजन में विश्वास रखते थे। अमीर और ग़रीब के बीच बढ़ती खाई से वह व्यथित रहते थे। वह कहते थे कि समाज में गहराती विषमता देश के लिए सुखद नहीं है। बचपन में कोई संस्कार देने से पहले रोटी देना देश की खुशनसीबी के लिए परमावश्यक है। स्वस्थ, सुंदर और सुरक्षित राष्ट्र तभी तक रहेगा जब तक देश का बचपन और शोषित, पीड़ित और दलित के बच्चे सुंदर और सुरक्षित होंगे, क्योंकि आस्था के लिए इंसान की डगर पर चलना निहायत लाज़िमी है।

जगजीवन बाबू एक साधक थे। समता उनके जीवन का मूल-मंत्र था। उनके जीवन में अपने पराए का भेदभाव नहीं था। हरिजन-परिजन का उनके मन में कोई झगड़ा नहीं था। उन्होंने समाज के सभी वर्गों के प्रति अपनी उदारता का परिचय दिया। वे अनगिनत युवकों की प्रेरणा के स्रोत बने रहे। उनके जीवन में आचार-विचार-शिष्टाचार की दृष्टि से कभी परिवर्तन नहीं आया। उनकी स्मरण-शक्ति इतनी पारदर्शक और पारखी थी कि उनसे सटीक उत्तर प्राप्त करना विलक्षण प्रदान करता था।

जगजीवन बाबू के व्यक्तित्व में एक विशेषता यह थी कि वे एक गतिशील यात्री की तरह अपने पथ पर अग्रसर होते रहे और अपने बारे में कुछ नहीं बताते थे। नहीं बताने में उसका कोई अन्यथा भाव नहीं रहता था, केवल उसकी विलक्षण भाव स्थिति ही होती थी कि उसके लिए कोई अवरोध रूप था नहीं। देखने वालों की नज़रों में विघ्न बाधाएँ हैं, परंतु गतिशील यात्री के लिए हर बाधा प्रगति का सोपान होती है। जगजीवन बाबू भी राजनीति के एक ऐसे ही गतिशील यात्री थे, जिन्होंने अपने रास्ते की बाधाओं की बिना परवाह किए आगे बढ़ते रहे। वे हमारे बीच नहीं रहे, पर उनके विचार और कर्म जीवित हैं, आगे भी जीवित रहेंगे और उन्हीं से नित्य नए अंकुर फूटेंगे। मैं अपनी इन पंक्तियों से उनकी पावन स्मृति को प्रणाम करता हूँ-

एक गतिशील यात्री के रूप में पहचान बनाई,
राजनीति के मंजे खिलाड़ी बाबू जगजीवन ने।
समता और समरसता की एक हवा बहाई,
बीमार और रुग्न समाज के जनजीवन ने।

के० आर० नारायणन : जिनका राष्ट्रपतित्वकाल स्मरणीय रहेगा

केरल के एक निर्धन परिवार में जन्मे और भारत के राष्ट्रपति पद तक पहुँचे कोचेरिल रमण नारायणन अपने उत्तराधिकारियों और देशवासियों के लिए एक उज्ज्वल एवं अनुकरणीय विरासत छोड़ गए हैं। 25 जुलाई, 1997 ई० को देश के दसवें राष्ट्रपति पद पर आरूढ़ हुए के० आर० नारायणन ने अपने कार्यकाल में यह दिखाया कि राष्ट्रपति का पद रबर स्टैंप नहीं, बल्कि संपूर्ण देश की अंतरात्मा की आवाज़ है, जिसे ज़रूरत पड़ने पर परंपरा तोड़कर भी राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों पर हस्तक्षेप करने से नहीं चूकना चाहिए। इसके साथ उन्होंने संविधान द्वारा दी गई ज़िम्मेदारियों को निभाने में न तो शिथिलता दिखाई और न ही उनसे बचने की कोशिश की। आप को याद होगा जब सरकार ने संविधान की समीक्षा के बहाने संविधान को कोसना प्रारंभ किया था, तो उन्होंने स्पष्ट किया कि संविधान ने हमें विफल नहीं किया, हमने संविधान को विफल किया है। राष्ट्रपति के नाते के० आर० नारायणन दलित निष्ठा से ऊपर उठ चुके थे, हालांकि 1992 ई० में उप राष्ट्रपति बनने के पूर्व वह तीन बार काँग्रेस के टिकट पर लोकसभा सदस्य रह चुके थे। यह 1997 ई० के आख़िरी दिनों में देशवासियों ने देखा राष्ट्रपति के रूप में अपने कर्त्तव्य-निर्वाह के रास्ते में कोई भी क़ीमत चुकाने में उनको परहेज़ नहीं था। न्यायाधीशों की नियुक्ति में दलित के संबंध में उन्होंने अपने विचार निर्भीकता से व्यक्त करते हुए कहा था कि उच्च न्यायालयों में दलित और कमज़ोर वर्गों के प्रतिनिधित्त्व की भी कोई व्यवस्था होनी चाहिए और उच्च न्यायालय से उन्होंने इस पर राय भी माँगी। यह दिगर बात है कि उनकी बात नहीं सुनी गई, किंतु उन्होंने अपनी संवैधानिक शक्तियों का खुलकर इस्तेमाल किया। स्वभाव और निष्ठा में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रपति के समक्ष एक चुनौती यही खड़ी हुई थी कि उन दिनों देश में बढ़ रही सांप्रदायिकता की अंतर्धारा के मामले में वह क्या करें। इस संदर्भ में अपनी व्यथा और चिंता को छिपाने का उन्होंने प्रयास नहीं किया। जनवरी, 1999 ई० में जब उड़ीसा में सांप्रदायिक भीड़ ने ईसाई मिश्नरी फ़ादर ग्राह्मस्टेन्स को उनके दो बच्चों सहित जला दिया, तो राष्ट्रपति के० आर० नारायणन ने सार्वजनिक रूप से अपनी चिंता व्यक्त की थी। उनके कार्यकाल के अंतिम वर्ष 2000 ई० में

जब गुजरात में भीषण दंगे हुए, तो उन्होंने पुनः अपनी पीड़ा को दोहराया।

सन् 2000 ई० के गणतंत्र दिवस की पूर्व संध्या पर राष्ट्रपति के० आर० नारायणन द्वारा दिया गया भाषण हमारे लोकतंत्र के इतिहास में इसलिए स्वर्णिम दस्तावेज़ बनेगा कि जिसने भी वह भाषण सुना होगा वह इसे भूल नहीं सकेगा। कारण कि परंपरा को तोड़ते हुए और वाजपेयी सरकार की आपत्तियों की परवाह नहीं कर उन्होंने अपना मन खोलकर जनता के समक्ष रखा। दरअसल 25 जनवरी, 2000 ई० को दिया गया उनका भाषण एक उत्कृष्ट कविता है जो बंजर हृदयों में आशा की हरियाली पैदा करती है। उसके कुछ अंश का आप भी लुत्फ़ उठाएँ–

"गणतंत्र बने पचास वर्ष पूरे हो गए हैं। फिर भी हम देखते हैं कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय हमारे करोड़ों देशवासियों के लिए अभी भी एक अधूरा सपना है। हमारे पास विश्व भर से सबसे अधिक तकनीकविद् हैं, लेकिन विश्व की तुलना में निरक्षरों की संख्या भी सबसे अधिक है। हमारे यहाँ मध्य वर्ग की संख्या भी सबसे अधिक है, किंतु ग़रीबी रेख के नीचे जीने वालों की संख्या सबसे अधिक है और कुपोषण से पीड़ित बच्चों की संख्या भी सबसे अधिक है। हमारे बड़े-बड़े कारख़ाने गंदगी के ढेर से उठते हैं और उपग्रह ग़रीबों की झोपड़ियों से उड़कर अंतरिक्ष में जाते हैं। महाभारत की द्रौपदी के समय से लेकर हमारी बहनों-माताएँ सरेआम चीरहरण और अपमान की शिकार बनती हैं, जो व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक प्रतिशोध का ज़रिया बन गया है। हमारी सबसे बड़ी राष्ट्रीय कमज़ोरी महिलाओं की स्थिति है और हमारी सबसे बड़ी शर्म दलित की स्थिति है। ...।"

परंपरा को तोड़ने वाले पूर्व राष्ट्रपति के० आर० नारायणन, जो देशवासियों के लिए उज्ज्वल विरासत छोड़ गए और जिनकी सोच में समाहित था लोक, को भावभरी श्रद्धांजलि।

❖❖❖

प्रो. मधु दंडवते :
जिनके जीवन में अंतिम घड़ी तक समाजवाद प्रतिबिंबित होता रहा

हमारे देश में समाजवादी आंदोलन से जुड़े केंद्र सरकार के मंत्री प्रो० मधु दंडवते ने अपने मंत्रालय में जो समाजवादी मानदंड का निर्माण किया वह किसी और समाजवादी मंत्रियों ने विरले ही किया। जार्ज फर्नाडिस, कर्पूरी ठाकुर तथा मधु लिमये को अपवाद में रखा जा सकता है। प्रो० मधु दंडवते के जीवन में अंतिम घड़ी तक समाजवाद प्रतिबिंबित होता रहा।

सुप्रसिद्ध पत्रकार स्व० उदय शर्मा ने प्रो० मधु दंडवते के पहली बार केंद्रीय मंत्रिमंडल का सदस्य बनने पर एक संस्मरण लिखा था जिसमें कहा गया था कि उनके मंत्री बनने पर समाजवादी नेता सुरेन्द्र मोहन की पत्नी मंजू मोहन और वरिष्ठ नेता एस०एम० जोशी जिस वक़्त लड्डू बाँट रहे थे उसी समय इस आयोजन से बेख़बर निश्चिंत होकर गुसुलख़ाने में प्रो० मधु दंडवते थापी से अपने कपड़े धो रहे थे। मंत्री बनने के बाद भी उनके जीवन में कुछ नहीं बदला था। उनके कमरे में दोस्तों और पार्टीजनों का वही पुराना मजमा रहता था और निजी सचित का कोई नामोनिशान नहीं। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि सुरक्षा का तामझाम लेने से उन्होंने साफ़ मना कर दिया था, ताकि कभी भी कोई प्रताड़ित या ज़रूरतमंद व्यक्ति मंत्री से सीधे मिलकर अपनी व्यथा-कथा सुना सके, मंत्री बनने के बाद भी वही दो कमरों के एक छोटे से फ़्लैट में रहते थे।

प्रो० मधु दंडवते मोरारजी सरकार में रेल मंत्री तथा वी०पी० सिंह सरकार में वित्त मंत्री भी बने थे। रेल मंत्री का पद ग्रहण करते ही 1977 ई० में सांकेतिक रेल हड़ताल में बरख़ास्त लोगों को माफ कर दिया गया था। यही नहीं, बल्कि रेल मंत्री के तौर पर तीसरी श्रेणी के यात्रियों के लिए बनाई गई लकड़ी की ख़ाली शायिकाओं पर प्रो० मधु दंडवते ने गद्दे लगवा दिए और वे दूसरी श्रेणी की शायिकाओं जैसी बन गई। इसके अतिरिक्त गीतांजलि एक्सप्रेस जैसी श्रेणी विहीन रेलगाड़ी की भी उन्होंने शुरुआत की।

इसी प्रकार जब प्रो० मधु दंडवते को वी०पी० सिंह ने वित्त मंत्रालय दिया, तो उन्होंने राज्यों की आर्थिक स्थिति सुधारने और आर्थिक व्यवस्था में केंद्रीयकरण लाने के उद्देश्य से केंद्र द्वारा नियंत्रित समाज कल्याण संबंधी सभी परियोजनाओं को राज्य सरकारों के नियंत्रण में दे दिया। इसका परिणाम

यह हुआ कि समाजवादी आंदोलन की यह आकांक्षा कि राजनीतिक और आर्थिक सत्ता का विकेंद्रीकरण हो, आंशिक तौर पर लागू हो गया।

प्रो० मधु दंडवते ने सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, जिसकी चर्चा भी यहाँ करना लाज़िमी है। भारत के संविधान में संपत्ति के अधिकार को बुनियादी अधिकारों की सूची में करके संविधान सभा के अनुसार सदस्यों के समाज परिवर्तन के रास्ते ही बंद कर दिए थे। मधु दंडवते ने लोकसभा के सदस्य होते ही संसद में उस आशय के प्रस्तुत विधेयक को दुबारा पेश कर दिया और लोकसभा में उसे मान्य कराया जिसके परिणामस्वरूप भूमि सुधारों को संपत्ति के मौलिक अधिकारों में संवैधानिक अनुछेद 19 में संशोधन का अधिकार संसद को मिल सका। मधु दंडवते की इस सामाजिक परिवर्तनवादी उपलब्धि पर स्वाभाविक रूप से किसी को भी गर्व हो सकता है। सन् 1942 ई० में गाँधी जी के द्वारा 'भारत छोड़ो आंदोलन' में भाग लेते हुए वे गिरफ़्तार होकर तीन वर्षों तक जेल में बंदी रहे। इसी प्रकार गोवा मुक्ति आंदोलन में साहित्यकारों की एक जमात का नेतृत्व करते हुए उन्होंने पुर्तगाली पुलिस की इतनी सख़्त मार सही कि वे बेहोश हो गए थे।

प्रो० मधु दंडवते लगभग बीस वर्षों तक भारतीय विज्ञान संस्थान में भौतिकी के प्रभावशाली प्राध्यापक रहे। प्राध्यापन से मुक्त होने के 35 साल बाद उन्हें भारतीय विज्ञान संस्थान ने सम्मानित किया। शान-शौकत और आडंबर से पूरा परहेज़, सादा जीवन और उच्च विचार के पोषक, निर्भीक संसद सदस्य के तौर पर उनकी विद्वता कौशल और सामाजिक प्रतिबद्धता की याद लोकसभाध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी ने अभी हाल ही में की है। कैंसर से पीड़ित 81 वर्ष की उम्र में गत 12 अक्टूबर, 2006 ई० को उन्होंने मुंबई के जसलोक अस्पताल में अंतिम सांस ली और निधन से दो दिन पूर्व ही उनके द्वारा देहदान की घोषणा की वजह से उनके परिजन उनका अंतिम संस्कार तक नहीं कर सके। सादगी से भरे, मृदुभाषी ऐसे मानदंड की स्मृति को मेरा प्रणाम।

लोकनायक जयप्रकाश नारायण : संपूर्ण क्रांति का जिनका सपना आज भी अधूरा है

राष्ट्र सर्वोपरि है और उसके प्रति सबका कुछ न कुछ दायित्व बनता है। व्यक्ति चाहे किसी भी क्षेत्र में कार्यरत हो राष्ट्र के प्रति उसकी दायित्व भावना को सदा उदात्त रहना ही चाहिए। जे॰पी॰ ने जिन्हें हम लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नाम से जानते हैं और जिन्हें हमने समाज सेवी, भूदानी, राजनीतिज्ञ, स्वतंत्रता सेनानी के रूप में देखा, जीवन को समीप से देखा और उसके विभिन्न आयामों को जीया-परखा है। लोगों के दु:ख-दर्द का भी सहभागी रहा और राष्ट्रीय जीवन की संकट-ग्रस्त घड़ियों में भी अपनी उचित भूमिका निभाने का प्रयत्न किया। स्वतंत्रता के पूर्व संग्राम के दौरान तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् संकट के जो भी बादल राष्ट्रीय आकाश पर उभरे चाहे वे चीन अथवा पाकिस्तान के बर्बर आक्रमणों से संबंधित रहे हों या दुर्भिक्ष या सूखा के तांडव से या बाढ़ों की विभिषिका से अथवा भ्रष्टाचार की पराकाष्ठा से जे॰पी॰ ने यथाशक्ति सहयोग दिया है और ऐसे समय में उनकी राष्ट्रभक्ति अधिक से अधिक गहरी हुई है। उन्होंने न केवल स्वयं आगे बढ़कर इन समस्याओं का सामना किया, बल्कि देश की युवाशक्ति का भी योगदान लिया है। सन् 1974 ई॰ का जे॰पी॰ आंदोलन इसका एक उदाहरण है जिसमें देश में बढ़ते भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए संपूर्ण क्रांति का उन्होंने नारा दिया।

आज जब कि देश के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टाचार, अनैतिकता, अत्याचार, दुराचार का बोलबाला है, जे॰पी॰ की संपूर्ण-क्रांति की याद स्वाभाविक है। संपूर्ण-क्रांति के मसीहा जिस जयप्रकाश नारायण के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर चंबल घाटी के तक़रीबन पाँच सौ बाग़ियों ने अपनी बंदूकें फेंक स्वेच्छा से आत्मसमर्पण कर दिया था, उसी जे॰पी॰ के पदचिन्हों पर चलने का संकल्प लेने वाले सत्ताधारियों के सामने ही डकैती, हत्या, अपहरण, अत्याचार, रंगदारी, भ्रष्टाचार और बलात्कार का तांडव नृत्य आए दिन हो रहा है और वे तथाकथित सामाजिक न्याय के घरौंदे में बैठे चैन की वंशी बजा रहे हैं।

आपको याद होगा सन् 1972 ई॰ के आम चुनाव के बाद ही देश की राजनीति में भ्रष्टाचार के जिस नंगे नाच की तस्वीर राष्ट्रीय मंच पर देखने को मिली उससे लोकनायक जयप्रकाश नारायण न केवल क्षुब्ध हो उठे थे, बल्कि उनका दिल रो पड़ा था। तभी तो उन्होंने समाज की घुटन, पीड़ा और

संत्रास को चुनौती देकर सन् 1974 ई॰ में संपूर्ण-क्रांति का नारा दिया जिसके अंतर्गत समाज और राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार के उन्मूलन का दृढ़ संकल्प अभिव्यक्त किया गया तथा उनकी मान्यता थी, "हिंसा, बेईमानी, भ्रष्टाचार आदि समाज के फोड़े हैं, समाज की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था में अनेक गलत मूल्य हैं।" किंतु केंद्र में बनी तत्कालीन जनता पार्टी की सरकार और उसके घटकों के कलह एवं विवाद से जे॰पी॰ को गहरा आघात पहुँचा और लाचार होकर उन्होंने संपूर्ण-क्रांति का मसाल लेकर एक लंबी लकीर खींचने का काम किया। उन्होंने अपने त्याग, लगन और साध नामय, जीवन में अलख जगाया। ऐसा महापुरुष शताब्दियों वर्षों में पैदा होता है। ऐसे मुझे अल्लामा इक़बाल का यह शोर याद आता है–

हज़ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है,
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा।

मुझे अच्छी तरह स्मरण हो रहा है कि बिहार युवा मंच की ओर से बिहार की राजधानी पटना में जे॰पी॰ की 93 वीं जयंती पर 11 अक्टूबर, 1994 को न केवल हमारे संपादकत्व में एक महत्त्वपूर्ण स्मारिका का प्रकाशन किया गया था, बल्कि "आज के राजनीतिक परिवेश में युवाओं की भूमिका" विषय पर एक जीवंत संगोष्ठी का भी आयोजन कर युवाओं को प्रेरित करने का दायित्व-निर्वहण किया गया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पौराणिक काल के महापुरुषों के अतिरिक्त ऐतिहासिक काल के प्रारंभ से लेकर आधुनिक काल तक ऐसे कितने महापुरुष हो गए हैं, जिन्होंने राष्ट्र को अपने कृतित्व से सजाया-संवारा है। वैसे महापुरुषों की श्रृंखला के अगले सिरे पर यदि महावीर और बुद्ध हैं, तो उसके दूसरे छोर को खींचकर जयप्रकाश नारायण तक बखूबी लाया जा सकता है। एक हद तक उसमें बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर जी को शामिल कर सकते हैं। जे॰पी॰ की कृतियों के आलोक में यदि आज के राजनेताओं के कार्यकलापों पर हमारी नज़र जाती है, तो ऐसा लगता है जैसे हम उनसे बहुत दूर छूटते जा रहे हैं। आपको याद होगा जे॰पी॰ आंदोलन के दौरान एक नारा लगाया जाता था – "सच कहना अगर बग़ावत है, तो समझो हम भी बाग़ी हैं।" ऐसी बग़ावत करने पर जे॰पी॰ के सिर पर बिहार सरकार की लाठी भी गिरी थी। जे॰पी॰ ने सरकारी अधि कारी व कर्मचारी सहित पुलिस के लोगों को भी आंदोलन में भाग लेकर भ्रष्टाचार को मिटाने का आह्वान किया था। आख़िर तभी तो मेरे जैसे लोगों ने भी अपने-अपने दफ़्तर से निकलकर जे॰पी॰ के आंदोलन व प्रदर्शन में

भाग लेना समयोचित समझता था। मैं भी जे॰पी॰ के सिर पर पुलिस की लाठी लगने का साक्षी इसलिए हूँ कि उस दिन के प्रदर्शन में मैं भी शरीक था और जब आँसू गैस के गोले बरसना शुरू हुआ था, तो आयकर गोलंबर, जहाँ जे॰पी॰ को लाठी लगी थी से सटे सहाय सदन में मुझे भी छिपना पड़ा था। दरअसल बाग़ियों की अपनी जाति होती है और सरकारों की भी अपनी। बड़े शौक़ से आज भी बाग़ी अपने माथे पर लाठी खा लेते हैं, क्योंकि उसके मुआवज़े में उन्हीं में से किसी बाग़ी के माथे पर आगे चलकर मंत्री व मुख्यमंत्री का सेहरा भी बँध जाता है। इतिहास इसी तरह अपने को दुहराता है। आज भी केंद्र तथा राज्य के मुख्यमंत्री के पद पर कई ऐसे बाग़ी नेता विराजमान हैं जिन्होंने सन् 1974 ई॰ के जे॰पी॰ आंदोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। मुझे याद है जब पिछले दिनों तत्कालीन रेल मंत्री नीतीश कुमार के कार्यकाल में मैं रेलवे हिंदी सलाहकार समिति का सदस्य था उसकी अंतिम बैठक में मेरे प्रस्ताव व सलाह पर तथा प्रखर पत्रकार प्रभाष जोशी के पुरज़ोर समर्थन से नीतीश कुमार ने बैठक के मात्र पंद्रह-बीस दिनों के अंतराल पर पटना से नई दिल्ली के लिए जे॰पी॰ की याद ताज़ा रखने के ख़्याल से संपूर्णक्रांति एक्सप्रेस रेलगाड़ी की शुरुआत कर दी थी जो आज भी सुख-सुविधा की दृष्टि से अधिकतर यात्रियों को भाती है और मैं भी इसी गाड़ी से सफ़र करना पसंद करता हूँ।

आज देश में विघटनकारी प्रवृत्तियाँ जिस तेज़ी से ज़ोर पकड़ती जा रही हैं, समाज विभिन्न ख़ेमों में जिस प्रकार बँटता चला जा रहा है, राजनीति में नैतिकता का जिस द्रूत गति से लोप होता जा रहा है और देशभक्ति की भावना का जिस तेज़ी से देशवासियों में ह्रास होता जा रहा है उसकी पृष्ठभूमि में जे॰पी॰ के आदर्शों एवं विचारों से प्रेरणा लेकर भावात्मक एकता को सुदृढ़ करने के लिए विशेष क़दम उठाने की ज़रूरत है। मगर प्राय: राज्यों के मंत्रियों व विधायकों के भ्रष्टाचार पर आज जिस प्रकार चर्चा हो रही है, जे॰पी॰ आंदोलन में शामिल शिक्षा में आमूल-चूल परिवर्तन के सपनों और आदर्शों को कूड़ेदान में फेंका जा रहा है और अपहरण, लूट तथा महिलाओं व दलितों को जलाने तथा हरिजन महिलाओं को निर्वस्त्र घुमाए जाने की घटनाएँ रोज़मर्रा की चीज़ें हो गई हैं, जे॰ पी॰ की संपूर्णक्रांति को आघात पहुँचता है। शायर की ये पंक्तियाँ आज पूणत: चरितार्थ हो रही हैं –

दिल के फफोले जल उठे सीने के दाग़ से
इस घर को आग लग गई घर के चिराग़ स

सर गणेश दत्त :
जिन्होंने राजनीति को साधन नहीं साध्य माना

एक बुद्धिजीवी जब राजनीति में पहुँचता है, तो उसे कठिन प्रतिस्पर्धा के दौर से गुजरना पड़ता है और आगे बढ़ने के लिए राजनीति को साधन बना बैठता है, मगर भारतीय राजनीति के इतिहास में कुछ ऐसे भी राजनीतिज्ञ हुए जिन्होंने उसे साधन न मानकर साध्य माना। सर गणेश दत्त सिंह गौरव श्रृँखला की इस कड़ी में ऐसे ही महापुरुष हुए जिन्होंने राजनीति को साध न नहीं साध्य माना। ज्ञान-कुटुम्बियों को वैभव का प्रसाद परासने वाले दानवीर और कर्मयोगी महापुरुष सर गणेश दत्त को स्मरण कर मैं अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव करने के साथ-साथ गर्व इसलिए महसूस कर रहा हूँ कि इस अमर प्रेरणा पुरुष के गाँव-छतिआना मेरे गाँव बसनियावाँ से मात्र एक किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। वस्तुतः एक समर्थ स्वतंत्रता सेनानी तथा सुयोग्य प्रशासक सर गणेश दत्त सिंह जी एक अत्यंत उदार और संवेदनशील राजनीतिा थे जिनका जन्म 13 जनवरी,1868 ई. में नालन्दा जिला के हरनौत प्रखण्ड स्थिति छतिआना गाँव लब्ध प्रतिष्ठ जमींदार श्री डेग नारायण सिंह एवं श्रीमती रुकमिणी देवी के पुत्र के रूप में हुआ था। यह बात सही है कि धनी परिवार के होते हुए भी इनकी शिक्षा-दीक्षा विलम्ब से शुरु हुई। आखिर तभी तो 18 वर्ष की आयु में पटना कॉलेजिएट स्कूल की कक्षा पाँच (आजकल की सात) में इनका नामांकन सन् 1886 में हुआ और इन्होंने प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में सन् 1891 में उत्तीर्ण की। फिर सन् 1893 में पटना कॉलेज से आई0ए0 और इसी कॉलेज से उन्होंने 1895 में बी0ए0 किया। बी0एल0 की डिग्री उन्होंने 1897 में पटना लॉ कॉलेज से प्राप्त की।

1897 से 1904 तक पटना जिला न्यायालय में वकालत करने के बाद वे कोलकाता उच्च न्यायालय चले गए। जहाँ 1916 तक उन्होंने वकालत की। फिर पटना वापस लौटकर पटना उच्च न्यायालय, पटना में सन् 1922 तक उन्होंने वकालत की। वकालत के साथ-साथ इनकी अभिरुचि समाज सेवा तथा राजनीति में भी थी। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी सन् 1912 में जब बिहार की यात्रा की थी, तब सर गणेश दत्त जी ने सक्रिय सहयोग किया और उसी वर्ष बिहार से वे काँग्रेस डेलिकेट के सदस्य हुए और साथ ही आखिल भारतीय काँग्रेस की विषय समिति के सदस्य भी। सन् 1917 से

1919 तक वे लैंड होल्डर्स एसोसियेशन के सचिव हुए तथा 1919 में उन्होंने जालियाँवाला कांड का तीव्र विरोधा किया। सन् 1921 में सविनय अवज्ञा के समय बिहार में गठित समिति के वे कोषाधयक्ष बनाए गए। सन् 1921 से 1937 तक वे विभिन्न विधान सभी क्षेत्रों सहित बिहार विधाान परिषद् के सदस्य रहे और इसी अवधि के दौरान 27 मार्च, 1923 से 31 मार्च, 1937 तक स्वलत शासन विभाग का उन्होंने मंत्री पद संभाला। इसी दौरान शिक्षा, चिकित्सा, यातायात इत्यादि से जुड़े जनहित के कार्यों में उनका अद्भुत योगदान रहा।

5 जून, 1927 को इन्हें 'सर' की उपाधि से अलंकत किया और 1933 में पटना विश्वविद्यालय से डॉक्ट्रेड की मानद उपाधि से नवाजा गया। सर गणेश दत्त सिंह के व्यक्तित्व व कृतित्व की एक और विशेषता अनुकरणीय है कि वे अपने वेतन का तीन चौथाई यानी 3000/- रुपए प्रतिमाह दान स्वरूप लगातार चौदह वर्षों तक देते रहे जिससे शिक्षण संस्थान, गरीबों, लाचारों और विधवाओं को राशि दी गई। इसी राशि में से पटना विश्वविद्यालय को चार लाख रुपए मिले तथा विज्ञान एवं तकनीकी की उच्च शिक्षा के लिए छात्रवृत्ति प्रदान की। महाप्रयाण के पूर्व सर गणेश दत्त सिंह ने गंगा किनारे स्थित अपने निजी मकान कृष्ण कुँज को पटना विश्वविद्यालय के दाम में दे दिया। जिसमें इन दिनों विश्वविद्यालय को मनोविज्ञान संस्थान चलता है। कम वेतन लेकर अपनी कमाई को अपने परिवार पर खर्च नहीं कर अमावग्रस्त एवं दीन-दुखियों परिचायक है। वर्तमान दौर के भौतिकवादी युग में खासतौर पर सार्वजनिक जीवन जीनवाले लोग अपने परिवार की समृद्धि के लिए एक-केन प्रकारेण धन अर्जित करने में दिन-रात तल्लीन रहते है और नैतिकता को ताक पर रखकर मनुष्यता को बेचने में तनीक भी नहीं हिचकिचाते, ऐसे समय में सर गणेश दत्त सिंह जीने इन सबों से परे रहकर अपने त्याग, समाज सेवा तथा उदाशयता का जो परिचय दिया वह इतिहास के पन्नों में अंकित है। यदि उन्हें आधुनिक 'कर्ण' की संज्ञा से विभूषित किया जाए, तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

सर गणेश दत्त सिंह जी ने अपने व्यक्तिगत धन से अपने गाँव में अपनी माँ के नाम पर मैना कुमारी संस्कृत पाठशाला, पड़ोसी गाँव गोनावाँ में मैना कुमारी मध्य विद्यालय, पटना के कदमकुआँ में सर गणेश दत्त पाटलिपुत्र उच्च विद्यालय, पटना में ही विधवाश्रम, हिंदू अनाथालय तथा शिशु कल्याण संघ की स्थापना की। इसी प्रकार इनके सहयोग और अथक परिश्रम से

सार्वजनिक धन से सन् 1922 में राँची में रेडियम इन्स्टिच्यूट बनवाया। जिसका बाद में स्थानांतरण पटना हो गया। 1 जूलाई, 1925 को इनके पर्यअन से पटना चिकित्सा महाविद्यालय, दरभंगाय मेडिकल स्कूल भारतीय मानसिक रोग अस्पताल, कांके राँची, आयुर्वेद स्कूल पटना, इटकी आरोग्यशाला, अँधा स्कूल पटना, बहरा-गूँगा स्कूल, पटना पशु चिकित्सा अस्पताल, पटना तथा डयरी फार्म, पटना की स्थापना हुई। सन् 1980 में श्रीमती रुकमिणी देवी से इनका विवाह हुआ। इनके एक पुत्र भी जल गोविन्द सिंह, अधि वक्ता तथा दूसरे पुत्र श्री हरगोविन्द सिंह न्यायाधीश हुए।

आज जब हम सर गणेश दत्त जी पर हम संस्मरण लिखने बैठे हैं, तो यह विचार करने के लिए हम विवश हैं कि शिक्षा में अराजकता और घटती गुणवत्ता के दौर में सर गणेश दत्त कितने प्रासंगिक है खासकर तब जब आज की भारतीय राजनीति जनता के कठघरे में खड़ी है और उसके नेता व्यक्तिगत स्वार्थ, नस्ल, जाति-प्रजाति, भाषाई सांप्रदायिक तथा क्षेत्रीय प्रतिबद्धताओं से संबंधित आग्रहों से ग्रस्त हो देश को खण्ड-खण्ड पर आमादा हैं तथा देश की श्रेष्ठतम प्रतिमाओं को अपने पास फटकने नहीं देते। दरअसल, नेताओं की प्राथमिकता में देश और समाज आता ही नहीं, उन्हें तो बस कुर्सी और सत्ता चाहिए। मुझे अच्छी तरह याद है जब एक बार सर गणेश दत्त सिंह की जयंती के अवसर पर विशिष्ट अतिथि के रूप में मुझे आमंत्रित किया गया था, तो हमारे पूर्व के वक्ताओं में जिसमें अधिकतर किसी न किसी दल के नेता ही थे। उनमें कुछ तो पूर्व मंत्री तथा सांसद भी थे, सभी ने प्रायः सर गणेश दत्त जी उदारशीलता और दानवीरता का मुक्तकंठ से सराहा और लोगों को उनसे प्रेरण लेने का पाठ पढ़ाया। जब बोलने की मेरी बारी आई तो मैंने स्पष्ट रूप से कहा कि भारतीय राजनीति के मौजूदा नेता जब सत्ता की कुर्सी पर बैठ जाते हैं, तो एक-दो पीढ़ी के लिए ही नहीं पाँच-सात पीढ़ियों तक के लिए नाजायज ढंग से इतना धन इक्ट्ठा कर लेते है कि उन पीढ़ियों को फिर कुछ करने की जरुरत ही नहीं पड़ती। मगर जो लोगा ऐसा करते हैं वे प्रवचन देते हैं उसे अपने जीवन में नहीं अपनाते। वही नेता सर गणेश दत्त जी के जीवन से प्रेरणा लेने की बात करते हैं जिनकी कथनी और करनी में कोई सामंजस्य नहीं होता। यही कारण है कि ऐसे नेताओं के भाषण का कोई प्रभाव जनता पर नहीं पड़ रहा है। मैंने देखा और सुना कि हमारा कुछ नेताओं को गंवारा नहीं हुआ। बाद के कुछ वक्ता तो टिप्पणी देने से भी बाज नहीं आए जिन्हें मुझे उनकी टिप्पणियों का उत्तर भी देना पड़ा जिसे सुनकर

आमश्रोता गदगद हो रहे थे।

भारतीय राजनीति में भी एक समय था जब शिक्षा के प्रति समर्पित नेता सर गणेश दत्त जी में त्याग, निष्ठा, आमजन के दुख-दर्द और पीड़ा को महसूस करने की समझे थी। सर गणेश दत्त सरीखे राजनेता शिक्षा को व्यक्ति, समाज और देश के संतुलित विकास के लिए साधान मानते रहे। उनका मानना था कि शिक्षा ही मनुष्य को अन्य प्राणी से भिन्न उसमें ज्ञान का आलोक भरती है, नैतिकता का समावेश करती है और उसे सम्य तथा सुसंस्कृत बनाती है। इसलिए कहा जाता है-'नास्ति विद्या समम् चक्षुः विघ्याज्मृत मश्नुते।'

किसी भी देश को प्रगतिशील धारा में शमिल होने के लिए वहाँ की शिक्षा अहम् भमिका निभाती है। इसी को मद्दनजर रखते हुए सर गणेश दत्त जी ने शिक्षा पर जोर दिया। पटना में गंगा किनारे स्थित अपने निजी को मकान को पटना विश्वविद्यालय को हवाले कर देना इस बात को घोतक है कि सर गणेश दत्त सिंह जी अपने से अधिक समाज व देश की चिंता करते थे, किंतु आज परस्पर सौहार्द एवं एक-दूसरे की चिंता का अभाव दिखता है। यह इस बात का सूचक है कि सहिष्णुता, न्याय और नैतिकता तथा त्याग का जो सुपरिचित मार्ग सर गणेश दत्त जी सरीखे, चिंतकों व विचारकों ने दिखाया था, उसे आज के अधिकांश नेताओं तथा सत्ता पर विराजमान कर्णध ारों ने तिलांजलि दे दी है। दूसरी ओर गरीब-अमीर के बीच बढ़ती खाई और जाति भेद के कारण इन दबावों को कम करने की प्रक्रिया में एक आत्मकेंद्रित समाज (Self Centred Society) उभरकर आया है। यह समाज केवल अपना सकींर्ण स्वार्थ, अपनी प्रगति तथा अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की परवाह करता है। यह अपवाद नहीं, नियम बन गया है, जिसके भारी बोझ से सामान्य नागरिक दबे जा रहे हैं। सर गणेश दत्त ने महसूस किया था कि हमने जनता के मन में दूसरों की चिंता करनेवाली जीवन-पद्धति न जगाया, तो समाज व राष्ट्र बर्बादी के कगार पर चला जाएगा। इसे उन्होंने अपने जीवन में अपनाकर लोगों को रास्ता दिखाया। जिसका आज के नेताओं में सर्वथा अभाव है, इस पर आज विचार करना जरुरी है और प्रबुद्ध जनों के चिंतन-मनन का विषय बनना चाहिए। शिक्षा, त्याग और समर्पण का भाव जगाने वाले उदारमना सर गणेश दत्त जी की स्मृति को मैं मदन मोहन की इन पंक्तियों से नमन करता हूँ-

हम बात बन सदा रहेंगे, बीच तुम्हारे दीप।
रक्त हमारा रौगन होगा, ज्यति-ज्यति हे दीप।।

वीरचन्द पटेल : जो राजनीति में रहकर भी राजनेताओं की कमजोरियों से अलिप्त थे

'राजनीति' शब्द के जन्मदाता चाहे जो भी रहे हों उनका अभिप्राय निश्चित सिद्धांतों एवं मान्यताओं पर आधारित राज्य की नीति से रहा होगा और सत्य, नैतिकता, न्याय और समन्वय ही नीति के सिद्धांत रहे होंगे। सैकड़ों वर्ष पूर्व यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने राजनीति को 'सर्वोच्च साधुता' की अभिव्यक्ति का साधन माना था और इसके लिए उसने एक 'आदर्श राज्य' की कल्पना की थी, जिसके मुख्य उपादान थे- विवेक, शौर्य और क्षुधा। अरस्टू, यद्यपि अपने गुरु प्लेटो की अपेक्षा ज्यादा व्यावहारिक था और उसके आदर्श 'राज्य' की जगह उसने 'सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक राज्य' की अवधारणा की वकालत की थी। इस प्रकार उसने भी नैतिक मूल्यों को ही राज्य का मूल आधार माना था। महात्मा गाँधी ने सदैव राजनीति में आध्यात्मीकरण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया और मैकियावेलियन एवं मार्क्सवादी दोनों दृष्टिकोणों को नकारते हुए उन्होंने साध्य और साधन दोनों की परिशुद्धता पर बल दिया था। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि अलग साधनों से प्राप्त किया गया साध्य कभी भी स्थायी एवं मंगलकारी नहीं हो सकता। यही कारण था कि देश की आजादी के लिए उन्होंने हिंसक संघर्ष की जगह अहिंसा असहयोग तथा सत्याग्रह जैसे उपकरणों का सहारा लिया था। हिंसक संघर्ष करने वालों के लिए उनके मन में सहानुभूति नहीं थी और उन्होंने उसका कभी समर्थन नहीं किया था। गाँधी का स्वाधीनता-संग्राम सत्य, अहिंसा और सदाचार जैसे नैतिक मूल्यों पर आधारित था। गाँधी युगीन नेताओं पर गाँधी-दर्शन का प्रभाव स्वाभाविक था। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, सरदार वल्लभभाई पटेल, मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे यशस्वी नेताओं का व्यक्तित्व गाँधी जी की छत्रछाया में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ था।

बिहार के यशस्वी नेता वीरचन्द पटेल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर जब हम एक नजर डालते हैं, तो उन्हें भी राजेन्द्र बाबू, सरदार पटेल तथा मौलाना आजाद की भाँति महात्मा गाँधी के ही अनुयायी के रूप में पाते हैं, क्योंकि उन्होंने जीवनपर्यन्त गाँधी जी के बताए रास्ते पर ही निष्ठावान सिपाही की तरह चलते रहे और सत्य, अहिंसा, संयम और सादगी उनके जीवन के मूलमंत्र रहे तथा अनेक कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद सत्य के रास्ते

से वे कभी नहीं डिगे। आखिर तभी तो उनका राजनीतिक जीवन भी सदैव निष्कलुष, निर्लेप और निर्दोष रहा। अपने राजनीतिक जीवन में वे सदा काँग्रेस पार्टी में रहे। बीच में राजनीति में जब उथल-पुथल तथा दल-बदल हुआ तो भी वे बिहार के शीर्ष नेता डॉ. अनुग्रह नारायण सिंह के ही साथ रहे। वीरचन्द्र पटेल के संभवतः इन्हीं गुणों के कारण डॉ. श्रीकृष्ण सिंह के मुख्यमंत्री होने पर पटेल साहब को उन्होंने अपने मंत्रिमंडल में शामिल कर महत्वपूर्ण स्थान दिया। श्रीबाबू को निश्चित रूप से वीरचन्द पटेल के मजबूत इरादे, निःस्वार्थ भाव और सच्चाई पर विश्वास रहा होगा।

इसी प्रकार श्रीबाबू के निधन के बाद जब कृष्णबल्लभ सहाय मुख्यमंत्री पद के लिए दावेदार हुए तो उस समय भ्रष्टाचार का राजनीति में शिकंजा कस चुका था जिसके फलस्वरूप किसी भी चुनाव जीतने के लिए भारी थैली की जरूरत होती थी। वीरचंद पटेल को भी जब मुख्यमंत्री के लिए उम्मीदवार होने को कहा गया तो बिहार के औद्योगिक प्रतिष्ठान के एक दिग्गज उन्हें लाखों रुपए की राशि देने को आगे आए, ताकि थैली के बल पर वे चुनाव में जीत हासिल कर सकें, मगर वीरचन्द पटेल का उत्तर था-'फिर इतना धन मैं आपको लौटाऊँगा कहाँ से? मैं अपनी विजय के लिए बिहार प्रदेश को गिरवी नहीं रख सकता।' ऐसे ईमानदार और निष्ठावान नेता थे वीरचन्द पटेल जिन्होंने अपने आदर्श और आचरण को हर हाल में बचाए रखना चाहते थे। यही कारण है कि जब भी वे चुनाव में खड़े हुए बहुत कम खर्च पर ही सदैव जीतते रहे और सरकार में शामिल होते रहे। दरअसल, वीरचन्द पटेल सदैव कर्म को ही पूजा मानते हुए अपने कर्तव्यपथ पर निर्लेप और निस्पृह भाव से जुटे रहे। वे हमेशा कहा करते थे- 'अपने कर्म के प्रति सच्चाई ही सच्ची ईश्वर-भक्ति है।'

वीरचंद पटेल का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक और व्यवहार मृदुल था। मुझे अच्छी तरह याद है जब मैं पटना कॉलेज का विद्यार्थी था तो जैक्शन हॉस्टल में रहता था और एम.ए. करने के दौरान उसके न्यू हॉस्टल में रहने लगा। हमारे हॉस्टल के ठीक पूरब छात्राओं का छात्रावास था जहाँ वे अक्सरहा आया-जाया करते थे कारण कि प्रो.(डॉ.) संपति आर्यानी से उनका संबंध बहुत अच्छा था। संपति आर्यानी उन दिनों आकाशवाणी के पटना केंद्र से जुड़ी थीं।

पटनासिटी के मच्छरहट्टा मुहल्ले के एक सामान्य परिवार में 12 मार्च, 1911 को जन्में वीरचन्द पटेल के पिताजी का देहावसान हो जाने के

कारण उनका लालन-पालन हाजीपुर स्थित उनके ननिहाल के परिवार में हुआ था, जहाँ उन्हें राष्ट्रभक्ति, कर्त्तव्यपरायणता एवं ईमानदारी का संस्कार मिला। कहा जाता है कि बचपन से ही उनके मन में आजादी की लड़ाई की चिनगारी सुलग रही थी और वह मौका मिलते ही भभक उठी। फलत: महात्मा गाँधी के आह्वान पर सन् 1930 के 'नमक-सत्याग्रह आंदोलन' में वे कूद पड़े जिस समय वे इंटर के ही छात्र थे। आंदोलन में भाग लेने के कारण कुछ समय के लिए उन्हें अपनी पढ़ाई स्थगित करनी पड़ी, फिर भी उन्होंने अच्छे अंकों से इंटर की परीक्षा पास की और पटना कॉलेज में उन्होंने अपना नामांकन कराया। स्वाधीनता आंदोलन में भाग लेने की वजह से ही पटना कॉलेज के तत्कालीन अँग्रेज प्राचार्य ने उन्हें कॉलेज से निष्कासित कर दिया। बिहार के किसी कॉलेज में जब उनका नामांकन नहीं हो सका, तो वे निराश से हो गए, किंतु सौभाग्यवश उसी समय उनकी मुलाकात महामना प. मदनमोहन मालवीय से हो गयी जिन्हें वीरचंद पटेल ने अपनी व्यथा-कथा सुनाई। मालवीय जी की अनुकम्पा से उनका नामांकन बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में हुआ जहाँ से उन्होंने अच्छे अंकों से बी.ए. एवं बी.एल. की परीक्षाएँ पास कीं।

बी.एल. करने के बाद वीरचन्द पटेल ने कुछ दिनों तक वकालत भी की, पर उसमें उनका मन इसलिए नहीं रम पाया, क्योंकि वे पूरी तरह स्वाधीनता-संग्राम के प्रति जुड़े थे, सर पर कफन बाँधकर। कुछ इसी वजह से उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा और उन्हें पुलिस की प्रताड़ना भी सहनी पड़ी। इस बीच उनके घर की आर्थिक स्थिति भी चरमरा गई, फिर भी उन्हें डिगा नहीं सका अपने पथ पर चलते रहने से और वे आगे बढ़ते गए तथा उनकी देशभक्ति परवान चढ़ती गई। निर्भीक होकर बिना कोई प्रलोभन के स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लेते रहे। इसी अवधि में उनकी पत्नी टी.बी. से पीड़ित हो गई और अर्थाभाव के कारण भरी जवानी में वह उन्हें अकेला छोड़कर विदा हो गई। अंतिम क्षणों में उनसे भेंट भी नहीं हो सकीं। दुर्भाग्य ने इतना होने के बाद उनका पीछा नहीं छोड़ा। उनका इकलौता पुत्र जो रूग्ण था उसका भी उसी समय निधन हो गया जब वीरचंद पटेल लोकल बोर्ड का चुनाव लड़ रहे थे। यह सब कुछ वे झेलते रहे, चुपचाप, असीम वेदना के साथ, फिर भी अपने कर्तव्य-पथ पर डटे रहे एक वीर योद्धा की तरह। विशुद्ध गाँधीवादी होने के कारण उन्होंने सत्य, अहिंसा और सदाचार को सदैव अपनाया।

15 अगस्त, 1947 को जब अँग्रेजों की बेड़ियों से इस देश को छुटकारा मिलने पर अंतरिम सरकार बनी तो वीरचन्द पटेल संसदीय सचिव के रूप में उस सरकार में शामिल हुए। उसके बाद तो उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा और हर सरकार में उन्हें मंत्री पद सौंपा गया। पं. विनोदानन्द झा के नेतृत्व में बनी सरकार में वित्त मंत्री जैसी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी उनके सबल कंधों पर सौंपी गई। इसी प्रकार कृष्णवल्लभ सहाय के मंत्रिमंडल में वे राजस्व जैसे संवेदनशील विभाग सौंपा गया। अपनी योग्यता, ईमानदारी और कर्तव्यपरायणता के बल पर वे अपने सहयोगियों एवं अधीनस्थ अधिकारियों के बाच समान रूप से लोकप्रिय थे। शालीनता और विनम्रता उनके व्यक्तित्व में कूट-कूटकर भरी थी। उन्होंने कभी किसी का अहित नहीं किया। अनुशासन की कठोरता और मर्यादाओं के प्रति निष्ठा उनकी कार्य-शैली की विलक्षणता थी। वे सहयोग और सद्भाव के जहाँ समर्थक थे, तो वहीं प्रतिकार और प्रतिशोध के प्रति उनकी वितृष्णा थी। अपने राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में शायद ही उनका किसी से टकराव या दुराव रहा हो।

सामाजिक न्याय के उन्नायक होने के बावजूद वीरचन्द पटेल ने न तो जातीय संगठन बनाया और न ही किसी प्रकार की गुटबाजी का सहारा लिया। दलितों, शोषितों, पीड़ितों और उपेक्षितों के प्रति उनका लगाव था जिसके उन्नयन के लिए उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए, किंतु कभी भी उन्होंने अपने आप को दलितों अथवा पिछड़ों के नेता के रूप में उद्घोषित नहीं किया जैसा कि वर्तमान दौर की भारतीय राजनीति में स्पष्टतः देखने को मिल रहा है। दरअसल, आज के नेताओं की तरह वीरचन्द पटेल दलितों-पिछड़ों के प्रति केवल घड़ियालू आँसू बहाने के आदी नहीं थे। वीरचंद पटेल को समाज-सुधार में विश्वास था इसलिए उन्होंने जाति को राजनीति का आधार या माध्यम कभी नहीं बनाया, बल्कि इस प्रकार की प्रवृति के वे घोर विरोधी थे। हाँ, दलितों, पीड़ितों एवं दबे-कुचले के लिए उन्होंने जीवन-पर्यन्त संघर्ष किया, परन्तु वे जाति के राजनीतिकरण के पक्षधर कभी नहीं रहे। यही कारण है कि उन्होंने पद-प्राप्ति के लिए न तो अपने पिछड़ेपन की दुहाई दी और न ही उसका लाभ उठाया। उनकी स्पष्ट धारणा थी कि जातीय संगठन का उद्येश्य सामाजिक कुरीतियों को दूर करना तथा अंतरजातीय सदभाव को बढ़ावा देना होना चाहिए न कि जातीय विद्वेष फैलाना।

वीरचन्द पटेल जी का अटूट विश्वास था कि पारस्परिक सहयोग और सद्भाव के बिना देश की तरक्की नहीं हो सकती। मुझे अखबार की

वह खबर अच्छी तरह याद है जब मैं 1960 में स्नातक की परीक्षा पास कर ली थी तो बिहार राज्य तैलिक वैश्य कार्यकर्ता सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए वीरचन्द पटेल ने कहा था- 'मैं समाज को जातीयता के विषाक्त प्रभाव से बचाने के लिए कृतसंकल्प हूँ। जातीय संगठन अपने मंच से इस प्रकार का काम कर सकते हैं।'

वैसे सच कहा जाए तो जाति आज हमारी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का अभिन्न अंग बन गई है, अत: जाति-उन्मूलन की बात महज अकादमिक अभ्यास बनकर रह जाती है। इस दृष्टि से जातीय संगठनों की ऐतिहासिक भूमिका रही है। इस प्रकार के जातीय संगठनों की वजह से दबी-कुचली जातियों में नयी चेतना आयी है, अपने अधिकारों के प्रति वे सजग और सचेत हुए हैं, उनकी पहचान बनी है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि हम जातीय संगठनों के सकारात्मक पक्ष को उजागर कर उन्हें समाज और राज्य के हित की ओर उन्मुख करें न कि उन्हें जातीय विद्वेष और संघर्ष का उपकरण बनाएँ। लोकतंत्र में जब हम बहुमत की बात करते हैं तो निश्चित रूप से उसका अभिप्राय होता है- समाज के हर वर्ग और हर तबके के लोगों की सहभागिता न कि कुछ खास वर्ग के लोगों का बहुमत। भगवान बुद्ध ने अपने प्रथम संदेश में भिक्षुओं को संबोधित करते हुए कहा था 'चरिथ भिक्खवे, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।' वस्तुत: अधिकाधिक लोगों का हित हो, अधिकाधिक लोगों का कल्याण हो, यह पावन संदेश समय-समय पर संतों, मनीषियों एवं महापुरुषों द्वारा दिया जाता रहा है। वीरचंद पटेल अपने चरित्र में महापुरुषों को मन सावाचाकर्मणा लागू करते रहे। इस प्रकार वीरचन्द पटेल ने सामाजिक-क्रांति के अग्रदूत की भूमिका सफलतापूर्वक निभायी।

सच मानिए, पटेल जी के हृदय में समाज के कुत्सित दुर्गुणों के प्रति एक आग जलती थी। वे समाज के बुद्धिजीवियों के छल, छद्म और कुत्सा को समझते थे, अत: चट्टान की तरह अपने विचारों पर अडिग रहकर के आजीवन न्याय चेतना की ज्योति जलाते रहे। आज जो सत्ता और शासन से अभिवंचितों को भागीदारी मिल रही है उससे वीरचंद पटेल जैसे उन्नायको की तपस्या और संघर्ष की महती भूमिका है। परंतु इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि ऐसे प्रबुद्ध और संघर्षशील राजनेता को दीर्घायु प्राप्त नहीं हो सकी। वे 7 दिसंबर, 1966 ई. को लगभग छप्पन वर्ष की स्वल्प आयु में ही हमसे सदा-सदा के लिए विलग हो गए। मगर मुझे अफसोस इस बात

का है कि कभी बिहार का स्वास्थ्य मंत्री पद पर रहने वाले नेता के अस्वस्थ होने पर साधारण से साधारण चिकित्सक इलाज के लिए बुलाए गए जिसे संभवत वास्तविक जानलेवा रोग हृदयाघात का पता नहीं लग सका। जो सम्प्रति वीरचंद पटेल अपने भौतिक शरीर से तो हमारे बीच नहीं है, परन्तु उनका यशः शरीर आगामी अनेक पीढ़ियों तक हमें प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। जन्म के बाद मरण तो अवश्यम्भावी है, परंतु उसी का जन्म लेना और जीवन जीना सार्थक माना जाता है, जिसने अपने अप्रतिम व्यक्तित्व एवं रचनात्मक कृतित्व से देश तथा समाज को गौरवान्वित किया हो। ठीक ही कहा गया है–

'न तो येन जाते न याति वंशः समुन्नतिम।
परिवर्तिन संसारे मृतः को वा न जायते।।'

अर्थात इस संसार में उसी व्यक्ति का जन्म लेना सार्थक माना जाएगा, जिसने अपने कुल और समाज को उन्नति पर पहुँचाया हो। अन्यथा इस परिवर्तनशील समाज में कौन नहीं मरता और कौन नहीं जन्म लेता है।

वीरचंद पटेल की असामयिक मृत्यु से देश व समाज को जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति आसान नहीं। एक ओर से वह प्रभावशाली व्यक्तित्व नहीं रहा, जो स्वनिर्माण के द्वारा ऊँचे-से-ऊँचे पद को प्राप्त कर रहा था और प्राप्त करने की क्षमता वाला था, दूसरी ओर पटना का वीरचंद पटेल पथ का वह साधारण-सा बंगला, जहाँ पटेल ने संसदीय सचिव के पद से लेकर मंत्री के पद तक का कार्यकाल निभाया था, याद दिलाता है कि इसी पाटलिपुत्र से कौटिल्य एक कुटिया के अंदर रहकर कैसे मगध का सूत्रधार बना हुआ था। कार्यक्षमता तथा कार्यकुशलता, प्रशासनिक योग्यता तथा अनुशासनप्रियता के साथ सरल, निश्छल, महिमा-गरिमा सम्पन्न व्यक्तित्व वाला असाधारण व्यक्ति पटेल को छोड़कर बिहार की समसामयिक राजनीति में अन्य कोई नजर नहीं आता। आज के नेता तो कुर्सी से ऐसे चिपके हैं जैसे कि कुर्सी पर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करेंगे। कुर्सी नहीं मिलती है, तो विचारधारा को ताक पर रखकर दल-बदल करने में तनीक भी संकोच नहीं करते अथवा कुर्सी बरकरार रखने के लिए कुछ भी अनैतिक करने से बाज नहीं आते।

वीरचन्द पटेल तो बिहार के मुख्यमंत्री भी हो सकते थे यदि उम्र उनका साथ दिए होती। बिहार के लोगों को उनके गहरी आस्था और सद्भावना थी। वह बहुत तरह के राजनैतिक उथल-पुथल से गुजरे, लेकिन किसी ने यह भी नहीं कहा कि वे बेईमान हैं, स्वार्थी हैं। राजनीति में रहकर

भी एक राजनीतिज्ञ की कमजोरियों से अलिप्त, जल में रहकर भी कमल-पत्र की भाँति उसके परस-प्रभाव से मुक्त- 'पद्मपत्रमिवाम्भसा'। आखिर तभी तो उनपकर कभी कोई धब्बा नहीं लगा। राजनीति में नवागन्तुकों के लिए वह एक प्रेरणा-स्रोत और आदर्श बन गए थे और राजनीतिज्ञों के लिए 'आदर्श प्रतिमान' के रूप में चुनौती।

दरअसल, पटेल साहब के उच्चादर्शो और मर्यादाओं के पीछे उनकी शैक्षणिक पृष्ठभूमि तथा उनका पारिवारिक संस्कार-परम्परा थी। यह सच है कि अपने मामा के परिवार से उन्हें अच्छे संस्कार मिले थे, जिन्हें उन्होंने अपने अध्ययन और अनुभव से सजाया, संवारा और समृद्ध किया था। वे अध्ययनशील और अध्यवसायी थे। अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ने का उन्हें शौक था। उनका अपना एक पुस्तकालय था जिसमें अनेक महत्वपूर्ण एवं दुर्लभ पुस्तकों का अच्छा संग्रह था। विद्यानुरागी वीरचन्द पटेल में ज्ञान-विज्ञान की नयी-नयी जानकारियाँ प्राप्त करने की जिज्ञासा थी, ललक थी। विद्वतजनों के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी।

वर्तमान दौर संकटों और त्रासदियों का दौर है, मूल्यों और सिद्धांतों की गिरावट का दौर है, क्योंकि एक ओर आज जहाँ भारतीय राजनीति की मौजूदा स्थिति बहुत अच्छी नहीं दिखती, वहीं दूसरी और भारतीय समाज के लोगों में भी कुप्रवृत्तियाँ बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही है। क्या यह दुःख और क्षोभ की बात नहीं कि गाँधी के अपने ही देश भारत में गाँधी के विचार और आदर्श भुलाए जा रहे हैं? गाँधी की हत्या तो एक बार हुई, परंतु उनके विचारों और सिद्धांतों की हत्या रोज-ब-रोज हो रही है। गाँधी युग के अधिकांश नेता इस दुनिया से विदा हो चुके हैं। एकाध कहीं रह गए हों, तो वे निष्प्रभावी हो चुके हैं, समाज में उनकी कोई पहचान नहीं है। आधुनिक पीढ़ी के लिए गाँधी के सिद्धांत एवं आदर्श कोई मायने नहीं रखते। वर्तमान दौर के राजनेता मैकिया वेलियन सिद्धांत से प्रभावित दिख रहे हैं, जिनके लिए वांछित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु किसी भी प्रकार का आचरण या किसी भी प्रकार के साधन प्रयोग करने में कोई रूकावट नहीं होती। आज सत्य और नैतिकता एवं ईमानदारी जैसे मुहावरे अनर्गल हो गए हैं और उनके स्थान पर छल, कपट, प्रपंच जैसे मुहावरे का खुलकर प्रयोग हो रहा है। यही कारण है कि राजनीति को नीची नजरों से देखा जा रहा है। आज हमारी राजनीतिक संस्कृति इस कदर विकृत हो गई है कि कोई भी भला एवं ईमानदार, निष्ठावान व्यक्ति राजनीति में प्रवेश करने की बात सोच नहीं सकता।

ऐसी विकट एवं विषम स्थिति में वीरचन्द पटेल जैसे नेकदिल इंसान, ईमानदार और निष्ठावान नेता की आवश्यकता गंभीरता से महसूस की जा रही है। आज जब हम किसी मंत्री या विधायक के आचरण को देखते हैं, तो हमें बरक्स वीरचंद पटेल जैसे नेताओं की याद ताजा हो उठती है। इसलिए उनके विचार और सिद्धांत आज भी प्रासंगिक हैं। ऐसे वक्त मुझे याद आ रही हैं राजस्थानी के कवि नीरज दइया की कविता 'रचाव रा रंग' की निम्न पंक्तियाँ–

'कवियों के इर्द-गिर्द
घू रही हैं उनकी आत्माएँ
अवश्य देंगी वे रचाव को
नया राग नए रंग
क्योंकि वे आज भी है मुक्त
जीवन और मरण से।'

नीरज दइया के इन्हीं पंक्तियों से वीरचंद पटेल की स्मृति का नमन करते हुए मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

सत्येंद्र नारायण सिंह : जिनकी आत्मकथा अतीत में झाँकने का एक साधन बनेगी

'छोटे साहब' के नाम से परिचित बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री सत्येंद नारायण सिंह का क़द बड़ा था। उन्होंने जीवन के आख़िरी क्षण में 'मेरी यादें : मेरी भूलें' नामक आत्मकथा लिखी, जो नई पीढ़ी के लोगों को अतीत में झाँकने का एक साधन बनेगी। इस आशय के विचार पुस्तक के लोकार्पण समारोह के अवसर पर उन्होंने स्वयं व्यक्त किए थे। अपने जीवन के इस अंतिम समारोह में छोटे साहब ने कहा, "इस पुस्तक में मैंने सच लिखा है ...। आज आप सब की उपस्थिति ने मुझमें कुछ दिन और जीने की तमन्ना जागृत कर दी है।" इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा है, "यह पुस्तक आत्मकथा के रूप में कम है, लेकिन इसमें बदलते हुए उस परिवेश का चित्रण अवश्य है, जिससे होकर मेरी ज़िंदगी गुज़री है।" इस पुस्तक को लिखने के लिए उन्हें प्रेरणा अपनी पत्नी तथा पूर्व सांसद किशोरी सिंहा से मिली।

'मेरी यादें : मेरी भूलें' आत्मकथा में सत्येंद्र नारायण सिंह ने बिहार में सिसकते शिक्षा प्रक्षेत्र, बिहार में काँग्रेस की पराजय, बिहार की नौकरशाही, लोक सभा चुनाव 1989 तथा बिहार के संदर्भ में काँग्रेस की राजनीति का विस्तृत विवेचन किया है। मुझे अच्छी तरह याद है कि इस पुस्तक के लोकार्पण के पश्चात् काँग्रेस के नेताओं के बीच खलबली मच गई थी, कारण कि उसमें बहुत कुछ सच्चाई जो थी। बिहार में शिक्षा में बढ़ती अराजकता और उस क्षेत्र में निरंतर हो रही गिरावट पर अपनी चिंता व्यक्त करते हुए इस पुस्तक में सत्येंद्र नारायण सिंह ने यहाँ तक कह डाला है कि "परीक्षा ओर प्रमाण-पत्र का कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया है, क्योंकि सस्ती लोकप्रियता के लिए राज्य स्तर पर नीति का निर्धारण और उसका क्रियान्वयन किया जाने लगा है। एक महाविद्यालय की स्थिति के बारे में उन्होंने कहा है कि इसमें शायद 63 या 67 विद्यार्थी थे, लेकिन वहाँ शिक्षकों की संख्या 250 से अधिक थी फिर भी सरकार के द्वारा उसे अंगीभूत कर लिया गया। अब तो सभी सरकार के मुखापेक्षी हो गए हैं। निजी क्षेत्र के शिक्षण संस्थानों के बारे में भी वे लिखते हैं कि वे सेवा-भावना से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि व्यवसाय की भावना से ग्रस्त होकर खोले जाने लगे हैं। ग़लत नीतियों का ही परिणाम है कि

जनसहयोग से चलने वाले शिक्षण संस्थानों का सरकारीकरण करके उनके सुचारु रूप से संचालन का मार्ग अवरुद्ध कर दिया गया है। वित्तरहित शिक्षा नीति ने तो और नुक़सान पहुँचाया है।

बिहार की नौकरशाही के संबंध में छोटे साहब का कहना था कि किसी ने सच ही कहा है कि नौकरशाही घोड़े की तरह होता है, जो अपने सवार को जानता है। (Bureaucracy is like a horse, that knows its rider) उनकी मान्यता यह रही है कि नौकरशाह को अपना निष्पक्ष परामर्श देने का अधिकार है और मंत्री को उसके संदर्भ में समुचित निर्णय लेने का। (While the bureaucrat has the right to advise, the political boss has the right to prevail) इस प्रकार सत्येंद्र बाबू ने विशेषतः सरकार के वरिष्ठ पदाधिकारियों को निर्भय होकर और निष्पक्षता से अपनी राय देने का सुझाव पुस्तक के माध्यम से दिया है।

12 जुलाई, 1917 ई० को औरंगाबाद ज़िले के पोईयावाँ गाँव में जन्मे सत्येंद्र नाराण सिंह बिहार विभूति अनुग्रह नारायण सिंह के कनिष्ठ पुत्र थे। उन्होंने अपनी प्रारंभिक शिक्षा ठाकुर युगल किशोर सिंह के साथ रहकर रायबरेली में पूरी की। ज़ब वे 11 साल के थे तभी उनकी माँ चल बसी थीं। उनका लालन-पालन उनकी बड़ी बहन अपराजिता देवी ने की। सन् 1938 ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक तथा लखनऊ विश्वविद्यालय से लॉ की डिग्री लेने के बाद उन्होंने पटना उच्च न्यायालय में बलदेव सहाय के अधीन वकालत शुरू की। लेकिन सत्येंद्र बाबू को शीघ्र ही यह लगने लगा कि वे ग़लत पेशे में आ गए हैं। उनकी यह समझ बनी कि यह पेशा 'जेलर्स मिस्ट्रेस' की तरह है और वे इसे त्याग कर सन् 1950 ई० में राजनीति में कूद पड़े। राजनीति तो इन्हें विरासत में मिली थी। तब से इनके राजनीतिक जीवन में कई उतार-चढ़ाव आए और सातवें दशक आते-आते वे 'किंग मेकर' की भूमिका में आ गए, क्योंकि बिहार की जातिवादी राजनीति में उन्होंने अपने को पूरा ढाल लिया था।

सन् 1952, 1957, 1971, 1977, 1980 और 1984 के लोक सभा चुनाव में सत्येंद्र बाबू ने औरंगाबाद का प्रतिनिधित्व किया। सन् 1961 में विनोदानंद झा तथा 1963 में के०बी० सहाय के नेतृत्व में बनी बिहार सरकार के मंत्रिमंडल में क्रमशः शिक्षा, पंचायती राज तथा कृषि मंत्री का दायित्व उन्होंने संभाला। फिर सन् 1967 में नबीनगर से वे विधायक चुने गए। 1977 में जनता पार्टी के वे प्रदेश अध्यक्ष हो गए, किंतु 4 अक्टूबर

1984 को वे दोबारा काँग्रेस में वापस हुए और सन् 1989 में वे बिहार के मुख्यमंत्री बने, परंतु उनका कार्यकाल बहुत लंबा नहीं रहा। बोफोर्स की हवा में 1991 तथा 1996 में औरंगाबाद लोक सभा के चुनाव में उन्हें पराजय का सामना करना पड़ा। उसके बाद तो उन्होंने रानीति से अपना नाता ही तोड़ लिया, किंतु विरासत के रूप में सन् 1999 में उनकी पुत्रवधू श्यामा सिन्हा और 2004 में उनके पुत्र तथा दिल्ली पुलिस के पूर्व आयुक्त निखिल कुमार औरंगाबाद से ही चुनाव जीतकर लोक सभा में पहुँचे।

छोटे साहब ने न केवल आज़ादी की लड़ाई में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, बल्कि राज्य की प्रगति के लिए प्रयास किया। सत्येंद्र बाबू वक्तृत्वकला के भी धनी थे। पटना में रहने के चलते मुझे भी उन्हें अनेक बार देखने-सुनने का मौक़ा मिला। वे मृदुभाषी स्वभाव के थे, किंतु आत्मसम्मान से वे कभी समझौता नहीं करते थे। पिछले कई वर्षों से वे अस्वस्थ चल रहे थे। 4 सितंबर, 2006 की सुबह उन्होंने किडनी फेल हो जाने की वजह से अंतिम साँसें लीं। कवि की इन पंक्तियों से मैं छोटे साहब को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ ;

दूब भरी इस शैल-तटी पर, उषा विहँसती आएगी,
युग-युग कली खिलेगी, युग-युग कोयल गीत सुनाएगी,
घुल-मिल चंद्रकिरण से निशदिन बरसेगी आनंद सुधा
केवल मैं न रहूँगा, यह मधुधार उमड़ती जाएगी।

❖❖❖

जगदेव प्रसाद :

जो अनवरत अनथक संघर्ष यात्रा के यात्री थे

जगदेव प्रसाद एक यात्रा का नाम है–सत्यशोधक से लेकर संघर्ष तक की यात्रा का नाम, स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक की यात्रा का नाम, संघर्ष करते-करते असीम यात्रा का नाम। ऐसे असीम यात्री को जब मैं आज की विषम परिस्थिति में स्मरण करता हूँ, तो ऐसा प्रतीत होता है कि शोषित, पीड़ित, दलित तथा पिछड़ों के पर्याय बन चुके जगदेव प्रसाद उनके लिए प्रेरणा के स्रोत बनकर आज भी सामने खड़े हैं। जिस प्रकार अभिमन्यु ने चक्रव्यूह के छह दुर्ग को तोड़ा और सातवें दुर्ग में लड़ते-लड़ते अपनी जान गंवा दी थी, उसी प्रकार पिछड़ों के मसीहा जगदेव प्रसाद ने जीवन-संघर्ष के सातों मोर्चों को तोड़कर रचनात्मक मुक़ाम हासिल करने का हर संभव प्रयास किया, पर संघर्ष करते वक़्त ही पुलिस की गोलियों के वे शिकार हुए और उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। उनका संपूर्ण जीवन सभी मोर्चों पर संघर्ष की रोमांचक दास्तान है। उनका संघर्षमय जीवन एक तरफ़ जहाँ आज के राजनेताओं को शोषित समाज के लिए संघर्ष की शक्ति प्रदान करता है, तो वहीं दूसरी तरफ़ आज की संघर्षशील युवा पीढ़ी का प्रेरक शक्ति स्रोत भी बन जाता है। उनकी जिंदगी की झलकियों से देश व समाज की निचली पायदान पर पड़े लोगों की झाँकी मिलती है, क्योंकि उनके पोर-पोर में बसी थी पिछड़ों को उठाने की तमन्ना।

जगदेव प्रसाद जी से मेरा मिलना कई बार हुआ। हर बार वे बात करने में बेहद शांत, आत्मीय लगते थे, उनकी बोलती आँखों पर टपकती पलकों की बूंदाबांदी चलती रहती और बात करने के आपके उत्साह को सींचती-सी एक लय बनाती। भाषण के दौरान उनमें भावना का संचार स्पष्ट देखा जा सकता था। पहले उनकी आँखें बोलतीं, जैसे कोई भीतर का युद्ध करना हो। तब कहीं उनकी कंठनलिका में हलचल होती। जगदेव प्रसाद हर सभा में तैयारी से जाते, वे बराबर अनुभव करते कि औपचारिकता उनके लिए नहीं बनी और वे एक उत्तरदायी क्षेत्र के उत्तरदायी नेता हैं। उन्हें अपनी ओर से अपना अर्जित कुछ कहना है, कुछ प्रतिपादित करना है। बहुत संयम से बोलते थे, लेकिन जब कभी भाषणकर्ता होते थे, तब तारतम्य, तार्किकता, विषय की नोक पर खड़ी थरथराहट और बेकली से भरे होते। कभी उन्हें अप्रासंगिक या वाचाल होते अथवा ठकुरसुहाती बातें करते शायद ही किसी

ने देखा हो। वे तीखी असहमति भी व्यक्त करते तो इस तरह जैसे वह उनका 'स्वागत' हो। आख़िर तभी तो प्रतिपक्षी भी उनके शब्दों का सम्मान करते और ज़रूरत पड़ने पर प्यार भी करते थे। दरअसल विचार के क्षेत्र में तो अपने को संप्रेषित करना होता है, दूसरे को आश्वस्त करना होता है, कोई झगड़ना तो होता ही नहीं। यही कारण है कि जगदेव बाबू ने अकेले में जो किया वह नेताओं का झुंड भी नहीं कर सकता था। आज़ादी के वर्ष 1947 ई० में पटना विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में प्रथम श्रेणी से एम०ए० की डिग्री हासिल करने वाले जगदेव बाबू ने आँध्र प्रदेश के हैदराबाद से प्रकाशित अँग्रेजी पत्र 'सिटिजन' तथा 'हिंदी उदय' का संपादन भी किया और हिंदी एवं अँग्रेजी पर उनकी अच्छी पकड़ थी। पत्रकारिता के चलते ही उनके जीवन में क्रांति उत्पन्न हुई और राजनीति की ओर उनका रुझान बढ़ा।

अपेक्षाकृत समृद्ध परिवार में पैदा होने के बावजूद जगदेव बाबू का बचपन अभाव और तंगहाली के साथ आँख मिचौली खेलते बीता, क्योंकि तब तक उनके परिवार की समृद्धि गुज़रे हुए ज़माने की बता हो चुकी थी और साथ ही शुरू हो चुकी थी उनकी अनवरत अनथक संघर्ष-यात्रा। बेशुमार व्यथाओं और अनमोल उल्लासों के इस जीवन-प्रहर में जगदेव बाबू से संबंधित मेरे पास संजोयी कुछ ख़ास स्मृतियों का ही मैं यहाँ बयान कर रहा हूँ और इस रचनात्मक व्यक्तित्व के मुक़ाम का क़िस्सा उनके हर क़दम के राही और बिहार मंत्रिमंडल के पूर्व वरिष्ठ सदस्य श्री नंदकिशोर प्रसाद उर्फ़ 'नंद बा़बा' के मुख से भी मैंने सुन रखा है, कारण कि नालंदा जिलांतर्गत बिंद निवासी 'नंद बाबा' का सान्निध्य मुझे प्राप्त था।

भूमि जैसे संवेदनशील मुद्दे पर बिहार सरकार की उदासीनता की वजह से ही हिंसा-प्रतिहिंसा की आग में लाखों निरीह दलित, पिछड़े-अतिपिछड़े वर्ग की महिलाएँ एवं बच्चे जल रहे हैं। हाल के वर्षों में तथा राघोपुर की ताज़ातरीन घटना इसका ज्वलंत उदाहरण है। जातीय तनाव की स्थिति के बावजूद यह भी सच है कि प्रायः प्रत्येक़ क्षेत्र में एक जबरदस्त सामाजिक चेतना एक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आई है। निश्चित रूप से इसका बहुत-कुछ श्रेय ज़मीन से जुड़े जगदेव बाबू को जाता है, जिन्होंने अपनी कुर्बानी देकर दलित, पीड़ित, शोषित तथा पिछड़ों को आवाज़ दी। इसलिए मैं उन्हें 'पिछड़े वर्ग की वीणा' कहता हूँ। इस कथन में न तो अतिशयोक्ति है और न ही गर्वोक्ति।

जब हमारी नज़र आज के हालात पर जाती है, तो आश्चर्यचकित

होना पड़ता है। पता नहीं वह 'अंतरात्मा' जिसका संबंध केवल हमारे कार्यों से ही नहीं, बल्कि दूसरों के कार्यों में हमारी साझी ज़िम्मेदारी से होता था, को आज क्या हो गया है? क्या वह मर गई है? खुद बिहार में ही लाखों नहीं तो कई हज़ार लोग जातीय-संघर्ष की आग में झुलस रहे हैं और यहाँ के लोग प्रत्यक्ष रूप से दुखी, शर्मिंदा और नाराज़ हैं, पर अभी भी शोषित-पीड़ित जातियों में वह संगठित राजनीतिक शक्ति नहीं है जिसका सपना जगदेव बाबू ने देखा था। चिंता, अनिश्चितता और भय हर रोज़ बढ़ते हुए हम देख रहे हैं, पर राजनेताओं को इसका कोई ग़म नहीं। उन्हें तो बस कुर्सी चाहिए जिसे जैसा हासिल हो जाए। भारतीय राजनीति में "पैसा" सबसे बड़ी समस्या है। किसी लोकतांत्रिक पद्धति में "पैसे की ताक़त" के जोर का लगातार मज़बूत होना अत्यंत चिंताजनक मसला होता है। जिस तरह आज चुनावों में उम्मीदवार अनाप-शनाप धन ख़र्च करते दिखते हैं, उससे प्रायः यह धारणा बनती है कि चुनावों के दौरान उम्मीदवार काले धन का जमकर इस्तेमाल करते हैं। दरअसल, समस्या यह नहीं कि राजनीति में काले धन का उपयोग हो रहा है, बल्कि इसकी जड़ में राजनीति में सफेद धन का घोर अभाव दिखता है और सफ़ेद धन के न होने से काले धन का वर्चस्व बढ़ रहा है जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक व्यवस्था की मौजूदा दशा में पैसा से जुड़े भ्रष्टाचार का बोलबाला है। मुझे अच्छी तरह याद है जगदेव बाबू अपने कार्यकाल में राजनीति में बढ़ते भ्रष्टाचार पर चिंता व्यक्त करते हुए इसकी तस्वीर बदलने का हर संभव प्रयास उन्होंने किया था। उनका मानना था कि भ्रष्टाचार एक प्रवृत्ति है और आम जनता को जागृत करके ही भारत के राजनीतिक और आर्थिक तंत्र को सुधारा जा सकता है। राजनेता अपने स्वार्थ के लिए जनता को निरक्षर और अज्ञानी बनाए रखना चाहते हैं। एक मूल्य के रूप में हमने राजनीतिक आज़ादी भले ही हासिल कर ली हो, आर्थिक आज़ादी हमसे अब भी कोसों दूर है।

भारत को राजनीतिक तौर पर तो आज़ादी मिल गई है, लेकिन अभी तक आर्थिक आज़ादी नहीं मिल पाई है। बापू ने काँग्रेस को बर्ख़ास्त करने की सलाह देते हुए कहा था कि काँग्रेसजनों को देश के गाँवों में जाकर आर्थिक और सामाजिक आज़ादी हासिल करने के लिए प्रयास करना चाहिए, मगर उनकी राय राजनेताओं ने नहीं मानी। उसी का नतीजा है कि आज भ्रष्टाचार पराकाष्ठा पर है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर जगदेव बाबू जीवन भर इसी आर्थिक और सामाजिक आज़ादी हासिल करने की बात करते रहे और उन्होंने अपनी कुर्बानी भी दी, मगर प्रायः सभी

राजनीतिक दलों के नेता तानाशाह जैसे रवैए से ग्रस्त रहे और वे अपनी ताक़त घटाने को तनिक तैयार नहीं हुए। मौजूदा दौर में भी भारतीय राजनीति की स्थिति यथावत है। तक़रीबन हर राजनेता आज स्वार्थ-सिद्धि में लगा हुआ है। उसे देश व राज्य के विकास की चिंता ज़रा भी नहीं है। वह अपने राजनीतिक वर्चस्व को बढ़ाने के लिए हर तरह का ग़लत काम करने को तैयार रहता है। आपने देखा नहीं, पिछले वर्ष के अंत में लोकतंत्र के प्रहरी कहे जाने वाले सांसदों की काली करतूतों से सारा राष्ट्र शर्मसार हुआ। नेतागण अपनी छद्म विचारधारा की गुफाओं से बाहर नहीं आए हैं। इसकी वजह से विकासशील राष्ट्र का लोकतंत्र किसी भी माने में मज़बूत नहीं हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि विगत वर्षों में राजनीति का अपराधीकरण नहीं, बल्कि अपराध की राजनीतिकरण का सिलसिला तेज़ हुआ है। बिहार जैसे पिछड़े राज्य में एक ही वर्ष में दो बार चुनाव होना गठबंधन राजनीति का ताज़ा उदाहरण है, जो यह दर्शाता है कि राजनीतिक पार्टियाँ और जनप्रतिनिधि जनसरोकार के प्रति कितने संवेदनशील और हिंसात्मक ढंग से स्वार्थी व जनविरोधी हो चुके हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में जगदेव बाबू जैसे संवेदनशील व्यक्तित्व की याद इसलिए आती है कि एक लंबे समय तक वे सबसे ज़्यादा विवादास्पद, किंतु सर्वाधिक संघर्षशील और प्रज्ञा पुरुष थे। समय ऐसे लोगों के साथ न्याय नहीं करता, लेकिन एक अंतराल के बाद इनकी पूजा करता है। आज जगदेव बाबू हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनकी पूजा हो रही है, क्योंकि शोषितों को एक नई रोशनी देने वाले जगदेव बाबू, जिन्हें बिहार का लेनिन कहा जाता है, जैसे चिराग़ का बुझ जाना बिहार ही नहीं समस्त भारत के पिछड़ों एवं उपेक्षितों के लिए एक ऐसी दुर्घटना हुई जिसे शब्दों में बयान कर पाना मुश्किल है। जगदेव बाबू के शहीद होने के पश्चात् मुझे सुप्रसिद्ध लेखिका अमृता प्रीतम की आत्मकथा 'रसीदी टिकट' की ये पंक्तियाँ बरबश स्मरण हो आईं-

"जिंदगी जाने कैसी किताब है,
जिसकी इबारत, अक्षर-अक्षर टूटती,
बिखरती और बदलती है ....।"

संघर्ष की राहों में सामाजिक सरोकारों के अन्वेषक जगदेव बाबू की याद से हम पाते हैं कि केवल संघर्ष ही नहीं संघर्षों से कुछ पाने के तरीके भी हैं जिनके दम पर उन्होंने ज़िंदगी को अपनी तरह से जिया और दमख़म के साथ जिया। इंसान के भीतर सोई इंसानियत को जगाने वाले समाज-साधक जगदेव बाबू को हमारा शत-शत नमन।

खंड- पाँच
समाज-सेवी

देवेन्द्र कुमार कर्णावट :

जिनके चिंतन में युगबोध का प्रभाव था

विचारशील संवेदना करुणा पैदा करती है और विचारहीन संवेदना ख़तरे का आमंत्रण देती है। मनुष्य संवंदनशील ही नहीं, अपितु विचारवान और प्रज्ञावान भी हो, किंतु ऐसे व्यक्ति विरल ही मिलते हैं, जिनके व्यक्तित्व में इन दोनों गुणों का समन्वय हो। आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रतिपादित 'अणुव्रत' के मंच पर एक उदीयमान कार्यकर्ता के रूप में उभरे देवेन्द्र कुमार कर्णावट हमारी नज़र से गुज़रे एक ऐसे ही व्यक्तित्व हुए जिनके कर्म सामने वाले के जीवन को न केवल छुए, बल्कि बदल डाले। देवेन्द्र कुमार कर्णाविट के चिंतन में युगबोध का प्रभाव था, जिनकी विचारशीलता संवेदनशीलता पर टीकी थी। उनकी अहिंसा यात्रा में उनके समदर्शी व्यक्तित्व के तार आपस में ऐसे गुँथे थे जैसे तमप्रकाश का सनातक संघर्ष अपने पूरे शक्ति बिंबों के साथ मनुष्य अस्मिता को मथकर अहिंसा शक्ति पीठ बन जाता है। राजस्थान के राजसमंद में रहने वाले इस संस्कृति पुत्र के वैचारिक वैभव का कर्म पथ अमिताभ सत्यों का संधान है। देवेन्द्र कुमार कर्णावट समाज की बुनावट और अपेक्षाओं के बारे में निरंतर सोचते थे।

दरअसल, देवेन्द्र कुमार कर्णावट ने सन् 1950 ई॰ में जब सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से जुड़कर काम करना प्रारंभ किया था, उस समय की परिस्थितियाँ सामाजिक कार्यों के सर्वथा विपरीत थी। इस संदर्भ में देवेन्द्र जी सरीखे योग्य पिता के योगय पुत्र तथा अणुव्रत महासभा समिति के तत्कालीन अध्यक्ष एवं अनुव्रत पाक्षिक के संपादक डॉ॰ महेन्द्र कर्णावट इस पाक्षिक के 16-31 अक्टूबर, 2007 अंक में लिखते हैं कि "तब संप्रदाय और सत्ता का गहरा गठबंधन था, राष्ट्रीयता का अभाव था और सेठ-साहूकार-मुनियों के सहारे धर्मसंघ की गतिविधियाँ संचारित होती थी। इन परिस्थितियों के बीच काम करना एवं उन्हें बदलना आसान नहीं था, पर आचार्य तुसली की प्रेरणा और जयचंदलाल दफ़्तरी के ममत्त्व भरे हाथ पर पिताश्री ने अपने साथियों के साथ कदम उठाए और सामाजिक परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए अणुव्रत क्रांति के स्वर को मुखर किया।" कहा जाता है कि उस युग में जब

सामाजिक क्रांति का स्वर बहुत मंद था, उनके चिंतन की मुखरता ने देवेन्द्र जी के कर्तृत्व को उजागर कर दिया।

आचार्यश्री तुलसी ने स्वयं देवेन्द्र जी के बारे में लिखा कि देवेन्द्र जी ने अपने कर्म के पैंतालीस वर्षों की अवधि में अनेक उतार-चढ़ाव, देखे अनेक प्रकार की कठिनाइयों को झेला, कितने आक्षेप-प्रक्षेपों और आरोपा-प्रत्यारोपों को सहन किया और अणुव्रत तथा नवीन विचार-धाराओं के प्रति समर्पित रहे। आचार्यश्री महाप्रज्ञ की प्रेरणा से अणुव्रत आंदोलन से जुड़ने के कारण मेरा भी यह सौभाग्य रहा कि सिरियरी, सूरत तथा दिल्ली में आचार्यश्री महाप्रज्ञ के चातुर्मास की अवधि में देवेन्द्र जी को जानने-समझने तथा उनसे बातचीत करने का मौक़ा मुझे भी मिला। प्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्र कुमार जी के साथ देवेन्द्र जी की बहुत पटती थी। एक बार की घटना है कि जब 'अणुव्रती' बनने के क्रम में निर्धारित प्रपत्र पर हस्ताक्षर नहीं करने पर जब जैनेन्द्र कुमार जी अड़ गए तो देवेन्द्र जी ने जैनेन्द्र जी के पास जाकर पूरी बात इस ढंग से रखी कि उनकी मानसिकता बदल गई और फिर जैनेन्द्र जी अखिलभारतीय अणुव्रत समिति के अध्यक्ष मनोनीत हुए।

देवेन्द्र जी के संपूर्ण व्यक्तित्व पर जब हम एक नज़र डालते हैं तो पाते हैं कि उनका व्यक्तित्व अनेक घटकों का समवाय है। वक्तृत्व के धनी देवेन्द्र जी की कार्यक्षमता बेजोड़ थी ही, अपने सहयोगियों एवं कार्यकताओं को साथ लेने और निभाने का सामर्थ्य भी उनका ग़जब का था। दरअसल, व्यक्ति का व्यक्तित्व सुंदर विविध अलंकरणों से नहीं होता, वरन् संस्कारयुक्त शुद्ध एवं मधुर वाणी को धारण करने वाल व्यक्ति ही वास्तव में सदैव मनुष्यत्व का रक्षक होता है। देवेन्द्र जी भी एक ऐसे ही व्यक्ति थे जिनका वाणी माधुर्य उनके साथ चलने वालों में नए उत्साह का संचार करता था। मनोविाानिक का सिद्धांत है कि व्यक्ति जैसा चिंतन करता है, जैसा जीवन जीता है, उसकी मुखाकृति भी वैसी ही बन जाती है। कहना नहीं होगा कि देवेन्द्र जी की रसकलशीय माधुर्य मुखाकृति में सूर्य की अग्निम तरलता थी, क्योंकि उनका आचार, विचार और व्यवहार एवं चिंतन सत्यतापूर्ण था। यही कारण है कि उन्होंने अपने साथ प्रत्येक का दिल जीता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है– ''जीतजा वही है, जिसमें धैर्य, साहस और सत्य होता है।'' धैर्य साहस और सत्य के पथिक देवेन्द्र जी के जीवन के मूलमंत्र आस्था ही नहीं, बल्कि उनकी तलाश तथा उनके जीवन की साधना थी।

अणुव्रत और अहिंसा आंदोलन के अग्रणी संत आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जिन्होंने देवेन्द्र जी के बाल सुलभ हठ की मुद्रा में भी देखा था का मानना है कि "ऋजुता, भद्रता, विनम्रता, समर्पण भाव और शाश्वत मनोवृत्ति ये सब दुलर्भ संयोग हैं। एक साथ उनकी उपलब्धि का नाम है– देवेन्द्र कुमार कर्णावट।" देवेन्द्र जी का व्यक्तित्व भी अनुठा था, भाषण के प्रारंभ में धीरे स्वर और फिर प्रवाह में आने पर ऐस लगता था मानो विस्फोट हो रहा है। वह जब भावुकता से प्रस्फुटित स्वरों में बोलते थे तब सुधी श्रोता के सिर हिल जाते थे। आख़िर तभी तो समाज हो अथवा राजनीति या साहित्य का क्षेत्र सभी क्षेत्रों में उनके मित्र थे, क्योंकि दूसरों को अपना बनाने की उनमें कला थी। यशपाल जैन, देवेन्द्र सत्यार्थी, सत्यदेव विद्यालंकार, विष्णु प्रभाकर, बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि आदि का देवेन्द्र जी आत्मीय बने और उन्होंने आत्मीय बनाया।

अणुव्रत आंदोलन के ज्योति-स्तंभ देवेन्द्र जी ने राजसमंद को अणुव्रत का तीर्थ बना दिया। 'गाँधी सेवा सदन' की राजसमंद में स्थापना कर उसके माध्यम से सामाजिक, शैक्षिकं तथा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों का उन्होंने संचालन किया। पिछले दिनों 12 जून से 15 जून, 2007 ई॰ तक राजसंमद के इसी गाँधी सेवा सदन में आयोजित अहिंसा समवाय की राष्ट्रीय कार्यशाला में भाग लेने का मुझे मौक़ा मिला जहाँ मेंने देखा कि 26 नवंबर, 1952 ई॰ में स्थापित गाँधी सेवा सदन का विगत 55 वर्षों में वर्तमान स्वरूप श्रद्धा, शुद्ध संकल्प एवं पुरुषार्थ का प्रसाद है और इसके मूल में हैं देवेन्द्र कर्णावत जी की क्षमसाध्यता एवं दूरदर्शिता। इस सदन के द्वारा राजसमंद क्षेत्र में बालवाड़ी, नवजीवन केंद्र, बाल निकेतन, उद्योग प्रशिक्षण केंद्र, प्रौढ़ शिक्षा, ग्रामीण स्वरोज़गार योजना, प्राथमिक विद्यालय, माध्यमिक एवं उच्च विद्यालय तथा नारी जागरण जैसी अनेक प्रवृत्तियाँ संसूचित की जा रही हैं।

सार्वजनिक जीवन में रहकर देवेन्द्र जी ने 1938 ई॰ में ही 'नवयुवक मंडल', 'राजसमंद' एवं 'सार्वजनिक वाचनालय' की स्थापना की। सन् 1940 ई॰ में वे मेवाड़ प्रजामंडल के सदस्य बने। सन् 1941 ई॰ में राजसमंद जिला राजनैतिक सम्मेलन का उन्होंने आयोजन कराया। सन् 1942 ई॰ में वे 'मेवाड़ विद्यार्थी संघ' का गठन किए। अगस्त, 1942 ई॰ के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में राजसमंद में वे गिरफ्तार किए गए और उदयपुर के जेल की उन्होंने यात्रा की।

इसी प्रकार सामाजिक जीवन के तहत् सन् 1945 ई॰ में संस्थापित आदर्श साहित्य संघ' चूरू, राजस्थान के देवेन्द्र जी संस्थापक सदस्य हुए। जहाँ तक पत्रकारिता का प्रश्न है सन् 1941-42 में राजसंमद से प्रकाशित हस्तलिखित 'दीवार पत्र' का उन्होंने लेखन और संपादन किया। इसी प्रकार

राजसमंद ही से दूसरे हस्तलिखित मासिक पत्र 'सुधाकर' का भी उन्होंने संपादन एवं प्रकाशन किया। फिर 15 अगस्त, 1948 ई० में कलकता से प्रकाशित 'जनपथ' का संपादन व प्रकाशन किया। 15 अक्टूबर, 1955 ई० में दिल्ली से अणुव्रत समिति द्वारा प्रकाशित 'अणुव्रत' पाक्षिक के वे संस्थापक संपादक हुए और लगातार दो दशक तक उन्होंने उसका संपादन किया।

साहित्य के क्षेत्र में रहकर देवेन्द्र जी ने 'यह क्या?', 'मैं साक्षी हूँ', 'अणुव्रत इतिहास', 'आत्म संस्मरण' तथा 'युगवार्ता' की रचना की। राष्ट्रभाषा हिंदी में इन्होंने 'प्रणवीर प्रताप', 'बंगला क्रांति', 'लोक दृष्टि में अणुव्रत', 'स्वतंत्र भारत की भाषा राष्ट्रभाषा : राष्ट्रीय चरित्र एवं अणुव्रत' तथा 'राजनीति की नई दिशाएँ' नाम्नी पुस्तकों का संपादन किया। आज़ादी के बाद महात्मा गाँधी के आह्वान पर कांग्रेस की सदस्यता से त्याग पत्र देकर राष्ट्रनिर्माण के लिए शैक्षणिक, सामाजिक प्रवृत्तियों एवं अणुव्रत आंदोलन में वे संलग्न हुए।

दुःख-दर्द को सहन करते हुए सुख की प्राप्ति करता, हाशिए पर रहकर मुख-पृष्ठ की अभिव्यक्ति बनना, जीवन के कड़वे हलाहल को पीकर अमृतमयी सुकरात होना, बँधनों के होते हुए भी उन्मुक्त जीवन जीना, हार के सामने विजय की अभिलाषा का उद्घोष करना, जकड़न और टूटन की चुनौती को स्वीकारते हुए सूरज बनने की होड़ में द्वार-द्वार किरणों की कल्पनाएँ सजाना, लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरंतर और निरंतर बढ़ते जाना कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्हें इनके व्यक्तित्व में खुली किताब की तरह देखा जा सकता था। सच कहा जाए, तो अदम्य जीवट-जिजीविषा, औपनिषदिक आस्था और वैश्विक मानवीय मूल्यों की त्रिवेणी का नाम है देवेन्द्र कुमार कर्णावट। जब कोई व्यक्ति व्यक्तित्व में रूपांतरित हो जाता है, तो उसमें अंतर्भूत प्रगाढ़ता और व्यापकता की वजह से उसे शब्दों की मालिका में गूँथना अत्यंत दुष्कर हो जाता है। उसके कार्य की व्याप्ति लोक की परिधि को अतिक्रमित कर देती है और फिर आध्यात्मिक आस्तिक निष्ठा, साधनाजन्म कर्त्तव्य-परायणता तथा सुरुचिपूर्ण सार्थक सांस्कृतिकता देवेन्द्र जी के व्यक्तित्व की पहचान है। यह शब्दों की सीमा से परे हो जाता है।

अणुव्रत के जीतेजागते इतिहास पुरुष देवेन्द्र कुमार कर्णावट विगत 7 सितंबर, 2007 ई० की प्रातः वेला में इतिहास रच स्वयं इतिहास में विलीन हो गया। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने इनके महाप्रयाण के बाद शोक-संदेश में इन्हें 'महारथी' की संज्ञा प्रदान की। तिरंगे में लिपटी देवेन्द्र काका की कोमल काया के दर्शन करने को राजसमंद के गाँधी सेवा सदन के प्रांगण में उमड़ा

जनसैलाब इस बात का द्योतक है कि उन्होंने जन साधारण के मन में कितनी गहरी मानवीय पैठ बना ली थी। प्रबुद्ध चिंतक, समर्पित गर्मयोगी तथा अपने जीवन की अंतिम वेला में साधना के चरमोत्कर्ष पर समारूढ़ देवेन्द्र कुमार कर्णावट जी के देहावसान का समाचार सुनकर 'राष्ट्रीय विचार मंच' तथा उसके मुख पत्र 'विचार दृष्टि' के सदस्यों को गहरा धक्का इसलिए लगा कि अणुव्रत महासमिति के अहिंसा समवाय तथा उसकी राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य की हैसियत से मेरे द्वारा उन्हें उनके कार्यकलापों की जानकारी निरंतर मिलती रहती थी। देवेन्द्र कुमार कर्णावट जी के चले जाने से मेरे साथ मेरे सभी सहयोगी विशेषकर डॉ॰ शाहिद जमील तथा उदय कुमार 'राज़' जैसे कर्मठ कार्यकर्ता अत्यंत अनास्वस्थ अपने को महसूस कर रहे हैं।

देवेन्द्र कुमार कर्णावट जी के नहीं रहने पर मैं अतीत के झरोखे से झाँककर देखता हूँ, तो मानस-पटल पर अनेक स्मृतियाँ उभरकर आती हैं। आज जीवन अत्यंत तनावग्रस्त हो गया है। मनुष्य के पास वक़्त ही नहीं है कि वह अपने जीवन को भारमुक्त कर सके। ऐसे वक़्त देवेन्द्र कुमार कर्णावट जी का स्मरण इसलिए प्रासंगिक दिखता है कि वे दुःख में, पीड़ा में और संघर्ष में तथा काँटों भरे पथ पर चलकर निरंतर आगे बढ़े। उनकी इच्छाशक्ति उन्हें आगे बढ़ने से रोक न सकी और उनका हौसला इतना बुलंद था कि कठिन से कठिन कार्य भी उनके समक्ष आसान हो जाते थे और सदैव उन्होंने अपने लिए नहीं दूसरों के लिए जिया। ऐसे वक़्त मुझे छांदसिक अनुशासन के संपोषक डॉ॰ देवेन्द्र आर्य की ये पंक्तियाँ याद आ रही हैं–

जिंदगी छोटी-बड़ी मत सोचिए,
हो सके तो प्यार की बातें करो।
आज तक अपने लिए जीते रहे,
हो सके तो और की बातें करो।

देवेन्द्र कुमार कर्णावट जी उच्च मानव-मूल्यों के लिए समर्पित एक ऐसे ही विचारक एवं चिंतक थे जिन्होंने अपना सारा जीवन दूसरों के लिए व्यतीत किया, राष्ट्र के प्रति उच्च स्तरीय समर्पण भाव रखने वाले अणुव्रत के कर्मठ संपोषक देवेन्द्र कुमार कर्णावट जी आज हमारे बीच नहीं है, किंतु उनका विपुल लेखन कार्यशैली राष्ट्रसेवा की उच्चतम मानवीय इव्छा और कर्त्तत्व के लिए सदैव प्रेरणा देती रहेगी। उनकी तत्परता, आज स्वरवाणी और विचारपूर्ण लेखन उनके चाहने वालों की स्मृतियों में सदा बने रहेंगे। मानव मूल्यों के लिए समर्पित ऐसे व्यक्ति की स्मृति को मैं प्रणाम करता हूँ।

पोप जॉन पाल द्वितीय :

जिनका भारत से भावात्मक लगाव था

पिछले 23 अप्रैल, 2004 ई० को विश्व रोमन कैथोलिक के विश्वविख्यात धर्मगुरु पोप जॉन पाल द्वितीय के निधन पर भारत में भी तीन दिवसीय राष्ट्रीय शोक रहा। पोप धर्मगुरु दुनिया के सबसे छोटे एवं संप्रभु राष्ट्र वेटिकन के राष्ट्राध्यक्ष भी थे। 265वें पोप जॉन पाल द्वितीय पहले ग़ैर इटलीवासी कैथोलिक पोप थे, जो अपनी सहृदयता, उदारता और क्षमायाची प्रवृत्ति के चलते प्रतिष्ठित थे और जिनके जाने का दुख इस्लामी देशों को भी हुआ। कारण कि उन्होंने यही संदेश दिया कि युद्ध या हिंसा किसी समस्या का समाधान नहीं है। इससे कभी कोई समस्या का समाधान नहीं हुआ है। विशाल हृदय और संत प्रतिभा के धनी पोप राष्ट्राध्यक्ष के रूप में पूरी दुनिया का दौरा करते रहे और राष्ट्राध्यक्ष की बजाय धर्म-प्रचार का काम करते रहे। उनकी महत्ता इस दृष्टिकोण से गुरुतर है। इतिहास जिनसे महान काम लेता है, उन्हें इतिहास पुरुष भी बनाता है।

दरअसल, प्रत्येक व्यक्ति या संगठन और समूह का एक दृष्टिकोण होता है। अध्ययन, ज्ञान-विज्ञान किसी दृष्टिकोण की संरचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लेकिन दर्शन इन सबके ऊपर होता है। अनुभव बेशक व्यक्तिगत वैयक्तिक होते हैं; लेकिन अनुभूतियाँ सार्वभौम होती हैं। पोप जॉन पाल द्वितीय की अनुभूतियाँ भी ऐसी ही थीं। यह बात अलग है कि आज उनके निधन से दुनिया भर के लोग दुखी हैं और उनको अपना सद्‌गुरु मानते हैं, किंतु उनकी बात सुनी क्यों नहीं। सच तो यह है कि हमारी बनावट ही कुछ ऐसी है कि जब कृष्ण हुए थे, बुद्ध थे, महावीर थे, ईसा मसीह थे, मोहम्मद सल्लम हुए, यहाँ तक कि गाँधी हुए तो उनके जीवन काल में बहुत थोड़े लोगों ने ही उनकी बातें सुनीं और हम मूढ़ के मूढ़ रहे, इसमें कहीं न कहीं हमारे निहित स्वार्थ जुड़े रहे हैं।

दुनिया के कोने-कोने में फैले एक सौ करोड़ से अधिक कैथोलिक ईसाइयों के सर्वोच्च धर्मगुरु पोप जॉन पाल द्वितीय करुणा, दया एवं प्रेम की अप्रतिम प्रतिमूर्ति थे, जो न केवल ईसाई धर्मावलंबियों के आराध्य थे, वरन् विश्व समुदाय की संपूर्ण मानव जाति की श्रद्धा के केंद्र भी थे। वे मात्र मसीही धर्मध्वजा के संवाहक ही नहीं, अपितु चिरंतन मानवीय मूल्यों की

पुनर्स्थापना हेतु विश्व के संमरांगण के अजेय योद्धा भी थे। एक ओर जहाँ उन्होंने वामपंथियों की नाक में नकेल कसी, तो वहीं दूसरी ओर पूँजीवादियों के सुरसा के मुँह की तरह बढ़ते लोभ पर लानत भेजी। यही कारण है कि वर्ष 1994 ई० में टाइम्स पत्रिका ने वर्ष पुरुष का अलंकरण प्रदान करते समय उन्हें इस धरा का अद्वितीय व्यक्ति के सम्मान से नवाज़ा।

यह पोप जॉन पाल द्वितीय ही थे, जिन्होंने इराक़ मामले पर जार्ज बुश और टोनी ब्लेयर को सावधान किया था कि यदि वे लड़ाई का रास्ता अख्तियार करते हैं, तो उन्हें ईश्वर, अपनी अंतरात्मा और इतिहास को जवाब देना होगा। उनके इस बयान को अब तक का शायद सबसे बड़ा बयान कहा जाता है। उन्होंने वैटिकन से सद्दाम हुसैन को जबरदस्ती निहत्था करने की बहुत ही कड़ाई से मुख़ालफ़त की थी। पोप जॉन पाल द्वितीय ने बग़दाद में अपने प्रतिनिधि को आदेश दिया था कि वह वहीं बने रहें और लड़ाई के दौरान मानवीय सहायता देने का काम करें। इसी प्रकार भ्रूण हत्या, समलैंगिकता, गर्भ निरोध तथा नशाख़ोरी जैसे विवादित मुद्दों पर अपने सशक्त विरोध के कारण वह सदैव दिशाहीन आधुनिकता के समर्थकों के कोपभाजन बने। यही नहीं एक ओर वेटिकन की प्राचीन मान्यताओं का उन्होंने पूरी तरह पालन करने का प्रयास किया, तो वहीं दूसरी ओर गिरिजा के लोकतंत्रीकरण की वकालत की जिसके कारण उनके आलोचक भी दिग्भ्रमित हो जाते थे। संधि वात तथा पार्किन्सन रोग से पीड़ित होने के बावजूद सेंट पीटर्स की धर्मयात्रा के संवाहक इस परिव्राजक ने निरंतर 129 देशों में यात्राओं के माध्यम से 12. 5 लाख किलोमीटर के दुर्गम पथ को तय कर असंख्य हृदयों को शांति, सहिष्णुता एवं सद्भाव का संदेश सुनाया। 'पोप' के अस्तित्व को चर्च के दायरे से बाहर निकालकर उसे आम लोगों की संवेदनाओं के साथ जोड़ने के कारण ही उन्हें 'नए युग का नया पोप' भी कहा गया। पोप जॉन पाल द्वितीय की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने स्वयं को आम आदमी से जोड़ा, उसके हितों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी और इसे चर्च की सार्थकता से संयुक्त कर दिया। धर्मगुरु के रूप में उन्होंने जातिगत, भाषायी और परंपरावादी शत्रुओं को समाप्त करने की दिशा में अहम भूमिका निभाई।

पोप जॉन पाल द्वितीय ऐसे पहले पोप थे, जिनका भारत से भावनात्मक लगाव था। वह भारत के सभी धार्मिक उत्सव से भावनात्मक स्तर पर जुड़े हुए थे। यही कारण है कि उन्होंने भारत की यात्रा एक बार नहीं, बल्कि दो बार की। पहली बार फ़रवरी, 1986 ई० में भारत आए थे और

अपने दस दिन की यात्रा में वह नई दिल्ली, कोलकाता, शिलांग, चेन्नई, गोवा, मंगलोर, केरल, मुंबई और पुणे गए थे। फिर दूसरी बार वे दो दिनों के लिए दिल्ली दिवाली के समय आए थे। विदित हो कि 4 प्रतिशत आबादी ईसाइयों की है जिसका 65 प्रतिशत हिस्सा रोमन कैथोलिक हैं, किंतु पोप जॉन पाल द्वितीय ने केवल इन ईसाइयों को नहीं, बल्कि उन्होंने मदर टेरेसा को संत का दर्जा देने की प्रक्रिया आरंभ कर प्रत्येक भारतीय के दिल में ख़ास जगह बनाई। लगभग 26 वर्ष तक पोप जॉन पाल द्वितीय ने कैथोलिक चर्च का दिशा-निर्देशन किया। साथ ही मानवाधिकारों के हनन की निंदा करते हुए अन्य अपराध को खत्म करने वाली सभ्यता की पैरवी की। उनका कहना था- "Social justice can not be attained by violence. Violence kills that it intends to create."

पोप पीठ के इतिहास में पोप जॉन पाल द्वितीय को एक ऐसे धर्माचार्य के रूप में स्मरण किया जाएगा जिसका व्यक्तित्व परंपरा, रूढ़ि, सुधार और परिवर्तन को एक साथ समेटकर एक ऐसा धार्मिक परिकल्पना प्रस्तुत करता था जिसकी सीमाएँ धर्म के क्षितिज के पार समाज, अर्थव्यवस्था और विश्व व्यवस्था तक के स्वप्न दिखाती थी भले ही इस सपने से उनके मतानुयायियों में से भी कुछ सहमत नहीं हों। इनके सपनों के टूटने की खनक विगत 23 अप्रैल, 2004 के प्रथम शनिवार की रात वेटिकन सिटी में सिसकियों के रूप में सुनाई पड़ी और शायद उस मूक रुदन में भी अनेक श्रद्धालुओं की आँखों में आँसू ज़ब्त नहीं हो पा रहा था।

पोप जॉन पाल द्वितीय का मूल नाम कैरोल जोसेफ वायतिवा था। उनका जन्म पोलैंड के पैडोविच में 18 मई 1920 ई० को हुआ था। जब वे केवल आठ वर्ष के थे, तो उनकी माँ चल बसी और 21 वर्ष की उम्र में उनके सिर से पिता का साया भी उठ गया। इसके पहले उनके बड़े भाई की मौत हो चुकी थी। इस प्रकार एक-एक कर अकेलेपन की वेदना के मर्म का उसकी शिद्दत के साथ एहसास हुआ। केवल नौ वर्ष की उम्र में कैथोलिक धार्मिक संस्कार में ही भाग लेने वाले कैरोल ने 1940 ई० से 1944 ई० के बीच एक सा़मान्य व्यक्ति की तरह जीविका के लिए कई जगह नौकरी भी की और 1948 ई० में उन्होंने राम के दर्शनशास्त्र में डॉक्टरेट की उपाधि ग्रहण की। फिर 1958 ई० में कैरोल क्रेकोव नगर, पालैंड का सहायक ध र्माध्यक्ष में नियुक्ति पाकर धीरे-धीरे कैथोलिक धर्म के शिखर पर पहुँचे और विश्व विख्यात धर्मगुरु कहलाए।

डॉ० लक्ष्मीमल सिंधवी :

जो परम स्वाध्यायी और ज्ञान यज्ञ के पुरोधा थे

विधिवेत्ता डॉ० लक्ष्मीमल सिंघवी एक ऐसे हस्ताक्षर थे, जिन्हें स्व० कन्हैयालाल मानिक लाल मुंशी के सान्निध्य में रहने का मौका मिला। संवैधानिक दुनिया में यह ख्यातिनाम व्यक्तित्व अपनी बेबाक टिप्पणी और तर्क के लिए मशहूर थे। उनके शब्द 'कानून' थे। उनके विचार 'संविधान थे। वे दलगत राजनीति से ऊपर रहे। तकरीबन आधी शताब्दी संविधान के रस में भींगते-डूबते विचार के पश्चात् वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि "हमारी परंपरा में धर्म की अवधारणा और आधुनिक विधि में संविधान के प्रति एक आधारभूत भावना में साम्य है। हमारी परंपरा में सदियों से ही नहीं सहस्त्राब्दियों से धर्म की अवधारणा रही है, जो सार्वभौम अवधारणा है। संविधान की अवधारणा से उसका एक गहरा साम्य है।"

अपनी एक रचना "संविधान का आधार है समीक्षा" में डॉ० सिंधवी संविधान के विषय में लिखते हैं- 'संविधान ध्येय देता है, एक विचार देता है, एक व्यवस्था देता है, उसको ठीक रूप में रखना, उसको स्वस्थ रखना, उसको सकुशल बनाए रखना जरूरी है। धर्म और संविधान के कुछ शाश्वत भाग हैं, कुछ परिवर्तनशील भी हैं। हमारे देश में 'सनातन' की परिभाषा भी यही है कि जो नित्य और अनित्य को समाहित कर सके, जो सदा है और सदा बदलता है, फिर भी बना रहता है।'

डॉ० सिंधवी का मत था कि जीवन और संविधान का इतिहास साथ-साथ चलता है। लोकतंत्र का इतिहास अभी लिखा जा रहा है, उसका अंतिम शब्द नहीं लिखा गया, उस इतिहास में हम सबका चैतन्य समाहित है। 'सिविल सोसाइटी' की प्रक्रिया का यह एक अविभाज्य और अंतरंग अंग हैं, डॉ० सिंधवी संविधान की समीक्षा के पक्षधर थे, क्योंकि उनके अनुसार जीवन समय-सापेक्ष्य है, उसमें शाश्वत मूल्य भी है, इसलिए उनका कहना था कि सबसे पहले हम यह बात सोचें कि एक स्थायी भाग है संविधान का और एक परिवर्तनशील।

संविधान के निर्माण के मूल में समीक्षा थी। उस समीक्षा से ही वह उद्भूत हुआ। समीक्षा ने ही उसे अब तक धारण किया और समीक्षा से ही वह अभी भी प्रेरित है जब वह समीक्षा से उद्भूत, समीक्षा द्वारा धारण किया

हुआ है, तो खुली बहस और खुले विचार का यह संविधान है। समीक्षा एक सतत्, अनवरत, निरंतर चल रही प्रक्रिया है, इस बात का ध्यान रखना चाहिए। यह नहीं कि हमने सन् 1947 से 1948 तक तो समीक्षा की, विचार कर लिया और उसके बाद अब देखने-भालने की जरूरत नहीं, पुनरीक्षण की जरूरत नहीं। यह कैसे हो सकता है, इसका उत्तर, इसका समाधान देने की आवश्यकता है।

डॉ० सिंधवी सदैव यह मानते रहे कि संविधान के एक-एक पृष्ठ का संबंध हमारी जिंदगी से है संविधान के बिना हमारी लोकशाही चल नहीं सकती। भारत के जर्रे-जर्रे में हमारा संविधान व्याप्त हैं सवाल समीक्षा पर प्रश्न उठाने का नहीं है। सच्चाई एक है कि–

हर शै की खामी हो कि दूरी हो
लहू खुर्शीद का टपके अगर
जर्रे का दिल चीरे।

एक प्रावधान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि दूसरा कोई बड़ा प्रावधान। यह एक सूत्रता से अनुबंधित है। एक शायर ने बड़ी खूबसूरती से कहा है–

यकीनी मोहकम अमल मोहब्बत पाके आलम
जिहादे जिंदगामी में ये है मर्दों की शमशीर।

यकीना मोहकम याने दृढ़ संकल्प, अमल पैगाम निरंतर सक्रियता, मोहब्बत पाक के जिहाद में मर्दों की यही शमशीर है अतः दृढ़ संकल्प हो, निरंतर सक्रियता हो, विश्व विजयी प्रेम हो, यह हमारी संस्कृति में है, तो आपका संविधान, कामधेनु की तरह, एक कल्पवृक्ष की तरह काम आएगा, किंतु उसकी साज-संवार तो करनी होगी। उसको सींचना होगा, आवश्यक होने पर परिवर्तन करना होगा, नहीं तो कल्पवृक्ष या कामधेनु क्या देंगे हमारे देश का यह दृढ़ संकल्प सबसे बड़ा वरदान है। आत्म विश्वास के साथ संविधान की समीक्षा करना, हमें आना चाहिए। वैसे भी दोषों को काबू में लाने के लिए संविधान बनता है ताकि स्वेच्छाचारिता न हो, निरंकुशता न हो, क्योंकि दोष संविधान का नहीं, बल्कि हमारा है, राजनीति का है, अफसरशाही का है। संविधान इसलिए बनाए जाते हैं कि हम सब में दोष हैं। उन दोषों का पूर्वानुमान के आधार पर निराकरण करने की पद्धति है।

डॉ० लक्ष्मीमल सिंघवी परम स्वाध्यायी तथा ज्ञान यज्ञ के पुरोधा थे। दिल्ली में जब कभी मैने डॉ० सिंधवी को सुना मुझे तो संस्कृत कवि की

निम्नांकित भाव राशि उनके मोदक व्यक्तित्व-पटल में अपने आलंबन की सहज परिणति प्राप्त करती हुई-सी प्रतीत हुई-

सत्यं तपो ज्ञान महिंसता न विद्वतप्रणामं च सुशीलता च। येतानि यो धारयते स विद्वान, न केवलं यः पठते स विद्वान ।।

डॉ० सिंधवी ने विधि, धर्म व साहित्य सभी के प्रति अपने दायित्व को निभाया और सदृचित्त वालों में सुप्रतिष्ठ स्थान प्राप्त किया। देशकाल की सीमाओं से परे रहकर उन्होंने साधना द्वारा हिंदी भाषियों के हृदय में जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया वह सचमुच अनुकरणीय कहा जाएगा। राष्ट्र और राष्ट्रीयता से अनुप्राणित डॉ० सिंधवी ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित अपने कार्यकलापों की वजह से जनमानस में प्रिय प्रतिष्ठा प्राप्त की। देश की मिट्टी और जनता पर चिर आस्थावन डॉ. सिंधवी मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति सदैव आशावादी रहे। मानव-मूल्यों पर आधारित उनकी यह राष्ट्रीयता अवश्य ही सराहनीय रही।

डॉ० लक्ष्मी मल सिंधवी के सौम्य एवं उदार व्यक्तित्व की दूसरी वजह उनका आध्यात्मिक होना भी था। वे आस्थावान व्यक्ति थे और धार्मिक सभा-संगोष्ठियों में उनके मधुर विचार सबको चिंतन और मनन को बाध्य करते थे। इस प्रकार अध्यात्म और लौकिक दोनों में समत्व लाने की दिशा में डॉ. सिंधवी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। जहाँ तक डॉ. सिंघवी के व्यक्तित्व का संबंध है, यह कहना समीचीन होगा कि वे सादा जीवन और उच्च विचार के हिमायती रहे। उदारता, सौजन्यता और निष्कपटता उनके व्यक्तित्व की चारूता में चार चाँद लगा देता था।

❖❖❖

डॉ० रंगी प्रसाद सिंह 'रंगम' : जिनका परवर्त्ती जीवन साहित्य को समर्पित था

सन् 1942 की अगस्त क्रांति में जिस व्यक्ति ने अपनी सक्रिय भूमिका निभायी, सरकारी सेवा में कैंसर जैसे असाध्य रोग के चिकित्सक पद पर रहकर जिसने अपनी पहचान बनाई और सेवा निवृत्ति के पश्चात् अपना शेष जीवन हिंदी साहित्य की सेवा में जिसने समर्पित किया उसी का नाम है डॉ. 'रंगम'। पाटलिपुत्र के साहित्य जगत में डॉ० 'रंगम' रच-बस गए थे। शायद ही वहाँ की कोई साहित्यिक संगोष्ठी हो जिसमें उन्होंने अपनी उपस्थिति नहीं दर्ज की हो। वैसे भी पटना के बुद्धा कॉलोनी अपने लक्ष्मी निवास पर आए दिन अथवा अपनी-जयंती के अवसर पर या यों कहा जाए कि अपने जन्म दिवस को बहाना बनाकर पटना के साहित्यकारों एवं शुभेच्छुओं को भोज पर वे आमंत्रित करते थे और सौहार्द का वातावरण तैयार करते थे। पटना में रहने पर डॉक्टर साहब ने मुझे सदैव याद किया और मैं भी उनका आतिथ्य स्वीकार कर स्वयं को गौरवान्वित महसूस करता था। डॉ० साहब की धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मी देवी स्वयं ऐसे आयोजन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती थीं और अतिथियों का आदर सत्कार करने में गर्व का अनुभव करती थीं। डॉ. 'रंगम' सरीखे बहुत कम ऐसे चिकित्सक मिलते हैं, जो सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण करने के बाद न केवल हिंदी को समृद्ध करने में दिलचस्पी रखते हों, बल्कि नगर की सभा-संगोष्ठियों में भाग लेकर उन्हें जीवंत बनाये रखते हों।

पटना मेडिकल कॉलेज से एम.बी.बी.एस करने के पश्चात् डॉ. 'रंगम' ने वहीं से एम.एस. तथा एम.डी.भी किया। फिर लंदन से उन्होंने डी.एम.आर. टी. तथा आर.सी.पी. और आर.सी.एस. (इंग्लैंड) एवं एफ.आई.सी.आर. (इंडिया) भी किया। कोलंबो प्लान फेलो के अंतर्गत आपने यू०के० के द मिड्लसेक्स हॉस्पीटल, लंदन, रॉयल मार्सडन हॉस्पीटल, हैमरस्मिथ कैंसर इंस्टिच्यूट्, द होल्ट रेडियम इंस्टिच्यूट, मैनचेस्टर आदि में भी सेवा प्रदान की। इसके अतिरिक्त हावॉर्ड युनिवर्सिटी हॉस्पीटल, कैंसर इंस्टिच्यूट, वाशिंग्टन, नेशनल इंस्टिच्यूट ऑफ हेल्थ, बेथेसडा, मेरीलैण्ड (यू.एस.ए.) के आप विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे।

सामाजिक एवं साहित्यिक संगठनों से गहरे लगाव के चलते डॉ० रंगी बाबू पटना के कल्याणोदक, बिहार हेल्थ क्लब, बिक्रमशिला अंगिका परिषद,

प्रबुद्ध हिंदू समाज तथा साहित्याँचल के अध्यक्ष और अ० भा०भाषा साहित्य सम्मेलन, बिहार, अ०भा०अँगिका भाषा सम्मेलन, पटना, बिहार नेत्रहीन परिषद्, पटना, अनुपम अध्यात्म संगोष्ठी के उपाध्यक्ष तथा बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन के अर्थ मंत्री पद पर आसीन हुए। इसी प्रकार इनकी प्रमुख साहित्यिक कृतियों में जागरण संदेश, स्वास्थ्य रक्षक पुस्तक माला, हेल्थ क्लब-जीवन संदेश वाहक, कैंसर रोग: एक मुलक, आध्यात्मिक संदेश, मैं गीता का गीत सुनाता हूँ, साक्षरता की नई दिशा: क्षतिपूरक शिक्षा योजना, तीन भूलों के दंश कब तक सहेगा भारत के अतिरिक्त अँग्रेजी-हिंदी में सैकड़ों आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित तथा आकाशवाणी एवं दूरदर्शन से प्रसारित होते रहे। 'शिखा-संकेत' के आप प्रधान संपादक भी रहे।

अ०भा०भाषा साहित्य सम्मेलन, बिहार, साहित्यांचल, बुद्ध कल्याण परिषद, हेल्थ क्लब, अंतरराष्ट्रीय एक्यूप्रेसर परिषद, पॉली-पैथी, लायंस क्लब, खुदाबक्श लाइब्रेरी, अ०भा० बाल कल्याण परिषद आदि संस्थाओं द्वारा रंगी बाबू सम्मानित तथा प्रशस्ति-पत्र भी प्रदान किए गए। चिकित्सीय शोध के अंतर्गत कुल अठारह वैज्ञानिक शोध तथा शोध प्रबन्ध तैयार करने में आपकी सक्रिय भागीदारी रही।

डॉ. रंगी प्रसाद सिंह 'रंगम' पूर्ण निष्ठा भाव से साहित्य-साधना में निरंतर सक्रिय रहे। 'अनुभूति की छाया' शीर्षक अपने काव्य-संग्रह के निवेदन में रंगी बाबू ने अपने बीते जीवन के मुख्य सक्रिय काल खंड में खुली हवा के झोंकों का आमंत्रण स्वीकार किया है और इन झोंकों ने उन्हें पर्याप्त वास-सुवास, उष्णता, शीतलता और कोमलता के साथ-साथ देश व समाज की समस्याओं के कुछ उलझे और सुलझे आयामों की स्वाभाविक अनुभूति हुई जिसकी अभिव्यक्ति और उनके विबं-प्रतिबिंब उनके दिल और दिमाग पर अदृश्य व अशांत रहकर भी कुछ प्रतिक्रिया और सक्रियता के स्पष्ट प्रश्न चिह्न दर्ज करते रहे हैं। संस्कृति की व्याख्या करते हुए डॉ० 'रंगम' कहते हैं-

समाज के संस्कारों का
संस्कृति एक दर्पण है,
स्वस्थ मानव समाज की
जीवन शैली का दर्शन है।

इसी प्रकार डॉक्टर साहब की आशावादिता उनकी 'निराशा में आशा' शीर्षक कविता में झलकती है-

आज भी यदि हम कुछ जागृत हो
समझ लें, ठहरें, संभले, सोच लें,
विरासत के मूल्य को थोड़ा गह लें
आधुनिकता में भी रह लें
सब के गुण दोषों को परख लें
तो भारत हित परम उपयोगी लगता कल्पसूत्र,
यह कि व्यवस्था में सब हों सहयोगी...............

'तीन भूलों के दंश कब तक सहेगा भारत? शीर्षक 'रंगम' की कृति के संबंध में साहित्यकार डॉ. शिववंश पाण्डेय अपने पुरोवाक् में लिखते हैं कि इस कृति में कविवर श्री 'रंगम' की सात कविताएँ और ऐसे उनतीस चिंतनपरक निबंध संकलित हैं जिनमें राष्ट्रहित और लोकहित के लिए एक देशभक्त हृदय की आंतरिक पीड़ा और उनके उपचार के लिए किए गए प्रयासों का संक्षिप्त किंतु हृदयावर्जक वृत्तांत निवेदित है।

डॉ०रंगी प्रसाद सिंह 'रंगम' जैसे सुप्रसिद्ध चिकित्सक, समाज एवं साहित्य सेवी को जगन्नियंता ने विगत 8 दिसंबर 2001 को जब हमसे छीन लिया, तो ऐसा लगा कि जगन्नियंता भी अच्छे ही लोगों को अपने पास बुलाता है।

❖❖❖

डॉ० पी० एन० सिन्हा :

जो राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना के संवाहक थे

किसी व्यक्ति की ऊँचाई का शायद सबसे बड़ा प्रतिमान है उसका खुला व्यक्तित्व, उदार स्वभाव, सहजता एवं किसी के लिए भी सुलभ हो सकने की क्षमता। डॉ० पूर्णेन्दु नारायण सिन्हा इस पाटलिपुत्र के एक ऐसे हस्ताक्षर थे, जिनके व्यक्तित्व में इन सभी विशेषताओं को सहज रूप में देखा जा सकता था। बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ० सिन्हा का जीवन एक खुली किताब है, जिसे आसानी से कोई भी पढ़ सकता है। यों तो आपने चिकित्सा शिक्षा में डिग्री पाई, पर राजनीति में प्रवेश कर बिहार सरकार में मंत्री पद तक को सुशोभित किया। राजनीति के व्यस्त जीवन में भी आपका साहित्यकार कभी मुमूर्षा में नहीं जिया, बल्कि जिजीविषा के जागरूक प्रभाव में निरंतर तैरता रहा और एक कुशल तैराक के समान अवसर पाते ही गोता लगाकर भाव-विचार के सुंदर मोती भी चुनता रहा। इनकी अध्ययनशीलता एवं मननशीलता के फलस्वरूप कई गंभीर रचनाएँ समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। आपने इन रचनाओं के माध्यम से आम जन-मानस को आंदोलित किया इस मान्यता के साथ कि सत्य की साधना से ही व्यक्ति और समाज पूर्ण होता है और अन्याय, धोखा-धड़ी, जाल-फरेब और भेदभाव पर टिकी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बदलना हर सजग नागरिक का कर्त्तव्य बनता है।

सामाजिक जीवन में अहिंसक क्रांतिकारिता के हिमायती डॉ सिन्हा ने बिहारवासियों खासकर पटना के प्रबुद्धजनों के बीच अपनी एक अलग पहचान बनाई तथा लोगों के हृदय में एक अमिट छाप छोड़ रखी है। कोई भी महापुरुष समकालीन जन-समाज के बीच एक अंतराल के पश्चात् ही पहचाना और परखा जाता है, महापुरुषों के जीवन के संपूर्ण कार्यकलाप सामान्य जन चेतना को प्राणवान् बना देते हैं। आपका ज़ीवन इसी तर्क को प्रमाणित करता है। किसी शायर ने ठीक ही कहा है–

हजारों साल नरगिस अपनी बेनूरी पे रोती है
बड़ी मुश्किल से होता है चमने में दीदावर पैदा।

आज समाज में एक जड़ता आ गई है। लोग अपने आप में सिमटते चले जा रहे हैं। समाज की इस जड़ता को तोड़ने तथा नए मूल्य स्थापित करने

के लिए हम सबको मन बनाना होगा और तभी आज के सड़े-गले जीवन की त्रासदियों को झेलता हुआ हमारे बीच से ही कोई विद्रोही या मसीहा निकलेगा। ये विचार हैं डॉ० सिन्हा के, जिसे वे समय-समय पर पटना में आयोजित संगोष्ठियों में व्यक्त करते रहे हैं।

संस्कृति के संवाहक डॉ० पूर्णेन्दु नारायण सिन्हा को साहित्य से गहरा लगाव था। वे साहित्य को अपसंस्कृति के विरुद्ध एक हस्तक्षेप मानते थे। वे बराबर कहा करते थे कि साहित्य स्वयं अपने आप में इस सांस्कृतिक विपन्नता का सबसे तगड़ा प्रतिकार है, क्योंकि वह सिर्फ बुद्धि की नहीं, भावना, कल्पना और ऐंद्रिक अनुभवों की भी दीक्षा है। आज के समाज में जो संवेदनशून्यता तथा भौतिकता के प्रति व्यामोह में वृद्धि हो रही है उसका कारण भी शुद्ध कलात्मक तथा सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास रहा है। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि कलाओं को जनता से जोड़ने की खास कोशिश की जाय और इस काम में राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा हिंदी प्रभावी हो सकती है, ऐसा मानना था डॉ. सिन्हा का। उन्होंने सदैव लोगों को सलाह दी कि अँग्रेजी की मानसिकता से मुक्त होकर हमें हिंदी को मन से स्वीकार करना होगा तथा इसे समृद्ध करने का प्रयास करना होगा। साहित्यकारों को इसी के अनुरूप इतिहास की चुनौती स्वीकार कर अपनी साहित्य-साधना से इसे जन-जन तक पहुँचाना है। डॉ. धर्मवीर भारती की कविता-''अंधा युग'' की इन पंक्तियों को डॉ. सिन्हा हमेशा सुनाया करते थे-

'जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को,
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है
नियति नहीं पूर्व निर्धारित
उसको हर क्षण मानव-निर्णय
बनाता-मिटाता है।

सांप्रदायिकता के सवाल पर पूर्णेन्दु बाबू हमेशा कहा करते थे कि वह न तो भारतीय साहित्य में है न इसकी संस्कृति में और न हिंदुस्तानी कलाओं में। वह तो उन गंदे दिमागों की जहरीली सोच का शैतानी भरा आविष्कार है, जो हर कीमत पर सत्ता पाना चाहता है और उसे कायम रखना चाहता है।

ऐसे वक्त हमें सुप्रसिद्ध कवयित्री इंदिरा इंदु की ये पंक्तियाँ याद आती हैं-

तेरे नाम पर लहू की नदियाँ अगर बहेगी,
मेरी आस्था कैसे तुझे देवता कहेगी
ये कहाँ खुदा के बंदों,
तुम्ही जब नहीं रहोगे तो कहाँ बनेंगे मंदिर
कहाँ मस्जिदें रहेंगी।

इस प्रकार इतिहास, संस्कृति, समाज और देश के स्तर पर परेशान करने वाली कई बातों का जिक्र पूर्णेन्दु बाबू किया करते थे। किसी भी विषय की गहराई में जाकर सोचने की उनकी असीम क्षमता उनके व्यक्तित्व की एक अलग विशेषता रही है। ऐसे व्यक्तित्व पर कुछ लिखकर मैं सुख अनुभव कर रहा हूँ, जिनके भीतर के स्तर में ही इनकी असलियत थी, बाहर नहीं और उस असलियत में एक आग है, जो हमेशा सुलगती रही और विचार के माध्यम से निकलती रही।

मुझे ठीक-ठीक याद नहीं कि कितने वर्षों से पूणेन्दु बाबू से मैं परिचित था, कब और कैसे उनके सान्निध्य में मैं आया, पर इतना अवश्य है कि पिछले दो-ढाई दशक से न केवल उन्होंने मुझे अनुज समझकर स्नेह दिया, वरन् साहित्य और समाज को कुछ देने की प्रेरणा और सीख भी उनसे मिली। एक बार भी दूरभाष पर उनसे बात हो गयी या हमारे कार्यक्रम के बारे में उन्हें पता चल गया, देर-सबेर वे राष्ट्रीय विचार मंच की ओर से आयोजित गोष्ठियों में पधारकर हमें प्रोत्साहित करते थे। मंच के पुख-पत्र 'विचार दृष्टि' से प्रभावित होकर इसे और स्तरीय एवं पठनीय बनाने की बात वे हमसे बराबर कहा करते थे। यही कारण है कि वह पत्रिका आज उस स्तर तक पहुँचने का प्रयास कर रही है, जिसके हर अंक को पूणेन्दु बाबू ने मुक्त कंठ से सराहा। उनके महाप्रयाण से 'विचार दृष्टि' पत्रिका एवं राष्ट्रीय विचार मंच को जो क्षति हुई है उसकी भरपाई आसान नहीं। अब हम कहाँ पाएँगे उस बहुमुखी प्रतिभा के धनी तथा बहुचर्चित व्यक्तित्व को जो पटना की प्राय: प्रत्येक संगोष्ठी व कार्यक्रम को अपनी उपस्थिति एवं विचारों से गौरवान्वित व प्रेरित करते थे और जिनकी साहित्यकारों, प्रबुद्धजनों एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच लोकप्रियता के सब कोई कायल थे। वे अपने विचारों को दो टूक अभिव्यक्त करते थे, सच कहा जाय तो वे अपने युग के प्रतिनिधि थे। उनकी वैचारिक नींव ऐसी गहरी थी कि वे कभी भी भी अपने पथ से विचलित -भ्रांत नहीं हुए। अपने जीवन में वे काफी उतार-चढ़ाव देखे। स्वाभिमान की रक्षा को उन्होंने अपने जीवन में सदैव प्रथम स्थान दिया।

आज आवश्यकता इस बात की है कि डॉ. सिन्हा के ख्यालों की गहराई तक पहुँचने की कोशिश की जाय, उनके विचार-सागर में गोते लगाए जाएँ। आज के उपभोक्तावादी युग में प्रबुद्धजनों को ऐसी विभूतियों को समझने की आवश्यकता है, जिनके लिए राजनीति साधन थी, साध्य नहीं। जिनका व्यक्तित्व पानी की तरह निरंतर गतिशील रहने वाला था। वह कभी ठहरा नहीं। गतिशीलता एवं कुंठामुक्त उन्मुक्त व्यवहार के फलस्वरूप पूर्णेन्दु बाबू का मित्र-परिवार विशाल हो गया था। आज जब राजनीतिक जीवन का बुरी तरह अवमूल्यन हो रहा है तथा व्यक्तिगत चरित्र नाम की चीज सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन से लुप्त होती जा रही है, डॉ. पूणेन्दु नारायण सिन्हा जैसे निष्ठावान और अप्रतिम व्यक्तित्व के लोगों से प्रेरणा लेने की जरूरत है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना के इस संवाहक के अधूरे कामों को उनका व्यापक परिवार पूरा करेगा।

आने वाला इतिहास इन्हें किस रूप में चित्रित करेगा, मैं नहीं जानता। पर इतना अवश्य है कि जिस दीप को पूर्णेन्दु बाबू ने प्रज्ज्वलित किया है, इन्होंने जो मशाल जलाया है, हमारा आपका कर्त्तव्य है कि उस मशाल को लेकर आगे बढ़ें।

❖❖❖

आर० पी० सिन्हा :
जो हमारी आस्था के अग्रज थे

हर कदम के राही, हमारी आस्था के अग्रज और राह को प्रशस्त करने वाले हमारे बड़े भाई सदृश्य राजेन्द्र प्रसाद सिन्हा का विदा हो जाना हमारे लिए एक अपूरणीय क्षति है। राजेन्द्र बाबू के हाथ हमारी पीठ पर तो रही ही उनके कदम भी साथ-साथ बढ़ते रहे। चौधरी उच्च विद्यालय, हुसेनपुर में हमसे दो साल के सिनियर उन्होंने राजनीति विज्ञान में स्नातकोत्तर उपाधि राँची विश्वविद्यालय से वर्ष 1960 में ली और मैं पटना विश्वविद्यालय से 1962 में। इंडियन ऑडिट एण्ड एकाउंट्स डिपार्टमेंट के इक्जामिनर ऑफ लोकल एकाउंट्स में उनकी नियुक्ति सन् 1962 में हुई और मैंने उसी विभाग के महालेखाकार कार्यालय में सन् 1964 में राँची में पदभार ग्रहण किया। एस०ए०एस० की परीक्षा भी उन्होंने हमसे दो वर्ष पूर्व पास की। राँची में हम दोनों सपरिवार तबतक साथ रहे जबतक कि हमारा तबादला पटना नहीं हो गया। पटना आने के बाद मैं और मेरे परिवार के सभी सदस्य वंचित हो गए उनके स्नेह से, हालांकि जब तब अपनी उपस्थिति से वे हमें प्रोत्साहित करते रहे।

उनके निधन के बाद आज जब मैं उन्हें स्मरण करता हूँ, तो उनसे जुड़ी यादें हमारे मानस-पटल पर एक-एक कर रेखांकित हो रही हैं जिन्हें यहाँ शब्दों में बाँधना आसान नहीं। लंबे समय तक साथ रहने के कारण उनके विचारों को समझने-सीखने का मुझे सुयोग प्राप्त हुआ था। श्रद्धा और सम्मान की साधना जो मैंने उनके साथ रहकर सीखी वह मेरे लिए वरदान सिद्ध हुई और वह कभी सूखने वाली नहीं, क्योंकि उन्होंने मुझे रचनात्मक शिक्षा प्रदान की। उनके काम पत्थर पर भी हरियाली से खुशहाली लाने के रहे। जब कभी किसी बात को लेकर उदास हुआ हमारे होठों पर मुस्कान लाना इन्हीं के बस की बात रही। उनका नाम वैसे तो राजेन्द्र प्र० सिन्हा था, पर अपने करीबियों में वे आर०पी०सिन्हा के नाम से जाने जाते थे।

राजेन्द्र बाबू समाज के उन गिने-चुने नागरिकों में से थे, जो बौद्धिक गुणों से भरपूर तो थे ही, एक दूसरे के प्रति सम्मान एवं समन्वय को बढ़ाते रहते थे। अपने पूर्वजों का मूल तलाशने और अतीत एवं वर्तमान में संबंध कायम करने की उन्होंने सदा कोशिश की। समाज व राष्ट्र के हर अंग की खामियों और युवावर्ग में फैले असंतोष को देखते हुए उन्हें ऐसा प्रतीत होता

था कि हम देशवासी लापरवाह हैं, जो रोशनी की किरण को स्वीकार किए बिना गुजर जाने देते हैं। वे हमेशा कहते थे कि समाज और राष्ट्र के रोग लाइलाज नहीं हैं, इसके लिए जरूरत है उसके कारणों की खोज कर उन अवरोधों को हटाने की और विकास की किरणों को आखिरी छोर तक पहुँचाने की। बदलते दौर में श्रद्धेय सिन्हा जी के ये विचार आज भी उतने ही अनिवार्य हैं जितना इंसान का सांस लेना।

आर०पी० सिन्हा के व्यक्तित्व की खासियत यह रही कि उनमें सहजता और सौम्यता साफ झलकती थी। कोई आडंबर नहीं और न ही किसी बात की पर्दादारी। जबतक वे नौकरी में रहे, एक जुनून था काम करने का। नयी राह दिखी, तो दौड़ पड़े मंजिल छूने। उनका कहना था कि यदि आसमान छूना है, तो जमीन पर रहना जरूरी है और सबसे पहले अपने प्रति ईमानदार बनो, तब सपने देखो। ऐसे सपने पूरा करने में आनंद भी आएगा। मैं इस मायने में सौभाग्यशाली हूँ कि राजेन्द्र बाबू जैसे मुझे अग्रज मिले। हर किसी को ऐसा अग्रज नहीं मिलता, ऐसा इंसान मिलना आसान नहीं। राजेन्द्र बाबू मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं, बल्कि एक एहसास थे जिनकी वजह से मेरे भीतर के स्फूरण और स्पंदन जीवित रहते थे।

लेखनी और वक्तृत्व कला के धनी राजेन्द्र बाबू में प्रशासनिक क्षमता भी असाधारण थी। आखिर तभी तो अपने दफ्तर के प्रशासन - विभाग में रहने के बावजूद अधिकारियों एवं सहकर्मियों के साथ इनका अटूट और गहरा संबंध था। वे सर्वप्रिय थे अपने आचरण और आचार-व्यवहार के कारण, अपनी सरलता और सहजता के कारण। क्रोध तो उनके चेहरे पर कभी किसी ने देखा ही नहीं। सहिष्णुता और करुणा भी उनमें कूट-कूट कर भरी थी। मूल्य-मर्यादाओं की प्रेरणा मैंने उन्हीं से ग्रहण की और लोकचेतना जगाने का प्रोत्साहन भी। सच कहा जाए, तो राजनीति पर दो टूक विश्लेषण करने का ढंग भी मैंने उन्हीं से सीखा, क्योंकि उसपर उनकी पकड़ अच्छी-खासी थी। अपने पाँव में काँटे चुभो कर हमारा पथ-प्रशस्त करके उन्हें आनंद का अहसास होता था और उनकी धर्मपत्नी मेरी भाभी जी भी हमारी श्रीमती को स्नेह देने में प्रसन्नता का अनुभव करती थी। यही कारण है कि हमारे दिल में राजेन्द्र बाबू के लिए एक विशेष स्थान रहा है।

बिहार प्रांत के नालंदा जिलांतर्गत नेपुरा गाँव में जन्में आर०पी०सिन्हा दो भाई थे। बड़े भाई श्री रामजी प्रसाद सिन्हा अपने अनुज की यादों को संजोए गुजर गए। उनकी पीड़ा की कल्पना की जा सकती है। सेवानिवृत्ति के

बाद अपने गाँव में ही शेष जीवन बिताने का राजेन्द्र बाबू का संकल्प इस बात का परिचायक है कि ग्रामीण परिवेश से उन्हें बेहद लगाव था। आखिर तभी तो हमारे बार–बार आग्रह के बावजूद पटना में रहना उन्होंने कभी पसंद नहीं किया। राजेन्द्र बाबू के शरीर त्यागने से हमारा एक सच्चा मार्गदर्शक खो गया, पर सत्य का शाश्वत तार लंबा और लंबा ही बढ़ता जाता है। मर कर भी अमर रहेंगे हमारे अग्रज और हमारे हृदय में युग–युग जीवित रहेंगे राजेन्द्र प्रसाद सिन्हा जी। उ०प्र० के डेयरी विकास निगम में उच्च पद पर आसीन शिवेन्द्र के रूप में हमारे बड़े भाई एक नया पौध लगा गए जिसे सींच कर पुष्पित–पल्लवित मैं देख पाऊँगा, यही मेरी अभिलाषा है और आकांक्षा भी। अपने परिवार की ओर से मैं अपने बड़े भाई के प्रति अपार श्रद्धा निवेदित करता हूँ।

❖❖❖

कृष्णनन्दन सहाय :

जो सामाजिक सरोकारों से सदैव जुड़े रहे

बहुआयामी व्यक्तित्व तथा सामाजिक सरोकारों से जुड़े श्री कृष्णनन्दन सहाय को लोग के०एन०सहाय के नाम से ही ज्यादा जानते हैं। एक थुली-थुली एवं डील-डौल काया, जो बिहारवासियों के प्यार और स्नेह से और भी फूल उठती, फुहारोंवाली डाली जैसी आँखों में पनीली चमक जिसमें आपके अहंकार तरलता से ठेल सकने वाली साफ झलकती थी, को अब हम कहाँ पाएँगे। आप लाख तीसमार खाँ हों, के०एन०सहाय के साथ कुछ नहीं कर सकते जो लावण्य के साथ न किया जाने योग्य हो। वे गुफ्तगू ऐसे लहजे में करते गोया आप उनके दिल के हों-चाहे कितने भी अजनबी हों आप!

इस प्रसंग में एक आप बीती बात मैं सुनाऊँ आपको। सामाजिक कार्यकर्ता व संगठन से जुड़े रहने की वजह से विभिन्न आयोजनों के लिए नगर या नगर से बाहर के भारी भरकम व्यक्तित्व को अतिथि के रूप में आमंत्रित करना मेरे रोजमर्रे का काम रहा है। यही कोई 25-30 साल पहले की बात है, पटेल सेवा संघ, बिहार के महासचिव की हैसियत से लौह पुरुष सरदार पटेल के जयंती-समारोह के वास्ते मुझे कई अतिथियों को आमंत्रित करना था। सो मेरी नजर, मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं कि उन दिनों श्री सहाय जी पटना के महापौर थे या नहीं, उस भीमकाय व्यक्तित्व पर जा पड़ी। बस क्या था, एक दिन उनके बेली रोड स्थित निवास 'सहाय सदन' मैं जा धमका। संयोगवश वे निवास में मौजूद थे। शाम का समय था। मैंने एक पूर्जे पर अपना नाम लिखकर निवेदन पत्र के साथ उनके कमरे में भिजवाया। थोड़ी ही देर में मेरी बुलाहट हुई। सजे-धजे उनके कमरे में प्रवेश करते ही मैंने बड़ी शालीनता के साथ हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया। अभिवादन का उत्तर उन्होंने भी हाथ जोड़कर देते हुए मुझे अपने बगल की कुर्सी पर बैठने का इशारा किया। आपको यकीन नहीं होगा, मेरी बातें उन्होंने बड़े गौर से सुनीं तथा काफी देर तक लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर चर्चा करते हुए आधुनिक भारत के निर्माण में उनके अभूतपूर्व योगदान की बातें उन्होंने बताई। फिर बड़ी सहजता से उन्होंने हमारा आतिथ्य स्वीकार कर मुझे तथा संघ को कृतार्थ किया।

हाँ, तो मैं बात कर रहा था उनके बात करने के ढंग और उनकी शैली

की। बात करते वक्त ऐसा लगता यह आदमी आप पर फिदा है बहुत ही सरल और सहज भाव लिए। मगर उसके भीतर का सूप फटक रहा है और अपने लिए जो चुन रहा है, उसका अहसास कितनों को हुआ है। व्यक्ति को पहचानने में इतने माहिर थे कि कड़े से भी बीन सकत थ यूरेनियम। परंतु हम और आप उस के०एन० सहाय को देह में नहीं पा सकेंगे। 14 जुलाई, 1999 की संध्या साढ़े सात बजे लंबी बीमारी के बाद वे हम सबों से विदा हो गए। जगन्नियंता, के क्रूर हाथों ने उन्हें हमसे सदा-सदा के लिए छीन लिया, पर उनके प्रति हमारे तथा प्रत्येक बिहारवासी के हृदय में जो श्रद्धा व सम्मान के भाव रहे वे तो आज भी बरकरार हैं।

आप इस बात से अवगत हैं कि के०एन०सहाय ने पटना नगर निगम के महापौर पद को तीन-तीन बार सुशोभित किया। सच मानिए, महापौर तो अनेक हुए, पर कितने नाम आपके मानस-पटल पर अंकित हैं। जब भी महापौर की बात उठेगी, सहाय जी का व्यक्तित्व वहाँ खड़ा मिलेगा। कुछ वर्ष पूर्व पटना में आयोजित भारत के महापौर के सम्मेलन में उपस्थित होने पर पटना तथा बिहार से बाहर के पधारे महापौर एवं दर्शक न केवल सहाय जी के आकर्षक व्यक्तित्व को देखकर मुग्ध हुए, बल्कि उनके बोलने की शैली, धवल खादी वस्त्रों का पहनावा, कंधे पर एक लंबा अंगोछा, ओठों पर पान की लाली, और गोरा छरहरा बदन लोगों को आकर्षित करता रहा था।

भारत के प्रथम गणतंत्र वैशाली के बांघी गाँव के एक सम्भ्रान्त जमीन्दार परिवार में जन्मे के०एन०सहाय न केवल बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे, बल्कि सुरुचि और जनकल्याण की भावना से ओत-प्रोत थे। गरीबों की पीड़ा, उनके दुख-दर्द तथा उनकी वेदना से वे सदैव द्रवित रहे तथा जितना कुछ उनसे बन पाया, उन्होंने किया। कहा जाता है कि लक्ष्मी और सरस्वती एक घर में निवास नहीं करती हैं, पर सहाय जी का घर शायद अपवाद था। योग्य पिता पूर्व कुलपति श्यामनन्दन सहाय के योग्य पुत्र कृष्णनन्दन सहाय लक्ष्मी और सरस्वती दोनों के प्रिय थे। एक ओर कई उद्योगों के मालिक थे, तो दूसरी ओर अनेक विद्यालयों, महाविद्यालयों, शिक्षण संस्थानों और स्वैच्छिक संगठनों के संचालक भी रहे। वह अपने आप में एक संस्था थे। सामंती घराने के होते हुए भी भारतीय संस्कृति से उनका गहरा लगाव था। आखिर तभी तो कई देशों के दौरा के दौरान वहाँ की संस्कृतियों को सहाय जी ने निकट से देखा पर भारतीय संस्कृति के सामने इन्हें सब कुछ छोटा लगा।

बिहार चैम्बर ऑफ कॉमर्स तथा अखिल भारतीय महापौर परिषद के

अध्यक्ष के रूप में सहाय जी ने अपनी एक अलग पहचान बनाई। वे चाहते तो बिहार के मंत्री हो सकते थे, किंतु यह इच्छा उनके मन में कभी न आई। उर्दू शायरी के शौकिन, मुहावरों से भरी उनकी बोली लोगों के मन को मोह लेती थी। सामाजिक जीवन के इस अमूल्य धरोहर के देहावसान से बिहार को एक गहरा धक्का लगा, क्योंकि पिछले पाँच दशकों से इस राज्य के सामाजिक और सांस्कृतिक संगठनों से वे गहरे रूप से जुड़े थे। उनकी परोपकारा प्रवृत्ति आने वाले समय में युगों-युगों तक सराही जाएँगी, बड़े-बड़े दानी उनसे इर्ष्या करेंगे, इतिहास की धरोहर बन जाएगी उनकी यह प्रवृत्ति। ज्ञानयोगी की तरह उनकी सोच, कर्मयोगी की तरह उनके पुरुषार्थ, भक्तियोगी की तरह उनकी उदारता और सहृदयता को बिहारवासी सदैव याद रखेंगे। किसी काम को सही रीति से, समूची योग्यता लगाकर करने को प्रतिष्ठिा का प्रश्न मानकर चलने की उनकी आदत से सब लोग परिचित हैं जिसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

सामाजिक नीति-मर्यादा का ध्यान रखने वाला, चेहरे पर हमेशा मुसकान बनाए रखने वाला, अपनी शालीनता का सदैव ख्याल रखने वाला तथा सम्मिलित सहयोग की व्यवस्था बनाए रखने वाला वह व्यक्ति हमारे बीच नहीं है। मुझे तो यह कहने में कोई संकोच नहीं कि उनके निधन से बिहार का एक जीवंत, संजीदा तथा गौरवशाली व्यक्ति उठ गया है जिसकी भरपाई तत्काल संभव नहीं। जीवनपर्यंत दूसरों को खुशियाँ बाँटते हुए तथा हर व्यक्ति के आँसूओं को पोछते हुए धरती से विदा इस मसीहा की स्मृति को मेरा प्रणाम।

❖❖❖

डॉ० मोहन सिंह : जो गहरे सामाजिक सरोकारोंवाले अंतर्मुखी चिकित्सक थे

"दुनिया की मर्दुमशुमारी गलत हो रही है। यथार्थ में दुनिया में दो चार ही गिने-चुने जीव रहते हैं। उन्हीं की गिनती दुनिया भी गिनती है और उन्हीं का मत दुनिया का मत।"

ये पंक्तियाँ राष्ट्र चेतना के सुप्रसिद्ध रचनाकार माखनलाल चतुर्वेदी लिखित एक संस्मरण में आई हैं। इस बात को स्वीकार करने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि समाज के इने-गिने व्यक्तियों में डॉ. मोहन सिंह का नाम निश्चित रूप से आता है। कहा जाता है कि जब व्यक्ति और काल का संयोग होता है, तो एक क्रांति का जन्म होता है-- ठीक वैसे ही जैसे करोड़ों तारों के अस्त होने के बाद सुबह होती है और महान व्यक्तियों तथा महान क्षणों के संयोग से महान क्रांति पैदा होती है। यानी ऐसी सुबह होती है, जो दोपहर जैसी लगती है जिसमें सूर्य अपने पूरे जोर के साथ चमकता है। डॉ. मोहन सिंह ऐसे ही महान व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने पूरे जीवन के इतिहास में दुर्लभ क्षणों का सर्जन किया।

"सजातो येन ज़ातेन याति वंश-समुन्नतिम्
परिवर्तिनि संसारे मतः को वा न जायते।"

अर्थात इस परिवर्तनशील संसार में मरे हुए की तरह कौन नहीं पैदा होता है, लेकिन जन्म उसी का सार्थक है, जो जाति (समाज) या वंश की समुन्नति के लिए जीता है। डॉ. मोहन सिंह भी एक ऐसे व्यक्ति हुए, जिन्होंने समाज के लिए जिया, उसके निर्माण में रुचि ली और समाज के सपनों को संवारा। कल्पना को कर्म समझकर अपनी योजना को युक्ति से पूरा किया। अपनी नम्रता, प्रेमपूर्वक व्यवहार और सहनशीलता से समाज को स्वस्थ-सबल बनाने का जीवन पर्यंत प्रयास वे करते रहे।

डॉ. साहब के जीवन का लेखा-जोखा जब हम करते हैं, तो बही-खाते के 'डेविट' तथा 'क्रेडिट' दोनों कॉलमों में से केवल 'क्रेडिट' कॉलम ही भर पाते हैं। 'डेविट' कॉलम को केवल शून्य का ही सहारा लेना पड़ता है। मसलन डेविट तथा क्रेडिट दोनों अलग-अलग खानों में अंकित क्रमशः दर्द और उल्लास में से उल्लास के सामने दर्द कहीं नजर ही नहीं आता। ऐसा था उनका जीवन और उनके जीवन की उपलब्धियाँ। डॉ. साहब

के जीवन में मुख्य रूप से हमने तीन बातों को पाया---सुरुचि, संस्कृति और शालीनता। सुरुचि इसलिए कि वे कभी किसी को उबने न देते थे चाहे जितनी देर वह उनके समीप बैठा रहे। संस्कृति इसलिए कि आतिथ्य सत्कार में कहीं कोई कमी नहीं। उनकी झोली में मौसम के अनुसार आम, अमरूद, केले, अंगूर, सेव, नारंगी तो मिलते ही थे, यहाँ तक कि मीठे-मीठे बेर भी। जब कभी भी कोई उनसे मिलने गया इन फलों से उसका स्वागत हुआ। शालीनता की तो मानो डॉ. साहब प्रतिमूर्ति ही थे। अपने हाथों से सेव-अमरूद काटकर आपकी ओर बढ़ाना तो जैसे उनकी आदत बन चुकी थी। आपको यह कभी भान नहीं होता कि आप इतने बड़े तथा आत्मीयता से भरे व्यक्तित्व के समीप बैठे हैं। अल्पाहार के बाद लौंग या ईलायची से आपका स्वागत आपको मिथिला संस्कृति की याद अवश्य हो आती। आपकी वापसी पर आपके अभिवादन के प्रत्युत्तर से आप कदाचित वंचित नहीं हुए होंगे। बात व्यवहार में उनकी कुशलता तथा बातचीत के बीच उनकी वाक्पटुता के कायल हैं हम। इतने धनी व्यक्तित्व में शालीनता तो इतनी कूट-कूट कर भरी हो, ऐसा उदाहरण विरले ही कहीं और मिलता है। ऐसे हस्ताक्षर को मैं बार-बार यदि अपने में आत्मसात कर पाऊँ, तो श्रेय उन्हें ही जाएगा और उस दिन अपने को मैं धन्य समझूँगा। जहाँ तक डॉ. साहब से मेरे परिचय का प्रश्न है मुझे अच्छी तरह याद है कि उनके साथ मेरी मुलाकात सन् 1974 में पटना में मुसल्लहपुर स्थित सरदार पटेल छात्रावास के किसी कार्यक्रम में हुई थी। डॉ. साहब उन दिनों उस छात्रावास न्यास के अध्यक्ष थे।

सन् 1973 के दिसंबर में जब मेरा तबादला रांची स्थित महालेखाकार कार्यालय से पटना के महालेखाकार कार्यालय में हुआ, तो अपनी मानसिकता के अनुरूप यह स्वाभाविक हो गया कि पटना के सामाजिक तथा सांस्कृतिक रंग-ढंग में मैं रस-बस जाऊँ। इसी क्रम में डॉ. साहब से जिस समय से मेरा परिचय हुआ, उनके बात-विचार, उनके काम करने के ढंग तथा उनकी सामाजिक मानसिकता से मैं बड़ा प्रभावित हुआ। उनकी कार्यशैली तथा सामाजिक कार्यों में उनकी गहरी रुचि का मेरे ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा। अनेक प्रकार की उनकी व्यस्तता के चलते मैं उनसे उन दिनों अक्सर तो नहीं मिल पाता था, किंतु जितनी बार उनसे मिला उनकी अमिट छाप मेरे हृदय पर पड़ी जिसने मेरी जिंदगी की धार को भी बदल दिया। सच मानिए ऐसे उदार, कर्मठ एवं निष्ठावान सामाजिक हस्ती का सान्निध्य पाकर मैं गौरवान्वित हुआ। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि डॉ. साहब ने पहली मुलाकात से लेकर आजीवन

जिस आत्मीयता और आनंद से पुलकित होकर मुझपर अपना स्नेह दर्शाया, उसे चाहकर भी मैं भूला नहीं पाऊँगा। उस समय से लेकर उनके जीवन काल तक की न जाने कितनी स्मृतियाँ आज भी ज्यों-की-त्यों मन की आँखों के आगे झलक जाती हैं और हृदय एक अकथनीय भावना से अभिभूत हो उठता है। स्थानाभाव की वजह से उन सभी स्मृतियों का यहाँ समावेश कर पाना तो मुश्किल है, पर बानगी के रूप में उनमें से कुछ को आप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना मैं इसलिए लाजिमी समझता हूँ, ताकि डॉ. साहब की उदारता, सहृदयता और आत्मीयता से आप भी रू-ब-रू हो सकें।

याद आई मुझे डॉ. साहब की गंजी की कहानी। वे आदतन अपनी गंजी तथा अंडरवियर प्रतिदिन धोकर बाथरूम में ही पसार देते थे। एक दिन उनकी धर्मपत्नी की नजर उनकी फटी गंजी पर पड़ गई। बस क्या था, उन्होंने उसी दिन डॉ. साहब से नयी गंजी खरीदने के लिए बाजार चलने का अनुरोध किया। दोनों पति-पत्नी एक रिक्शा लेकर चल पड़े बाजार को। जनवरी का महीना। जाड़ा अपनी ऊँचाई को छू रहा था। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। उस कपकपी के मौसम में डॉ. साहब की नजर रिक्शा चालक के पीठ पर पड़ी। उसके शरीर पर चादर तो दूर, गंजी जालीदार न होने पर भी वह जालीदार लग रही थी। फटी गंजी, जिसका एक छोर दूसरे तथा दूसरे का तीसरे छोर से बंधा था, रिक्शा चालक के शरीर में लटक रही थी जिसे देख डॉ. साहब को कपकपी होने लगी और अपनी धर्मपत्नी का ध्यान उन्होंने आकृष्ट करते हुए उनका ख्याल पूछा। गंजी की दुकान जाकर दो गंजियाँ खरीदी गईं। एक पहले रिक्शेवाले को पहनायी गयी और दूसरी डॉ. साहब के लिए घर लाई गई। रिक्शावाला गंजी पाकर निहाल हुआ और एक गरीब आदमी के लिए डॉ. साहब का ख्याल आज एक नमूना बनकर कहानी बन गई।

डॉ. मोहन सिंह जी विनम्रता की मूर्ति थे। बड़े ओहदे तथा अधिक पैसेवालों में जो अहं रहता है वैसा मैंने न तब देखा और न उनके जीवन के अंतिम क्षणों में। बिना किसी संकोच के किसी के यहाँ चला जाना तथा उसके दु:ख-दर्द में साथ देना तो जैसे उनके रोजमर्रा की आदत बन गयी थी। सभ्यता एवं संस्कृति के प्रतीक डॉ. साहब ने विभिन्न सामाजिक संगठनों के माध्यम से आदमी को आदमी से जोड़ने में अपनी अहम भूमिका निभाई। निश्चित रूप से सरदार पटेल छात्रावास के अध्यक्ष की हैसियत से उनके द्वारा किए गए प्रयास आदमी को आदमी से जोड़ने में सहायक सिद्ध हुए हैं। छात्रावास के निर्माण में अनवरत लगे रहना डॉ. साहब के आत्मविश्वास और

अपने उद्देश्यों के प्रति ईमानदारी का जहाँ परिचायक था, वहीं समाज के प्रभावी आंदोलन का एक मूल मंत्र भी। ऐसा आंदोलन जो कि हमारी सामाजिक संभावनाओं की सीमा रेखा बदल देगा, क्योंकि उनके कदमों पर चलने का हमने संकल्प जो ले रखा है तथा हाथ न खींचने की कसमें जो खाई हैं।

समाज के प्रति उनका दर्द क्या कुछ नहीं करा देता। तभी तो 80-85 साल की उम्र में भी कुछ-न-कुछ कर गुजरने की तमन्ना लिए बैठे रहे, कल की पीढ़ी के उज्ज्वल भविष्य की कामना संजोए। इस उम्र में भी छात्रावास के कार्यों में इतनी सतर्कता, कर्मठता तथा बेचैनी के कारण क्या हैं? यह प्रश्न पूछने पर डॉ. साहब ने कहा था-''सामाजिक कार्यों को मूर्तरूप में परिणत करने का बस एक शौक है, एक लालसा है दिल में।'' यह पूछने पर कि आपकी संस्थाओं के पदाधिकारी एवं सदस्य आपके साथ कैसा व्यवहार करते हैं, उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा था-- ''वे सब-के-सब मेरी मदद करने को तत्पर रहते हैं। परिश्रम करना प्रत्येक मनुष्य का पहला कर्त्तव्य है। इसी के द्वारा सभी कर्मो को मान्यता दी जाती है।

मानव अपने जीवन के निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो भी कर्म करता है उसमें उसका-'परिश्रम' ही उस कर्म को गति प्रदान करता है और उसे लक्ष्य तक पहुँचाता है। जो मानव सार्वभौमिक भाव से कर्म करता है वही चिरकाल तक प्रसिद्धि स्थापित करता है डॉ. साहब के कार्य भी इसी वर्ग में आते हैं। सार्वभौमिक भाव से अपने कर्म में तल्लीन यही उनकी विशेषता रही, जिसके लिए आने वाले दिनों में वे स्मरण किए जाएँगे।

कितना अच्छा होता यदि उनकी यादगार को ताजा रखने के लिए एक 'स्मृति ग्रंथ' का प्रकाशन किया जाता जिसमें उनके व्यक्तित्व-कृतित्व से संबंधित सारे आयामों को संजोया जाता। डॉ. साहब के एकलौते सुपुत्र डॉ. सत्येन्द्र नारायण सिंह तथा पुत्रवधू डॉ. रेखा सिंह सहित उनके शुभेच्छुओं का यह सामाजिक दायित्व बनता है कि 'स्मृति ग्रंथ' के प्रकाशन हेतु कदम बढ़ाएँ। हमारी कलम और हमारा अपेक्षित सहयोग उनके साथ रहेगा, यह विश्वास तो मैं अपनी ओर से दे ही सकता हूँ।

पटना मेडिकल कॉलेज के पैथोलौजी विभाग के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त डॉ. मोहन सिंह जी ने पटना के खजांची रोड में 'जाँच घर' नाम से एक पैथोलाजिकल क्लिनिक की स्थापना की जिसने काफी ख्याति अर्जित की और पैथोलाजिकल टेस्ट में पूरे बिहार में अपनी एक अलग पहचान बनाई। एक डॉक्टर से सहानुभूति, दक्षता, होशियारी और समझदारी

की उम्मीद की जाती है। डॉक्टर बन जाने से बेहतर कोई समाज सेवा, कोई उपकार, कोई सुनहरा अवसर और कोई मानवीय जिम्मेदारी नहीं होती। इलाज करने के लिए डॉक्टर का जिस तरह कुछ तकनीकी दक्षता की जरूरत होती है उसी तरह वैज्ञानिक ज्ञान और मानवीय संवेदना की भी। डॉ. मोहन सिंह ने अपनी इस दक्षता को पूरी मानवीयता, साहस और ईमानदारी से निभाने का सतत् प्रयास किया और यही उनके व्यक्तित्व और चरित्र की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही, जो उनके साथियों तथा दूसरों के लिए मिसाल बन गया है। एक डॉक्टर को इससे अधिक और क्या चाहिए?

एक मरीज सिर्फ वही नहीं, जो वह दिखता है कि उसके अंग-भंग है, या अंदरूनी हिस्से खराब हैं, बल्कि वह एक मानव है जिसमें उम्मीदें हैं, संवेदनाएँ हैं, उसमें डर है, भावना है, विश्वास है एक मानव विज्ञानी की तरह डॉक्टर के लिए भी कोई मानव घृणित नहीं। सच्चा डॉक्टर मरीज के लिए ईमानदार भी होता है और बेईमान भी, सहृदय भी होता है और कठोर भी, देवता भी होता है और शैतान भी, क्योंकि वह मरीजों की सेवा करता है। मरीजों की अपेक्षाओं के अनुरूप डॉ. मोहन सिंह ने पूरी निष्ठा और लगन से अपने दायित्व का निर्वाह किया है, यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं।

डॉ. मोहन सिंह जी में राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूटकर भरी थी। स्वतंत्रता यानी शोषण से मुक्ति स्वतंत्रोत्तर भारत की राष्ट्रीय भावना का मूल आधार रहा जिसके डॉ. साहब पोषक रहे। स्वतंत्रता संग्राम में आपने एक अहम भूमिका अदा की। उनका स्पष्ट मत था कि हमारी नई पीढ़ी को राष्ट्रीय एकता के अपकारक घटकों, यथा विखंडनकारी और पृथकतावादी प्रवृत्तियों की बारीक पहचान रखनी होगी, तभी वे इन देशद्रोही शक्तियों की नई चुनौतियों का सामना कर सकेंगी। राष्ट्र की एकता की मजबूती के लिए सभी देशवासियों का सम्मान और उनमें भाईचारे का विकास हो, डॉ. साहब की यही धारणा थी।

पुन: श्री माखनलाल चतुर्वेदी जी ने एक संस्मरण के अंत में जो एक वाक्य लिखा है, उसी से इस संस्मरण का अंत करने की इच्छा होती है--"मैं जानता हूँ, मैं कहकर भी कुछ कह न पाया और कहने को बहुत कुछ बाकी रह गया।"

सादगी और सात्विकता के प्रतीक, एकनिष्ठभाव से अपनी आस्थाओं के प्रति समर्पित, निर्भीक और यथार्थवादी समाज के एक सच्चे हितैषी, गहरे सामाजिक सरोकारोंवाले अंतर्मुखी एवं निहायत संवदेनशील और मानवीय डॉ. मोहन सिंह जी को हार्दिक श्रद्धांजलि।

राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज : जो सामाजिक क्रांति के सूत्रधार थे

राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज न केवल ज्योति राव फूले के सिद्धांतों को कार्यरूप में परिणत करने वाले सामाजिक क्रांति के सूत्रधार थे, बल्कि बाबा साहब भीम राव अम्बेदकर के अभिभावक भी थे। वे एक महान देशभक्त, निर्भीक, कार्यशील, समाजसेवी तथा समाजसुधारक तो थे ही, संपूर्ण समाज की एकता व समता को एक सूत्र में बाँधने की भी उन्होंने कोशिश की थी। यही नहीं सामाजिक कुरीतियों, अँधविश्वास, छूआछूत, ऊँच-नीच के भेद-भाव, अशिक्षा तथा सामाजिक व आर्थिक विषमता को दूर करने का भी उन्होंने प्रयास किया था। शोषित, पीड़ित, दलित तथा उपेक्षित जातियों के उत्थान के लिए उन्होंने अनेक कार्य किए। डॉ० भीम राव अम्बेदकर की विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित होकर ही राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज ने उन्हें अपने कार्यों का उत्तरदायित्व सौंपा था।

19 वीं सदी के अंत और 20 वीं सदी के प्रारंभ के दो दशकों में भारत के दलितों, शोषितों और पिछड़ों की दशा अत्यंत दयनीय थी। 19 वीं शताब्दी में जब महात्मा ज्योतिराव फूले का प्रादुर्भाव हुआ और उनके द्वारा संस्थापित सत्यशोधक समाज के जीर्णोद्धार से लेकर महाराष्ट्र की वर्ण एवं जातिवादी व्यवस्था का उच्छेदन का जब आंदोलन चलाया गया था, तो कोल्हापुर नरेश मराठा परिवार के राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज महात्मा फूले के चिंतन एवं दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनकी क्रांति के धागे को अपने हाथ लेकर राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज ने अनवरत संघर्ष किया और अंततोगत्वा उस क्रांति की डोर को बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेदकर को सौंपकर इस संसार से विदा हो गए।

सृष्टि की यह परंपरा रही है कि जब कभी भी समाज में दुष्टप्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है, तब उनके प्रतिकार के लिए अदृष्ट की प्रेरणा से कोई न कोई शक्ति, महापुरुष, महामानव के रूप में इस धरा पर अवतरित हुए हैं, जिसने इन दुष्प्रवृतियों पर प्रहार कर मानवता के मूल्य को विघटित होने से बचाया और उसी ने सामान्य मानव समाज को सही दिशा दी है। साथ ही विकृत मूल्यों का उदात्तीकरण भी किया है। मानवके इस नव संस्करण तथा परिष्कार की प्रक्रिया संपूर्ण संसार में चलती रहती है। ऐसे ही महापुरुषों की पंक्ति में राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज खड़े हैं, जिनका जन्म महाराष्ट्र के कोल्हापुर में

26 जुलाई, 1874 ई० को उस वक्त हुआ जब 1857 ई० के सिपाही विद्रोह की विफलता के बाद उपनिवेशवादी अँग्रेज़ों का सारे देश में सिक्का जम गया था, इसी काल में बंगाल में ब्रह्म-समाज, गुजरात में आर्य-समाज तथा समाज सुधार के लिए रामकृष्ण मिशन आंदोलन प्रारंभ हुआ और सन् 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की भी स्थापना हुई। फिर राजनैतिक आंदोलनों का एक सिलसिला चल पड़ा था। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश की शोचनीय दशा के निवारण के लिए विभिन्न भागों में अनेक प्रयास होने लगे थे। महाराष्ट्र में भी समाज-सुधार का सूत्रपात हो गया था जिसके कर्णधार महात्मा ज्योतिराव फूले थे। इन्हीं के पद्चिह्नों पर चलकर राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज ने सामाजिक व बराबरी, उत्पीड़न, अत्याचार और शोषण व दमन के ख़िलाफ़ जो अभियान छेड़ा वह क़ाबिले तारीफ़ रहा। अपने प्राणों की परवाह किए बिना सामाजिक विषमता के विरुद्ध राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज संघर्षरत रहे जो वास्तव में अभूतपूर्व कहा जाएगा। सामाजिक विषमता, ऊँच-नीच तथा जाति-प्रथाजन्य अपनी वेदना और संवेदना को अपने मानस में संपुटित किए हुए शाहू जी ने वर्ण-व्यवस्था के कुकर्म को खंड-खंड करने का प्रयास किया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सामाजिक गुलामी कहीं ज़्यादा पीड़ादायी, हृदय विदारक और घातक होती है राजनैतिक गुलामी से। आख़िर तभी तो आज़ादी के 65 वर्ष बीत जाने के बाद भी सामाजिक विषमता के विषधर का दंश उतना ही तीव्र एवं मारक है जितना आज़ादी से पूर्व था।

राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज छत्रपति शिवाजी महाराज के दूरवर्ती वंशज थे। उन्हें कोल्हापुर रियासत का उत्तराधिकारी स्वीकार किया गया। दुर्भाग्यवश उनके बचपन में ही उनकी माता तथा जब वे 12 वर्ष के थे तब उनके पिता आबा साहब घटगे का 30 वर्ष की आयु में देहावसान हो गया फिर भी उनकी शिक्षा-दीक्षा सुयोग्य अँग्रेज़ों द्वारा दिलाई गई और अच्छी शिक्षा के उद्देश्य से उन्हें इंग्लैंड भेजने की जब योजना बनी, तो कतिपय कारणों से इस योजना को बीच में ही छोड़ना पड़ा। सन् 1891 ई० में महाराष्ट्र के एक अन्य राजकुल में उनका विवाह गुणाजी राव की पुत्री लक्ष्मी बाई से हो गया। इनके बचपन का नाम यशवंतराव था। विमाता राधाबाई ने बालक यशवंतराव का लालन-पालन अत्यंत वात्सल्य भाव से किया था।

राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज के बारे में सुप्रसिद्ध लेखक डॉ० बजरंग वर्मा ने अपनी पुस्तक 'सामाजिक क्रांति के सूत्रधार-राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज में विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा है कि "शोषितों, पीड़ितों के सर्वांगीण

समुन्नयन हेतु उन्होंने आजीवन अहर्निश अनेक संघर्ष झेले, उत्पीड़न और अपमान सहे, मानसिक यंत्रणाएँ भोगीं और एकांतिक घुटन महसूस किया, किंतु अपने निर्धारित कर्त्तव्य-पथ से कभी तिलभर भी विचलित नहीं हुए।"

राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज ने राजसत्ता के बल पर सामाजिक विषमता को समाप्त करने के लिए कई योजनाएँ बनाई और उन्हें साकार करने के लिए वे स्वयं तत्पर रहे। उन्होंने अपने राज्य में नौकरी के संबंध में सर्वेक्षण कराया जब उन्हें यह पता लगा कि 85 प्रतिशत उच्च वर्गीय लोग नौकरी में हैं और बहुसंख्यक समाज के पिछड़े लोगों का अनुपात नहीं के बराबर है तब इस अन्याय और नाइंसाफी की वजह से शाहूजी महाराज भारतीय इतिहास में वह पहले पिछड़े वर्ग के लिए एक आदेश निकालकर अपने रियासत में उनके लिए 50 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था की तथा सामाजिक न्याय के आंदोलन का सूत्रपात किया। उन्होंने समाज विरोधी शक्तियों द्वारा प्राणघातक हमलों के बावजूद जीवन पर्यंत अपने संकल्प को जीवित रखा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 20 वीं शताब्दी के प्रारंभ में ही सरकारी नौकरियों में पिछड़े वर्गो के लिए आरक्षण देकर राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज ने बड़ा क्रांतिकारी कदम उठाया और उनके विचार और कार्य उस समय को देखते हुए वे महाक्रांतिकारी विचारक थे। उनके विचारों में सांप्रदायिक सहिष्णुता, दलित और निर्बल वर्गो की एकता के भाव कूट-कूटकर भरे हुए थे।

सन् 1920 ई० में आमजनों की एक परिषद् अखिल भारतीय बहिष्कृत हितकारिणी सभा के नागपुर में आयोजित एक सम्मेलन की अध्यक्षता करने का दायित्व छत्रपति शाहूजी महाराज ने स्वीकार किया था जिससे भोंसले को यह डर हो गया था कि इस परिसर में शाहूजी महाराज आएंगे तब अस्पृश्यों के साथ भी इस पंगत में बैठने को विवश होना पड़ेगा। इसलिए कहीं दूसरी जगह चले गए। इसके बाद इस सिलसिले में कानपुर पधारे। परिषद् द्वारा कोल्हापुर के मानगाँव में आयोजित पद्धति तथा विभेदकारी जाति प्रणाली थी। बाद में डॉ० भीमराव अम्बेदकर के साथ एक पंगत में बैठकर राजर्षि छत्रपति साहू जी महाराज ने छूआछूत को दूर करने का प्रयास किया था। सन् 1920 ई० में ही डॉ० भीमराव शिक्षा के लिए जब उन्हें लंदन जाना था, तो महाराज ने उन्हें पर्याप्त आर्थिक सहायता की, क्योंकि अपने मन में शाहू जी को ऐश्वर्य की कोई कामना नहीं थी। यह चाहते थे कि अधिक जनसेवा योग्य बन सके। फिर अम्बेदकर के लंदन से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद साहित्य प्रकाशन के लिए उन्हें वांछित धनराशि प्रदान की।

बाबा आम्टे :

जो कुष्ठ रोगियों के लिए वरदान थे

समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों की मनोवृत्ति एक-सा नहीं होती। कुछ लोग तो काल के प्रवाह में बहते हुए शिष्ट और अशिष्ट, सदाचार और अनाचार, नीति और अनीति तथा नैतिकता और अनैतिकता की तरफ आँखों उठाकर भी नहीं देखते। वे सामाजिक गतिविधियों से अपने को अलग बनाए रखते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनकी मानसिकता उनके स्वयं के व्यक्तित्व तक सीमित रह जाती है। मगर कुछ व्यक्ति काल के प्रवाह में न बहते हुए अपने अथक परिश्रम से सर्वकल्याण की ऐसी ज्योति प्रकाशित करते हैं, जिससे समाज को नई राह दिखाई पड़ती है। ऐसे व्यक्तियों का चेतन-मन पीड़ित मानवता के कल्याण, सुधार और परिष्कार की ओर दौड़ता है। अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त समाज सेवी और गाँधीवादी विचारधारा के प्रबल संपोषक मुरलीधर देवीदास उर्फ बाबा आम्टे एक ऐसे ही संत थे जिन्होंने अपना पूरा जीवन कुष्ठ रोगियों की सच्चे दिल से सेवा करने में लगा दिया। समाज में जब कुष्ठ रोगियों को अछूत कहकर अलग कर दिया जाता था, ऐसी स्थिति में बाबा आम्टे ने महाराष्ट्र के चंद्रपुर जिलांतर्गत वरोरा में कुष्ठ रोगियों के लिए 'आनंदवन आश्रम' स्थापित किया जिसके द्वारा उन्होंने कुष्ठरोगियों के उपचारऔर पुनर्वास के लिए अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया। कहा जाता है कि बाबा आम्टे के माता-पिता बचपन में उन्हें प्यार से 'बाबा' कहकर पुकारा करते थे, वह उनकी अपेक्षाओं और आकांक्षाओं पर तो खरे उतरे ही मानवता और दीन-दुखियों की ऐसी सेवा की कि पूरी दुनिया उन्हें 'बाबा' के नाम से ही पुकारने लगी। आमतौर पर उन्हें जानने वाले अधिकतर लोग ये ही समझते हैं कि मानवता के प्रति सेवा भाव और साधु-संतों जैसे सरल एवं स्नेही स्वभाव की वजह से ही उन्हें 'बाबा' कहा जाता है, किंतु सच्चाई यह है कि उनके माता-पिता ने उन्हें बचपन में ही प्यार का यह संबोधन दिया था।

महाराष्ट्र के वर्धा के हिंगाईघाट में 24 दिसंबर 1914 को जन्मे मुरलीधर देवीदास आम्टे ने मानव सेवा की ऐसी मिसाल कायम की कि उनकी प्रत्येक उपलब्धि मील का पत्थर साबित हुई और दुनिया भर मं एक सच्चे मानवतावादी के तौर पर उन्हें स्वीकार किया गया। बाबा आम्टे का जन्म एक जागीरदार परिवार में हुआ था और उस समय के रूढ़िवादी समाज और

उनके परिवार के ऊँचे रसूख के बावजूद उन्होंने कुष्ठ रोगियों और तथाकथित निम्न वर्ग के लोगों के उत्थान के लिए जिस शिद्दत के साथ उन्होंने काम किया उससे लोगों ने उन्हें 'अभय साधक' कहकर भी संबोधित किया था।

बाबा आम्टे ने कानून की पढ़ाई कर प्रारंभ में वकील के रूप में वर्धा में अपना कामकाज शुरू किया, लेकिन चंद्रपुर जिले के लोगों की गरीबी और तकलीफों ने उनके मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला और इसका नतीजा यह हुआ कि उन्होंने वकालत का पेशा छोड़कर झाड़ू लगाने वालों और शोषित-पीड़ित तथा अन्य गरीब लोगों के साथ रात में इस प्रकार का काम करना प्रारंभ किया कि लोग अचंभित रह गए।

मुरलीधर देवीदास आम्टे की शादी सन् 1946 में साधना गुलेशास्त्री के साथ हुई। इन दोनों के विवाह के पीछे भी एक वाक्या है और वह यह कि साधना ने एक पुराने नौकर की खातिर एक विवाह समारोह का वहिष्कार किया था। इससे मुरलीधर देवीदास आम्टे काफी प्रभावित हुए और साधना के माता-पिता से उनका हाथ माँगने उनके घर पहुँच गए। फिर क्या था वर ही यदि किसी कन्या का हाथ थामने को तैयार हो जाए, तो उसके माता-पिता को जैसे अँधे को दो आँखें मिल गईं। आम्टे और साधना की शादी हो गई और फिर दोनों मानवता की सेवा में लग गए।

बाबा आम्टे ने देश को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए दो बार 'भारत छोड़ो' अभियान आयोजित किए। पहली बार वर्ष 1985 में कश्मीर से कन्या कुमारी तक और दूसरी बार असम से गुजरात तक। 'आनंदवन आश्रम' बाबा आम्टे के ख्वाबों की ताबीर है। यह आश्रम उनकी कर्मभूमि बना, जहाँ उन्होंने मानव कल्याण के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य पूरे किए। उन्होंने उस समय समाज में व्याप्त कई भ्रांतियों को न केवल तोड़ा, बल्कि समाज को अपने कार्यों से एक नई दिशा भी प्रदान की। दरअसल, आनंदवन एक ऐसा आश्रम है, जहाँ रहने वाले सभी लोग एक साधक की तरह लोक कल्याण की गतिविधियों के लिए समर्पित हैं। यहाँ हथकरघा, खादी वस्त्र तैयार करने तथा फल एवं सब्जियाँ उगाने से लेकर लोगों के उत्थान से जुड़े कार्य भी किए जाते हैं। दलाई लामा, लता मंगेशकर, अर्थर टार्नोवोर की जैसी महान हस्तियाँ बाबा आम्टे के इस आश्रम में मानवता के कार्यो की गवाह रही हैं। बाबा आम्टे ने लोक कल्याण को समर्पित 'उत्तरायण', 'स्नेह सावली', 'बुजुर्गों के लिए 'लोटी रमणगृह', कुष्ठ रोगियों के लिए सुख सदन' जैसी संस्थाओं की स्थापना की। बाबा आम्टे के इन्हीं कार्यों को देखते हुए दुनिया ने उन्हें सिर आँखों पर

बिठाया। मैं इस माने में अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि रेलवे हिंदी सलाहकार समिति के एक सदस्य की हैसियत से जब भी मैंने दक्षिण भारत के चारों राज्यों की यात्रा की, महाराष्ट्र स्थित चंद्रपुर से गुजरते हुए इस 'आनंदवन आश्रम' के कार्यकलापों को देखने-समझने का मुझे भी अवसर मिला। आश्रम के मानवतावादी कार्यों को देखकर कोई भी सद्चित्वाला व्यक्ति भाव-विभोर हो सकता है और उसकी मुक्त कंठ से सराहना किए बिना नहीं रह सकता।

बाबा आम्टे के इन्हीं मानवतावादी और कल्याणकारी कार्यों में सराहनीय योगदान के लिए उन्हें वर्ष 1971 में 'पद्मश्री', 1984 में 'रेमनमैगसेसे, 1986 में 'पद्मविभूषण' 1999 में 'डॉ० अम्बेडकर अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार' तथा 2000 में 'गाँधी शांति पुरस्कार' के अतिरिक्त' संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार पुरस्कार टेम्पेल्टन पुरस्कार' आदि प्रदान किए गए।

जाने-माने समाज सेवी बाबा आम्टे का पिछले 9 फरवरी 2008 को महाराष्ट्र के चंद्रपुर जिलांतर्गत वरोरा के आनंदवन आश्रम में निधन हो गया। वे 94 वर्ष के थे। रक्त कैंसर से वे पीड़ित थे। उनके परिवार में उनकी पत्नी साधनाताई, पुत्र विकास और प्रकाश तथा उनकी पत्नियाँ और बच्चों के अतिरिक्त लाखों शुभेच्छुओं को छोड़ वे इस संसार से विदा हो गए। देश के सर्वाधिक सम्मानित सामाजिक नेताओं में से एक बाबा आम्टे के पार्थिव शरीर को 21 तोपों की सलामी के बीच आश्रम परिसर में बासों के एक बगीचे के समीप समाधिस्थ किया गया। समाज में भेदभाव मिटाने और एकता बनाए रखने के लिए जीवन भर संघर्ष करते रहे बाबा आम्टे ने अनेक सामाजिक आंदोलनों को भी अपना समर्थन दिया। इनमें मेघा पाटेकर के नेतृत्व में चलाया जाने वाला नर्मदा आंदोलन भी शामिल है। पीठ में समस्या होने के बावजूद उनका सार्वजनिक जीवन बेहद सक्रिय था। इस समस्या की वजह से वह बैठ नहीं पाते थे। तकरीबन दो दशक से उन्हें सार्वजनिक कार्यों सहित विभिन्न अवसरों पर या तो खड़े होकर अथवा खाट पर लेटे देखा जा रहा था। भारत की राष्ट्रपति प्रतिभा देवी सिंह पाटिल ने बाबा आम्टे को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए अपने संदेश में कहा था कि बाबा आम्टे ने अपना सारा जीवन वंचितों और समाज के पिछड़े वर्गों की सेवा में लगा दिया। उपराष्ट्रपति डॉ० हामिद अंसारी ने भी उन्हें देश का मसीहा बताते हुए उनके निधन को देश के लिए अपूरणीय क्षति कहा था। जीवन पर्यंत गाँधी दर्शन में अपनी अटूट आस्था रखने वाले बाबा आम्टे के देहावसान पर राष्ट्रीय विचार मंच तथा

उसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' से जुड़े सदस्यों ने भी अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी। वालीवुड के जाने माने अभिनेता नाना पाटेकर ने बाबा आम्टे के निधन के बाद अपने को अनाथ बताते हुए कहा था कि 'मैंने अपने पिता को खो दिया है, उन्होंने मुझे जीना सिखाया था' दरअसल' श्री पाटेकर बाबा के आनंदवन आश्रम और उसके अन्य सामाजिक कार्यों से पिछले 35 वर्षों से जुड़े रहे और उनके जीवन पर उनके कार्यों का काफी प्रभाव रहा।

बाबा आम्टे की विरासत सदैव जीवित रहेगी इसलिए कि लोग सब कुछ भूल सकते हैं, पर उनके द्वारा निर्वस्त्र जनता और जन-सामान्य के विविध दु:खों खासकर कुष्ठ रोगियों को की कई सेवा नहीं भूल सकते अर्थात यथार्थ को कोई कैसे भूल सकता है? इस संदर्भ में मुझे याद आ रही है आचार्य रामचंद्र शुक्ल की ये पंक्तियाँ जिसे उन्होंने डॉ० रघुवीर सिंह की विशिष्ट गद्य-कृति 'शेष स्मृतियाँ' की प्रवेशिका में एक मार्मिक सत्य का उद्घाटन करते हुए लिखा है-

'हृदय के लिए अतीत मुक्ति लोक है, जहाँ वह अनेक बँधनों से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप में विचरता है वर्तमान हमें अँधा बनाए रहता हैं मैं समझता हूँ कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखाने वाला दर्पण मनुष्य के पीछे रहता है, आगे तो बराबर सिसकता हुआ परदा रहता है। लगता है बाबा आम्टे ने आचार्य शुक्ल के इस मंतव्य को ही अपने संपूर्ण जीवन में आत्मसात् कर लिया था। इसलिए वे आगे खिसकते हुए और परदे के भ्रमों से सचेत रहते हुए निरंतर दीन-दुखियों की सेवा में कार्यरत रहे। मैं ऐसे संत को तहेदिल से प्रणाम करता हूँ और उनके रास्ते पर चलने का संकल्प लेता हूँ।

गाँवों की आत्म निर्भरता में कमी और ग्रामीण उद्योगों को नष्ट होते देख मशाल की देवी फ्लोरेंस नाइटिंगेल को कहना पड़ा था- 'बुनकरों की हड्डियों से उत्तरी भारत की धरती सफेद बन गई है। इसी प्रकार अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्ड स्मिथ ने अपनी मशहूर कविता 'उजड़े गाँव (Deserted Village) लिखी थी, तब उसने औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप उजड़ जाने वाले गाँवों को देखा था। ठीक इसी तरह बाबा आम्टे ने भी सन् 1970 के दशक में अपने गाँव वरोरा से 300 मील दूर भामरा गांडे में माडिया गांड समुदाय के विस्थापना के खिलाफ न सिर्फ आवाज उठाई, बल्कि 1983 में इंदिरा गाँधी को पत्र भी लिखा था और यही नहीं उन्होंने कोका कोला कंपनी का विरोध करते हुए राजस्थान में जमे रहे, जबकि इनके समर्थकों ने काला डेरा तक यात्रा की। बाबा आम्टे ने नर्मदा बचाओ आंदोलन में भी भाग लेकर नदी के पास से

उठने के लिए तैयार नहीं थे, पर पुलिस उन्हें जबरन उठा ले गई।

बाबा आम्टे महात्मा गाँधी तथा विनोवा भावे के संपर्क में भी आए थे तथा सन 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। इस प्रकार वे स्वतंत्रता सेनानी भी थे। वरोरा में इनके द्वारा स्थापित 'आनंदवन आश्रम' के पीछे भी एक छोटी घटना यह है कि एक दिन जब बाबा आम्टे ने एक कुष्ठ रोगी को बरसात में भींगते हुए देखा, तब उनका मन करुणा से द्रवित हो उठा। बस क्या था यहीं से उनके जीवन की दशा बदल गई और अपनी पत्नी साधना ताई तथा पुत्रों के साथ सन् 1949 में मात्र 14 रुपए से आनंदवन आश्रम की स्थापना की, जिसकी शुरुआत बंजरभूमि पर 6 कुष्ठ रोगियों के साथ हुई थी, जहाँ आज तीन हजार से भी अधिक रोगी रहते हैं। बाबा आम्टे ने इसी तर्ज पर सोमनाथ में भी आश्रमों की स्थापना की जहाँ हजारों कुष्ट रोगियों की सेवा की जाती है। इस प्रकार उन्होंने 11 कुष्ट सेवा केंद्र स्थापित कर रोगियों के उपचार की व्यवस्था की।

बाबा आम्टे किसी से डरते नहीं थे, जिसकी वजह से गाँधी जी ने उन्हें अभय साधक की उपाधि दी थी। सन् 1949 में बाबा आम्टे ने कोलकाता के ट्रॉपिकल स्कूल ऑफ में डिसन से कुष्ट रोगों के बारे में तथा सेवा के संदर्भ में ज्ञान एवं जानकारियाँ हासिल की, ताकि बेहतर ढंग से उपचार संभव हो। वहाँ से पूरी जानकारी लेकर लौटने के बाद उन्होंने तन-मन-धन से कुष्ट रोगियों की सेवा तथा उनके पुनर्वास में लग गए। इनकी सबसे बड़ी देन दीन-दुखियों की सेवा थी। इनके दोनों बेटे तथा पुत्र-वधु, जो डॉक्टर हैं, कुष्ट सेवा से जुड़े हैं। समाज व दीन-दुखियों की सेवा के संदर्भ में भारत की युवा पीढ़ी के लिए इससे बड़ा प्रेरक-प्रसंग भला और क्या हो सकता है।

बाबा आम्टे एक साहित्यकार और कवि भी थे। इनकी साहित्यिक रचनाओं में 'जवाला आणि फुले', तथा 'उज्ज्वल उद्या साठी' काव्य-संग्रह प्रमुख हैं। सन् 1980 में इन्हें नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा डी०लिट, 1981 में पी.के.वी.कृषि विश्वविद्यालय, अकोला द्वारा 'कृषि रत्न' तथा 1988 में शांति निकेतन द्वारा देशी कोत्तम डाक्टरेट की उपाधि और 2006 में डॉक्टर ऑफ लिट्रेचर की मानद उपाधि से नवाजा गया। बाबा आम्टे आज हमारे बीच नहीं हैं, पर दुनिया में सर्वथा उपेक्षित कुष्टों एवं उद्योगीकरण द्वारा विस्थापितों के संघर्ष एवं पुनर्वास के लिए वे सदैव याद किए जाएँगे।

फील्ड मार्शल मानेक शॉ :

जिसने पाक सेना को घुटने के बल ला दिया

भारतीय सेना के जाँबाज जवानों की कमान संभाले फील्ड मार्शल सैम हर मूसजी फ्रेमजी जमशेदजी मानेक शॉ निर्भीकता व प्रेरणा की ऐसी प्रतिमूर्ति थे, जिन्होंने सन् 1971 में पाकिस्तान से हुए युद्ध में रण कौशल का बेहतरीन और अचूक प्रदर्शन करते हुए पाक सैनिकों को नाकों चना चबवा दिए और उन्हें घुटने के बल झुकने को मजबूर कर दिया। मानेक शॉ की इस रणनीतिक कुशलता और गज़ब की दिलेरी दिखाने पर उन्हें फील्ड मार्शल की उच्चत्तम उपाधि से अलंकृत किया गया था। यह उपाधि प्राप्त करने वाले दो भारतीयों में मानेक शॉ पहले थे। दूसरे थे फील्ड मार्शल के.एम.करियप्पा। बुलंद हौसले और हिम्मतवाले मानेक शॉ पारसी माता-पिता की संतान 3 अप्रैल, 1914 को पंजाब के अमृतसर में जन्मे थे और उन्होंने अपने जीवन के 40 वर्ष सेना में बिताए। इस दौरान उन्होंने दूसरे विश्व युद्ध के अतिरिक्त चीन और पाकिस्तान के साथ हुए युद्धों में भी भाग लिया था। आरंभिक शिक्षा-दीक्षा अमृतसर में प्राप्त करने वाले मानेक शॉ उत्तराखण्ड के नैनिताल स्थित शेरवुड कॉलेज में भी अध्ययन किए। जवानों के बीच 'सैम बहादुर' के नाम से लोकप्रिय मानेक शॉ ने अपने सैन्य जीवन की शुरुआत उत्तराखण्ड की राजधानी देहरादून से की थी। वह यहाँ स्थित भारतीय सैन्य अकादमी में एक अक्टूबर, 1932 को दाखिल होने के बाद दिसंबर 1934 में पास आउट होने वाले पहले बैच 'द पायनियर' के सदस्य थे। उन्होंने सर्वप्रथम इन्होंने सेना में कार्यभार ग्रहण किया फिर सेना के कई महत्त्वपूर्ण पदों पर उन्होंने कार्य किया।

फील्ड मार्शल मानेक शॉ तत्कालीन ब्रिटिश सरकार की रॉयल स्कॉट सेना से सैनिक जीवन की शुरुआत करने के बाद उनकी हिम्मत और उत्साह तथा ऊँचे हौसले को देखते हुए उन्हें उस समय की सेना की तेज तर्रार फ्रंटियर फोर्स रेजीमेंट में भेज दिया गया। दूसरे विश्व युद्ध में इसी फ्रंटियर फोर्स रेजिमेंट की 4/12 टुकड़ी का उन्हें कैप्टन बना कर पड़ोसी देश वर्मा की सितांग नदी के रणक्षेत्र में उतारा गया। नौजवान मानेक शॉ को जापान की सेना से दो-दो हाथ करने का मौका मिला। जांबाजी दिखाने को मिले इस अवसर पर मानेक शॉ ने जापानी सेना के छक्के छुड़ा दिए। मानेक शॉ ने ऐसा घनघोर साहस और वीरता का परिचय दिया कि ब्रिटिश सेना ने उन्हें युद्ध क्षेत्र

में ही पुरस्कृत किया जैसा कम ही होता है।

बहादुरी और कर्त्तव्यपरायणता की मिसाल मानेक शॉ तब माने जाने लगे जब जापानी सेना के साथ युद्ध करते हुए उनको एलएमजी की गोलियाँ पेट में आकर लगीं और वह बहुत बुरी तरह घायल हो गए। तत्कालीन मेजर जेनरल डी.टी.कॉवन मानेक शॉ की शेरदिली और बहादुरी से प्रभावित होकर उन्होंने युद्धक्षेत्र में ही मानेक शॉ की वर्दी में अपना मिलिट्री क्रॉस जड़ दिया। बर्मा में मौत को बेहद करीबी से मात देने के बाद मानेक शॉ को क्वेटा के स्टॉफ कॉलेज में भेजा गया।

आजादी के बाद इस देश के सबसे अधिक सम्मानित सैनिक और हमारी महानत्तम उपलब्धि सन् 1971 विजय के नायक मानेक शॉ अगर इजरायल में होते, तो शायद राष्ट्रपति होते, मगर हमारे देश में ऐसा नहीं होता। हमारे यहाँ ऊँची कुर्सियों पर बैठे लोग ऐसे व्यक्तित्वों के सम्मुख अपने को असुरक्षित महसूस करते हैं। ऐसे लोगों को डॉ.एपीजे अब्दुल कुलाम को राष्ट्रपति बना देने के बाद अफसोस होने लगता है। आखिर तभी तो उन्हें दूसरी बार मौका नहीं दिया गया। अगर सैम बहादुर मानेक शॉ अमेरिका में रहे होते, तो उनका जनरल मैकार्था या आइजन हावर जैसा सम्मान होता, लेकिन हमारे यहाँ तो वही कहावत 'रे गंधी मति अँघ तू अतर दिखावत काहि' वाली कहावत चरितार्थ होती है। दुनिया के किसी भी देश में सैन्य रणनीति के हमारे यहाँ जैसे नाजानकार राजनीतिज्ञ शायद ही कहीं मिले। हमारा नेतृत्व हममें वह धैर्य, वह क्षमता नहीं विकसित कर सका है जो मुश्किलों को सामने देखकर जूझने का ज़ज़्बा पैदा कर देती है। आखिर वह कौन सी कायरता हमारे खून में है, जो हमें कभी हाजीपीर वापस करने को विवश कर देती है, कभी अमेरिकी धमकियों से डर कर 1971 में एकतरफा युद्ध विराम घोषित कराती है। वे कौन सी मजबूरियाँ हैं, जो कारगिल युद्ध में हमारी सेनाओं को एक हाथ बाँधकर लड़ने को मजबूर करती है कि हम एल ओ सी पार नहीं करेंगे।

दरअसल, हमारा नेतृत्व, जो गूजरों के पटरियों पर बैठने से, सिलीगुड़ी में गोरखाओं के बंद से, पंजाब में तलवारों के जुलूस से डर जाता है उसमें अंतरराष्ट्रीय दबावों, अमेरिकी धमकियों, आंतकी धमाकों का सामना करने की क्षमता कहाँ से आएगी? सत्ता की बाजीगरी के लिए मदारियों के समान खेल दिखाते और सैनिकों से सशंकित ये लोग सैम बहादुर मानेक शॉ, जनरल दयाल अथवा डॉ.ए.पी.जे अब्दुल कलाम जैसे व्यक्तित्वों को प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति के पदों पर बरदाश्त नहीं कर पाएँगे। फिर फील्ड मार्शल मानेक

शॉ जैसे निर्भीक, साहसी और हिम्मत वाले आत्मसम्मानी सैनिक को उनके सेवानिवृत्त होने के बाद उन्हें सम्मानजनक पद पर बैठाने को ये लोग भला कैसे सोंच सकते हैं? सच तो यह है कि हमारे नेताओं ने सेनाओं को आजादी के बाद बोझ समझा और सैन्य कमांडरों को ब्रिटिश परंपरा की छुटी हुई निशानी माना।

फील्ड मार्शल मानेक शॉ की निर्भीकता और उनके आत्म सम्मान से संबंधित एक-दो संस्मरण प्रस्तुत करना मैं लाजिमी समझता हूँ। 29 अप्रैल 1971 की दोपहर प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी द्वारा बुलाई मंत्रिपरिषद की बैठक रक्षामंत्री जगजीवन राम, कृषि मंत्री फखरुद्दीन अली अहमद, वित्त मंत्री वाई वी चव्हाण, विदेश मंत्री स्वर्ण सिंह और विशेष आमंत्रित थल सेनाध्यक्ष जनरल सैम बहादुर मानेक शॉ मौजूद थे। बैठक शुरू होने के बाद अपने गरम मिजाज के लिए प्रसिद्ध इंदिरा गाँधी ने मानेक शॉ की तरफ देखते हुए पूछा- आप क्या कर रहे हैं? साथ ही पूर्वी पाकिस्तान से आ रही शरणार्थियों की बाढ़ के बाबत पश्चिम बंगाल के मुख्य मंत्री सिद्धार्थ शंकर रे का टेलीग्राम लगभग उन्होंने पटक दिया। आक्रोशित प्रधानमंत्री ने कहा, मैं चाहती हूँ कि फौज पूर्वी पाकिस्तान में प्रवेश कर जाए। मानेक शॉ ने कहा, 'इसका मतलब जंग है। 'इंदिरा गाँधी ने कहा, 'अगर यह जंग भी है, तो मुझे इससे फर्क नहीं पड़ता।'

ऐसी स्थिति में कोई और होता तो शायद' यस मैडम, कह देता। लेकिन मानेक शॉ तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने कहा, क्या आपने बाइबिल पढ़ी है? विदेश मंत्री स्वर्ण सिंह बीच में ही बोल पड़े, 'इस सबका बाइबल से क्या लेना-देना? 'तब मानेक शॉ ने कहा कि बाइबल में लिखा है, 'सृष्टि की रचना से पहले सब तरफ अँधकार था। परमात्मा ने कहा यहाँ रोशनी हो और फिर रोशनी हो गई। इसके बाद उसने रोशनी और अँधकार को अलग-अलग कर दिया। मतलब साफ था कि जंग के लिए रणनीति चाहिए, जल्दबाजी नहीं। अगर बांग्ला देश को जन्म देना है, तो पहले पूर्वी पाकिस्तान में 'मुक्तिवाहिनी' पैदा करनी होगी।

इसके साथ ही मानेक शॉ ने कहा, 'मेरे पास अभी केवल 30 टैंक और आर्मर्ड डिवीजन हैं। गर्मियाँ शुरू हो रही हैं और हिमालय में बर्फ पिघलने के साथ ही रास्ते खुलने लगेंगे। क्या होगा अगर 1962 में हमला करने वाले चीन ने फिर जंग का अल्टीमेटम दे दिया तो? पूर्वी पाकिस्तान में बारिश शुरू होने वाली है। ऐसे मौसम में वहाँ नदियाँ समंदर जितनी विशाल हो जाती हैं, वायु-सेना मदद कर नहीं पाएँगी। मैं गारंटी के साथ पराजय देख सकता हूँ। 'प्रधान मंत्री ने बैठक स्थगित कर दी और जुनियर होने के नाते

मानेक शॉ वहाँ से जाने वाले आखिरी व्यक्ति थे। लेकिन प्रधानमंत्री के स्वभाव से वाकिफ मानेक शॉ ने निकलने से पहले कहा, 'क्या मैं अपना इस्तीफा स्वास्थ्य, मानसिक या शारीरिक कारणों के आधार पर भेज दूँ, लेकिन आशा के विपरीत इंदिरा गाँधी ने उनकी बात मान ली और जंग की रणनीति गढ़ने का वक्त दे दिया। 'देखो और इंतजार करो,' की इस नीति से पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल याहिया खाँ के सब्र का बाँध टूट गया और उन्होंने भारत पर हमले की घोषणा कर दी। मगर तब तक यहाँ तैयारी हो चुकी थी। मुक्तिवाहिनी का गठन हो चुका था। पूर्वी सैन्य कमान ने सीधी टक्कर की बजाय गैर परंपरागत ढंग से आगे बढ़ते हुए पाकिस्तानी फौज को ढाका में घेर लिया। रसद का रास्ता कट चुका था। 90 हजार से अधिक पाकिस्तानी फौज ने घुटने टेक दिए और 13 दिन के अंदर बांग्लादेश का जन्म हो गया। पश्चिमी मोर्चे पर भी भारतीय फौज लाहौर तक पहुँच चुकी थी। गद्गद् प्रधानमंत्री ने उन्हें पाकिस्तानी सेना के आत्मसमर्पण का साक्षी बनने के लिए भेजना चाहा, तो उन्होंने यह कहकर ठुकरा दिया कि यह सम्मान तो पूर्वी सैन्य कमांडर लेफ्टिनेंट जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा को मिलना चाहिए। वह खुद उसी स्थिति में जा सकते हैं जब पूर्वी पाकिस्तानी सेना समर्पण कर रही हो। यह थी मानेक शॉ की निर्भीकता और हिम्मत।

इसी प्रकार की एक और घटना को प्रस्तुत करना चाहूँगा जो मानेक शॉ के पौरुष और पराक्रम की कहानी कहती है। तत्कालीन प्रधान मंत्री इंदिरा गाँधी और सेनाध्यक्ष मानेक शॉ के बीच 1971 की पाकिस्तान के साथ होने वाली लड़ाई से ठीक पहले का वार्तालाप है। प्रधानमंत्री ने कुछ नहीं कहा। उनका चेहरा लाल था, उन्होंने कहा कि कैबिनेट चार बजे मिलेंगे। सभी चले गए, लेकिन सबसे जुनियर होने की वजह से मानेक शॉ को सबसे बाद में जाना था। मानेक शॉ इंदिरा गाँधी की तरफ देखकर मुस्कराए। प्रमुख बैठ जाओ। तुमने जो कुछ कहा, क्या वह सब सत्य है? हाँ, देखिए, युद्ध करना मेरी नौकरी में शामिल है। मेरी नौकरी है जीतने के लिए लड़ना। आप जिसे चाहें सबके अंडर में काम कर सकता हूँ, लेकिन कोई मुझसे यह नहीं पूछेगा कि क्या करना है। मुझे शरणार्थी मंत्री, गृह मंत्री कुछ नहीं चाहिए। इसपर प्रधानमंत्री ने कहा कि ठीक है कोई भी हस्तक्षेप नहीं करेगा। तुम केवल एक संचालक होगे। मानेक शॉ ने श्रीमती गाँधी से बातचीत में स्पष्ट तौर पर कहा कि उन्हें कोई मंत्री आदि नहीं चाहिए, केवल एक राजनीतिक गुरु के अलावा उनसे कोई नहीं पूछेगा कि अब क्या करना है। इस पर श्रीमती गाँधी ने सैम

को आश्वासन दिया और फिर जो हुआ वह देश के सैन्य इतिहास का स्वर्णिम हिस्सा बन गया है।

फील्ड मार्शल के ऐसे कई अनछुए पहलुओं पर प्रकाश डालने वाली छप रही नई किताब ''फील्ड मार्शल सैम मानेक शॉ'' में कई कहानियाँ दर्ज हैं जिसकी रचना मानेक शॉ के कई सालों तक उनके सहयोगी रहे मेजर जनरल शुभि सूद ने की है।

प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी के साथ हुई मानेक शॉ की एक और बातचीत को यहाँ प्रस्तुत करने के लोभ का संवरण मैं नहीं कर पा रहा हूँ। दिसंबर 1971 में बांग्लादेश अभियान शुरू होने से पहले इंदिरा गाँधी ने उस समय सेनाध्यक्ष की जिम्मेदारी संभाल रहे मानेक शॉ से पूछा, 'जनरल क्या आप तैयार हैं युद्ध के लिए? उन्होंने तपाक से जबाब दिया।' मैं हमेशा तैयार हूँ स्वीटी। उनके इस जवाब पर इंदिरा जी न तो नाखुश हुईं और न ही अपमानित महसूस किया। एक अन्य मौके पर इंदिरा ने उनसे पूछा था क्या वह देश की कमान हाथ में लेने की योजना बना रहे हैं? तब अपनी लंबी नाक की ओर इशारा करते हुए जनरल ने कहा, मैं इसका मामलों में हस्तक्षेप करने में नहीं करता।'

भारत की विजय के रूप में बांग्लादेश के रूप में दुनिया के नक्शे पर एक नए देश के उदय कराने वाले महानायक मानेक शॉ ने पिछले 27 जून 2008 को तमिलनाडु के वेलिंग्टन के सेना अस्पताल में आखिरी सांस ली। बे ब्रोको निमोनिया और इससे जुड़ी जटिलताओं से पिछले चार दिनों से बुरी तरह पीड़ित थे। 94 साल के इस सेनानी को बांग्लादेश की उपलब्धि के लिए सन् 1972 में पद्मविभूषण से सम्मानित किया गया था। छह साल पूर्व उनकी पत्नी का भी देहावसान हो चुका था।

अप्रतिम सेनानायक फील्ड मार्शल एस एच एफ जमशेदजी मानेक शॉ आज हमारे बीच नहीं हैं, पर यह देशभक्त और महान सैनिक योद्धा सैनिकों के लिए प्रेरणास्रोत और अनुकरणीय उदाहरण बने रहेंगे। कमांडर के नाते और अपनी सैन्य प्रतिभा से जवानों व अधिकारियों में स्नेह, निष्ठा और आदर का भाव जाग्रत करने वाले फील्ड मार्शल मानक शॉ को अपना सम्मान-भाव निवेदित करता हूँ किसी शायर की इन पंक्तियों से-

गौहर को करती है अश्क बारी पैदा
तमकिन को मौजे बेकरारी पैदा
सौ बार जब चमन में तड़पती है न सीम
होती है कली पर एक धारी पैदा।

सीताशरण शर्मा :

जिन्होंने जीवन को तराशा नहीं, बल्कि उसकी अनगढ़ता में जीवन देखा

किसी व्यक्तित्व की पहचान उसके आचरण और चिंतन से होती है। दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा से जुड़े सीताशरण शर्मा के आचरण और चिंतन का कायल उनका हर शुभेच्छु व सहकर्मी है। शर्मा जी ने जीवन को तराशा नहीं, बल्कि उसकी अनगढ़ता में जीवन देखा, सुंदरता देखी। समय-समय पर चेन्नई तथा बैंगलरू में आयोजित संगोष्ठियों में व्यक्त उनके विचार तथा विभिन्न विषयों पर उनके उद्‌गार याद दिलाते हैं कि जब तक मनुष्य के पास अतीत की यादें हैं, वर्तमान का चिंतन है और भविष्य के सपने हैं तब तक दुनिया जिंदी है। जाने-अनजाने उनके शब्द, उनके ये विचार, उनके जज़बात हमारे मानस-पटल पर आज भी उभर आते हैं।

यों तो मैं यह दावा नहीं करता कि सीताशरण शर्मा जी से मैं बहुत वर्षों से परिचित था, परंतु जब मैं दक्षिण रेलवे के बैंगलुरू रेलवे मंडल कार्यालय के राजभाषा हिंदी से संबंधित कार्यों के निरीक्षण के सिलसिले में बैंगलुरू गया, तो वहाँ राष्ट्रीय विचार मंच की कर्नाटक इंकाई के गठन हेतु आयोजित एक बैठक में उनसे मेरी मुलाकात हुई। बैठक की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते वक्त जब वे मुझसे राष्ट्रीय भावनाओं पर आधारित मंच के उद्येश्यों से अवगत हुए, तो ऐसा लगा जैसे मैंने उनके मन की बात कह डाली। अपने अध्यक्षीय भाषण के पूर्व ही शर्मा जी के प्रस्ताव पर बैठक में उपस्थित बैंगलुरू के प्रबुद्धजनों ने सर्वसम्मति से मंच की कर्नाटक इकाई के गठन से संबंधित प्रस्ताव को पारित कर कार्यकारिणी का गठन किया। सच मानिए उसी दिन से हम दोनों एक दूसरे की राह पर चलने को अग्रसर हुए। दूसरी बार जब फिर बैंगलुरू की एक विचार संगोष्ठी में हम दोनों की मुलाकात हुई, तब से 'मंच' व 'विचार दृष्टि' के प्रचार-प्रसार में वे काफी दिलचस्पी लेने लगे। उनके इस स्वभाव की वजह से हम उनके और करीब आए।

फिर उनके पारिवारिक तथा व्यक्तिगत जीवन में बहुत कुछ मुझे जानने का मौका मिला। शर्मा जी ने गरीब की तकलीफ और तनावों को बहुत करीब से महसूस किया था। पारिवारिक तनाव और तनातनी के माहौल में ही वे साहित्य सृजन करते रहते थे। दो ही बार के मिलन में मुझे उनसे अपनेपन और खुलेपन का अहसास हुआ। उनके साहित्य और उद्‌गार में भी उनका खरापन और साफगोई साफ झलकती थी।

पिछले दिनों 25 जूलाई, 2001 को जब मैं चेन्नई के दौरे पर था, सीताशरण शर्मा के निधन का मुझे समाचार मिला। मैं बड़ा मर्माहत हुआ। चेन्नई और बैंगलरू के साहित्यिक-सांस्कृतिक परिवेश को बनाने में उन्होंने विशेष भूमिका अदा की। उनके शेष मित्र चेन्नई और बैगलरू में उस गर्मजोशी और स्निग्धता को कबतक और कितना बचाए रखेंगे, जो उन्होंने अपनी साहित्यिक प्रतिभा और जिंदादिली से प्रदान की थी, यह तो समय ही बताएगा। लेकिन उनकी चाह और उनकी रचनाएँ उस स्निग्धता और उनके स्वभाव की निश्छलता की जरूरत को अपनी पूरी शिद्दत से रेखांकित जरूर करती रहेगी। जबान और अदब के क्षेत्र में शर्मा जी ने जिन संभावनाओं की तलाश की, जैसी राहें निकालीं, जैसी इंद्रधनुषी धारा बहाई, उससे हिंदी अदब की आबरू बनी हुई है, उसकी शान कायम है।

अपने समकालीनों में शर्मा जी एक मात्र ऐसे साहित्य सेवी और गाँधीवादी चिंतनधारा के पोषक थे जिन्होंने आधुनिकता को अपने पास फटकने नहीं दिया। सादा जीवन उच्च विचार को पूर्णत: उन्होंने उसकी संपूर्णता में चाहा, जिससे लोक व जीवन के प्रति उनका राग, उनका भावबोध दूसरों से अधिक गौरवांन्वित हुआ। उनके अंदर नया देने की ललक नहीं, बल्कि नए के प्रभाव से स्वयं को बचाने की उनकी कोशिश जरूर रही और उसमें वे सफल भी रहे।

सीताशरण शर्मा के जीवन का हर अध्याय इतनी विरल विशेषताओं को संजोए हुए रहा कि उसका अनुशीलन जब हम करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि कितनी प्रखर कर्मना शक्ति एवं अदम्य साहस वह अपने में सहेजे हुए थे।

बिहार राज्य के बेगुसराय जिले के एक सामान्य परिवार में जन्मे श्री शर्मा जी ने यद्यपि कोई शिक्षा नहीं प्राप्त की, तथापि सत्पुरुषों के सान्निध्य में रहकर, अपने सत्कर्मों द्वारा उन्होंने उत्तरोत्तर श्रेष्ठताओं को वरण किया और जीवन के उत्तरार्द्ध तक पद-प्रतिष्ठा-सेवा की ऊँचाइयों का वे स्पर्श कर गए। कहना नहीं होगा कि सहज प्राप्त अपनी प्रत्युत्पन्न मेधा, गुण-ग्राह्यत्ता एवं श्रम-प्रधान जीवन-चर्या से जितना जनोपयोगी वे अपने को बना सके, बना गए। आखिर तभी तो सीताशरण शर्मा जी को आचार्य विनोबा जी के बैगलुरु स्थित आश्रम वल्लभ-निकेतन का प्रमुख प्रभारी बनाया गया था। अणुव्रत आंदोलन का एक निष्ठावान हिस्सा बन बाद में अणुव्रत महासमिति के अध्यक्ष पद पर वे आसीन हुए। यही नहीं 'बापू' द्वारा मद्रास में स्थापित दक्षिण

भारत हिंदी प्रचार सभा के वे प्रमुख न्यासी बने।

इंसान में काम करने का अगर जुनून हो, मन में ईमानदारी हो और सत्यनिष्ठा से काम करे, तो सफलता अवश्य हासिल होती है, क्योंकि सत्य परेशान हो सकता है मगर पराजित नहीं हो सकता। श्री शर्मा जी एक ऐसे ही जीवटवाले व्यक्ति थे। थे तो वे बिहार के, पर दक्षिण भारत को उन्होंने कर्मक्षेत्र बनाया, क्योंकि विनोबा जी के सान्निध्य से उनके व्यक्तित्व निर्माण का क्रम बेंगलुरु से प्रारंभ हुआ। ज्ञानार्जन के साथ-साथ विनोबा जी की भूदान-यात्रा में एक कार्य सेवी के रूप में सहयात्री रहकर उन्होंने सेवा को जो आत्मसात किया, एक दिन सर्वोदय जगत के जाने-माने वरिष्ठ सदस्यों में इनकी विशिष्ट पहचान बन गई। विनोबा जी के आदेश का पालन कर बेंगलुरु में क्षेत्रीय जन संपर्क एवं भाषाबोधन होते हुए भी अकेले व्यक्ति ने धीरे-धीरे लोक-संपर्क स्थापित कर आश्रम निर्माण का भगीरथ कार्य संपन्न किया। विश्वनीज्म ट्रस्ट के अंतर्गत, वल्लभ निकेतन के नाम से यह आश्रम सर्वोदयीन प्रवृत्तियों का दक्षिणाँचल में केंद्र बना।

इसी प्रकार अणुव्रत प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी की अणुव्रत के मिशन को लेकर जब दक्षिणाँचल की यात्रा कुछ अणुव्रत विचारधारा के लोगों ने प्रारंभ की, तो श्री सीताशरण शर्मा जी का उसमें सराहनीय योगदान रहा। आंदोलन की महत्ता को समझते हुए अणुव्रत से ऐसे जुड़ गए कि अंतिम क्षण तक उसके कार्यक्रमों में भाग लेते रहे और व्यापक स्तर पर अणुव्रत विचार को प्रसारित करने हेतु तत्कालीन कर्नाटक विधान सभाध्यक्ष श्री बांलिगर जी की अध्यक्षता में दक्षिण प्रादेशिक अणुव्रत समति के गठन होने पर श्री शर्मा ज़ी को लोक सेवी संस्थाओं के प्रतिनिधि के रूप में शामिल किया गया। बाद में आचार्यश्री तुलसी का जब चातुर्मास का आयोजन हुआ, तो इसमें शर्मा जी का अतिरिक्त योगदान रहा। अणुव्रत की गतिविधियों को सतत गतिशील कर अनेक कार्यकर्ताओं एवं प्रबुद्धजनों को अणुव्रत आंदोलन के साथ उन्होंने जोड़ा। फिर आचार्यश्री तुलसी के जून, 1997 में महाप्रयाण के पूर्व उनके शब्द-संकेत तथा उनकी अंतिम भावना को समझते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने श्री शर्मा जी का मनोनयन केंद्रीय अणुव्रत महासमिति के अध्यक्ष पद पर किया जिसके कार्यकलापों को उन्होंने ऊँचाइयाँ दी और समाज में एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया। श्री सीताशरण शर्मा जी ने निःसंदेह एक कर्मयोगी का जीवन जीया। मुझे इस बात का गर्व है कि उनके सात्विक

साहचर्य में मैंने जितना पाया, मेरी स्मृति से वे कभी ओझल नहीं हो पाएँगे। अपने पारिवाश्र्व से जिस सौरभ का विकिरण वे कर गए उससे हम अपने को सदा सुरक्षित अनुभव करते रहेंगे।

26 मार्च, 1931 को बिहार के बेगुसराय जिलांतर्गत सामहो गाँव में जन्मे सीताशरण शर्मा का पूरा गाँव एवं ग्रामवासी उस समय घर एवं खेती विहीन हो गए जब गंगा में आई बाढ़ ने सामहो गाँव को बहा दिया। गाँव पुनः बसा तो शर्मा परिवार गंगा नदी के दूसरे किनारे मुँगेर जिले में जा बसा। शिक्षा की कमी और घर-परिवार को चलाने की समस्या इनके सामने खड़ी हो गई। कुछ समय तो इन्होंने धनबाद में नौकरी की। फिर 1955 के आस-पास आचार्य विनोवा भावे की शरण में जाकर भूदान आंदोलन में सक्रिय हुए। विनोवा जी के आग्रह पर शर्मा जी उनके ड्राइवर बने और उनके साथ रहकर गीता एवं रामायण के संदेशों को आत्मसात किया। आचार्य विनोवा जी की सेवा में उन्होने स्वयं को पूर्ण रूप से अर्पित कर दिया और वहीं उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। सन् 1964 में आचार्य विनोवा जी के निर्देश पर बेंगलुरू पहुँचकर वल्लभ निकेतन आश्रम का उन्होंने संचालन किया।

5 जुलाई 2001 को हृदयाघात से श्री शर्मा जी का अचानक निधन हो गया। मरणोपरांत उन्हें अणुव्रत पुरस्कार 1999 से सम्मानित किया गया।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, परंतु उनके विचार, उनका साहित्यिक अवदान और उनके आचरण मौजूद हैं, जो उन्हें अमरता प्रदान करेंगे। उनकी स्मृति को नमन।

❖❖❖

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी : जिन्होंने सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग कर भौतिक विकास के साथ नैतिक मूल्यों के विकास पर जोर दिया

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी को अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तक कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने पहली मार्च, 1949 को राजस्थान के सरदार शहर में अणुव्रत की उद्‌घोषणा के साथ प्रवर्तन किया था। उनके द्वारा धर्मसंघ को प्रदत्त विभिन्न योगदानों में सर्वश्रेष्ठ एवं उपयोगी योगदान है 'अणुव्रत'। आचार्यश्री तुलसी त्रैकालिक व्यक्ति थे, क्योंकि वे अतीत, वर्तमान, भविष्य तीनों काल को देखते हुए काम करते थे। वे वर्तमान को भी जानते थे, अतीत का उन्हें ज्ञान था और भविष्य को भी देखते थे। तुलसी ने चरित्र के विकास के लिए अणुव्रत का प्रवर्तन किया, ताकि सत्ता और ध न की दौड़ में लोगों का चरित्र नीचे न आ सके और नैतिकता के मूल्यों का ह्रास न हो सके। जनता का नैतिक स्तर ऊँचा उठाने की दृष्टि से अणुव्रत एक आचार संहिता है जिसके जरिए राष्ट्र के चरित्र को भी ऊँचा उठाया जा सकता है। सच कहा जाए, तो अणुव्रत केवल नैतिकता नहीं, बल्कि मानवता-अहिंसा-नैतिकता का समन्वय है, जिसका मुख्य सूत्र है मानव जाति की एकता का सम्मान करना। यदि मानवीय एकता नहीं है, तो धर्म केवल पाखण्ड है।

अणुव्रत एक ऐसा धर्म है जिसका न कोई संप्रदाय है और न कोई परंपरा। यह तो लोकजीवन में व्याप्त मानवीय दुर्बलताओं को परिष्कृत कर स्वस्थ जीवन जीने की दिशा देता है। आचार्य तुलसी का मानना था कि चरित्र को प्रतिष्ठित करने में अणुव्रत ने अहम भूमिका निभाई है। उसने देश में एक नयी विचारधारा का प्रवाह बहाया, उपासना में उलझे हुए मनुष्य से चरित्र की पहचान करवाई और एक सार्वभौम धर्म को उजागर किया। जहाँ तक मैं समझता हूँ कोई भी समाज नैतिकता के बिना जीवित नहीं रह सकता और यदि जीवित रहता, तो वह लड़खड़ाता हुआ चलता है, स्वस्थ नहीं चल सकता। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत को इस ढंग से प्रस्तुत किया कि आज

के दौर में इसकी आचार-संहिता काफी प्रसंगिक हो गई है, क्योंकि मनुष्य व समाज में नैतिकता का तेजी से लोप होता जा रहा है। राजनीति भी इससे बच नहीं पाई है। ऐसी परिस्थिति में अणुव्रत अनैतिकता की प्रतिरोधक शक्ति साबित होगी। आज समाज पीड़ित है और हम अच्छे आदमी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। समाज में हिंसा है, गरीबी है, व्याभिचार है, कुप्रथाएँ हैं, आडंबर है, धन का बोलबाला है, बेईमानी है, रिश्वतखोरों की संख्या निरंतर बढ़ रही है, देश के नेता धनोपार्जन में लगे हैं, मगर जनता चाहती है कि हमारे नेता अच्छे हों, अधिकारी ईमानदार हों। ऐसे वक्त पहले सामाजिक स्थितियों में बदलाव लाना होगा, तभी व्यक्ति अच्छा बन सकेगा। इसके लिए हमें अणुव्रत आचार-संहिता का अनुपालन करना होगा।

मेरा मानना है कि जिस प्रकार महात्मा गाँधी ने राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग किया था उसी प्रकार आचार्य तुलसी ने सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग किया और अणुव्रत के माध्यम से नैतिकता पर बल प्रदान करते हुए स्वस्थ समाज के निर्माण की बात की। अहिंसा के पुजारी महात्मा गाँधी की जीवनगत विशेषताओं पर अपनी बात प्रस्तुत करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने गाँधी जी को आत्मविश्वासी बताया था, जिसके आधार पर ही उन्होंने पराधीन राष्ट्र को स्वाधीन बनाया था। यही नहीं आचार्य तुलसी के अनुसार गाँधीजी कहा करते थे कि व्यक्ति का वर्तमान सदा उज्ज्वल रहना चाहिए, भविष्य तो अपने आप उज्ज्वल हो जाएगा। वर्तमान को मलिन करने वाला व्यक्ति न तो भविष्य को कभी उज्ज्वल कर पाएगा और न वर्तमान को। व्यर्थ खोने वाला व्यक्ति भविष्य को कभी सुरक्षित नहीं रख पाएगा। सच तो यह है कि अहिंसक वृत्तियों से जीने वाला व्यक्ति ही वर्तमान के मूल्य आंक सकता है। आचार्य तुलसी ने इस संदर्भ में पुनः कहा था कि हर व्यक्ति अपने आपको तौले कि उसका जीवन किसकी परिक्रमा कर रहा है --- शांति की या क्रोध की, नम्रता की अथवा अभिमान की, संतोष की या आकांक्षा की, ऋजुता की या दंभ की, अनुग्रह की या दुराग्रह की, सामंजस्य की या वैषम्य की, वीरता की या दुर्बलता की।

आज राष्ट्र अभाव, महंगाई, भ्रष्टाचार, हिंसा, विषमता जैसी संकटपूर्ण समस्याओं से गुजर रहा है। जीवन की इन जटिलताओं और कठिनाईयों से राहत पाने और दिशा-दर्शन प्राप्त करने हेतु भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण सूत्र-संयम की साधना को तुलसी ने आवश्यक बताया था। सत्ता और संपत्ति के व्यामोह में बढ़ते देशवासी अपनी प्रतिष्ठा

और गरिमा को संयम अपनाकर ही सुरक्षित रख सकते हैं। शाश्वत सत्य की खोज करने वाले आचार्यश्री तुलसी ने आजादी के बाद भौतिक विकास के साथ नैतिक मूल्यों के विकास पर जोर दिया, क्योंकि उनका मानना था कि नैतिक मूल्यों के विकास के बिना स्वतंत्र भारत का विकास लंगड़ापन लिए होगा। इसीलिए उन्होंने युग के अनुरूप अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। दुखद स्थिति यह है कि आजादी के बाद देश के कर्णधारों ने आचार्यश्री तुलसी की सोच के तहत काम नहीं किया जिसका दुष्परिणाम हमें भुगतना पड़ रहा है। आज देश में आर्थिक-भौतिक विकास तो बहुत हुआ है, किंतु नैतिकता में निरंतर गिरावट की वजह से व्यापक भ्रष्टाचार, घपले-घोटाले आए दिन देखने को आ रहे हैं और हमारे देश का नाम भ्रष्टाचारवाले देशों की सूची में अग्रिम पंक्ति पर है। ऐसी विषम परिस्थिति में अणुव्रत के कार्यकर्ताओं को अब पुनः बुराइयों के विरूद्ध सशक्त प्रतिरोधात्मक शक्ति के रूप में खड़ा होना होगा। आचार्य तुलसी ने दक्षिण भारत की यात्रा करके दक्षिण भारत को अणुव्रतमय बनाया था, जिसके परिणामस्वरूप दक्षिण में अपेक्षाकृत कम बुराइयाँ देखने को मिली थीं, मगर समय के साथ वहाँ भी अणुव्रत का स्वर मंद पड़ गया। इस दृष्टि से देखा जाए, तो आचार्यश्री तुलसी निश्चित रूप से भविष्यद्रष्टा थे जिन्होंने नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए अपनी पूरी शक्ति लगाई और वैचारिक-सांस्कृतिक प्रदूषण रोकने की भरपूर कोशिश की। वर्तमान की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए आज भी आचार्य तुलसी का अणुव्रत आंदोलन सक्षम है वशर्ते कि उसके कार्य को गति देने के लिए जीवनदानी अणुव्रती को अणुव्रत से जोड़ने का प्रयास किया जाए। हजारों-हजार व्यक्तियों को अणुव्रत अभियान से जोड़ने के साथ ही सार्वजनिक एवं संवैधानिक संस्थाओं का सहयोग भी अपेक्षित है, क्योंकि उनकी सहभागिता सही भ्रष्टाचार विरोधी अभियान, नशामुक्ति अभियान, चुनाव शुद्धि अभियान एवं आडंबर विरोधी अभियान के स्वर को मुखर किया जा सकता है। 20 वीं शताब्दी के आध्यात्मिक क्षितिज पर प्रमुखता से उभरने वाले इस संत की पावन स्मृति के अवसर पर देश की ज्वलंत समस्याओं के समाधान के मद्देनजर समाज व देश को उन्नति की ओर अग्रसर करना हम देशवासियों का पुनीत कर्त्तव्य बनता है। ऐसे समय में जब देशवासियों का धर्म-संप्रदाय के नाम पर पुनः बांटने और आपसी सद्भाव के वातावरण को बिगाड़ने की जो साजिश चल रही है हमें आचार्यश्री तुलसी से प्रेरणा प्राप्त कर सावधान होना है। आचार्यश्री प्रवर जैन धर्म एवं तेरापंथ से

जुड़े रहने के बावजूद उनका दृष्टिकोण असंप्रदायिक रहा है। उनका कहना था ''जैन धर्म मेरी रग-रग में, नस-नस में रमा हुआ है, किंतु सांप्रदायिक दृष्टि से नहीं व्यापक दृष्टि से, क्योंकि मैं संप्रदाय में रहता हूँ, लेकिन संप्रदाय मेरे दिमाग में नहीं रहता। मैं सोचता हूँ मानव जाति को कुछ नया देना है तो सांप्रदायिक दृष्टि से नहीं दिया जा सकता। यही कारण है कि मैंने संप्रदाय की सीमा को अलग रखा और धर्म की सीमा को अलग।'' इसी दृष्टि से उन्होंने अणुव्रत आंदोलन चलाया जो जाति, धर्म, वर्ग, भाषा और ध र्मगत संकीर्णताओं से ऊपर उठकर मानव जाति को जीवन मूल्यों के प्रति आकृष्ट करता है। आचार्यश्री ने धार्मिकता के साथ नैतिकता की नई सोच देकर अणुव्रत दर्शन को प्रस्तुत किया। उनका मुख्य उद्देश्य था--- मानवीय एकता, सह-अस्तित्व की भावना, व्यवहार में प्रमाणिकता, आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति और समाज में सही मानदंडों का विकास। इसके क्रियान्वयन के लिए उन्होंने प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान, जैसे विविध प्रकार के कार्यक्रम प्रारंभ किए थे।

जैनाचार्य होते हुए भी वे जनाचार्य भी बन गए थे। जैन, हिंदू, मुस्लिम, सिख या ईसाई धर्मों को मानने वाले लोग भी उनमें आस्था रखते थे। मेरे जैसे लोगों की जो आस्था अणुव्रत आंदोलन से हुई वह आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रारंभ किए गए नैतिक विकास के शंखनाद के चलते ही और उन्हीं के उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने मुझे अहिंसा समवाय का राष्ट्रीय संयोजक मनोनीत कर अणुव्रत से जोड़ा। मुझे फ़क्र है कि नैतिक मूल्यों के विकास एवं संवर्द्धन में समर्पित अणुव्रत आंदोलन को प्रदत्त सेवाओं की शृँखला में आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा वर्ष 2009 को लाडनू में मुझे अणुव्रतसेवी संबोधन से अलंकृत किया गया और फिर दिल्ली में सम्मानित किया गया। यह इस बात का द्योतक है कि आचार्यश्री तुलसी द्वारा स्थापित अणुव्रत के आदर्शों एवं सिद्धांतों में मेरी आस्था एवं निष्ठा रही है और वह आजतक बरकरार है।

सर्वधर्म समभाव के प्रतीक आचार्यश्री तुलसी ने सांप्रदायिक कट्टरता को कभी उचित नहीं माना। आखिर तभी तो उन्होंने सभी धर्मगुरुओं को भी सांप्रदायिक आग्रहों को छोड़कर सद्भाव का माहौल बनाने के लिए प्रेरित किया। सभी धर्म, जाति एवं वर्ग के लोगों को एक मंच पर लाने में वे कामयाब रहे थे। वे कहते थे कि समूह-सुधार के पहले व्यक्ति-सुधार जरूरी है, क्योंकि सुधरा हुआ व्यक्ति समाज को सुधारने का पूरा समय देता है। इस संदर्भ में अमेरिका के पूर्व प्रधान सेनापति जॉर्ज वाशिंग्टन से जुड़ा एक वाक्या

ध्यातव्य है। जॉर्ज वाशिंग्टन एक बार वेश बदलकर घूम रहा था। उस समय स्वतंत्रता संग्राम चल रहा था। इसलिए जगह-जगह पर सेना के जवान तैनात थे। एक स्थान पर काफी संख्या में सैनिक खड़े थे। वे किसी भारी लकड़ी को ऊपर उठाने में लगे हुए थे, लेकिन वह इतना भारी था कि हिल भी नहीं रहा था। उसी दौरान जॉर्ज वाशिंगटन उधर से गुजरा। उसने देखा कि एक व्यक्ति शान से घोड़े पर बैठा हुआ है। जॉर्ज ने उसको संबोधित कर कहा-महाशय। आप खड़े क्यों हैं? सैनिकों के काम में आप भी हाथ बटाएँ। यह बात सुनकर वह घुड़सवार बोला -- 'आप जानते नहीं, मैं सेनापति हूँ। यह काम सैनिकों का है।' जॉर्ज सैनिकों के पास पहुँचा और अपनी पूरी शक्ति लगाकर उस भारी लकड़ी को उठाने लगा। देखते ही देखते वह उठ गया। वहाँ से लौटते वक्त जार्ज वाशिंग्टन उस घुड़सवार के पास ठहरकर बोला -- 'महाशय! भविष्य में कभी भी ऐसा कोई काम पड़े, तो आप प्रध ान सेनापति जॉर्ज वाशिंग्टन के नाम पत्र देना मत भूलना।' यह सुनते ही वह घुड़सवार सेनापति पानी-पानी हो गया। वह घोड़े पर बैठा नहीं रह सका। उसके अहं पर गहरी चोट लगी। वह नीचे उतरकर जॉर्ज के चरणों में झुक गया। उसे अपनी भूल का बोध हो गया। यह तरीका है व्यक्ति-सुधार का। इसमें पहल अपने से ही होती है। लेकिन आजकल इसके ठीक विपरीत चल रहा है। अपने सुधार की बात गौण है, पर दूसरों से सुधार की अपेक्षा की जाती है जिसकी वजह से समाज-सुधार नहीं हो पा रहा है।

आचार्यश्री तुलसी जहाँ ध्यान को जीवन की समग्रता समझते थे, वहीं जीवन के लिए संयम को भी उतना ही महत्त्व देते थे। अपनी हर क्रिया में संयम रखते हुए पाप-कर्म से बचा जा सकता है ऐसा उनका मानना था। 'संयम खलू जीवनम्' यानी संयम ही जीवन है का आदर्श अपनाने से प्रत्येक मनुष्य का कल्याण हो सकता है और कटुता, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुणों से बचा जा सकता है। आचार्यश्री तुलसी मानते थे कि किसी भी साधना का सही-सही बोध उसके मूल्याँकन से ही होता हैं। ध्यान का साधक भी अपने प्रशिक्षक के मार्गदर्शन से आगे बढ़ता है, किंतु कभी-कभी वह पीछे भी खिसक जाता है। विकास की शृंखला जुड़ती-जुड़ती टूट जाती है और ह्रास का सिलसिला शुरू हो जाता है। धर्म के संदर्भ में आचार्यश्री तुलसी कहा करते थे कि आज धर्म शक्ति-शून्य सा प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि धार्मिक लोगों के जीवन में धर्म का कोई प्रायोगिक रूप नहीं रहा।

प्रयोग के बिना धर्म जीवन को प्रभावित नहीं कर सकता। धर्म को प्रयोग की भूमिका पर उतारने के लिए ध्यान का अभ्यास जरूरी है। ध्यान-शून्य धर्म बिना सिर का शरीर है। ध्यान धर्म का प्रयोगिक रूप है। ध्यान के अभ्यास से धर्म जीवन में उतरता है। इस संदर्भ में एक घटना का यहाँ उल्लेख करना मैं जरूरी समझता हूँ।

एक बार गुरु गोविंद सिंह के शिष्य सामूहिक रूप से उनके सामने उपस्थित हुए। उन्होंने अपनी समस्या प्रस्तुत करते हुए कहा - 'हम प्रतिदिन भगवान का भजन करते हैं, पर हमें कोई लाभ नहीं होता।' गुरु गोविंद सिंह बोले - मैं इस प्रश्न का उत्तर कुछ समय बाद दूँगा। शिष्य चले गए। कुछ दिनों बाद गुरुजी ने शिष्यों को बुलाकर कहा - 'एक मटका ताड़ी भरकर लाओ और उससे कुल्ले कर मटके खाली कर दो। 'शिष्य गए एक बड़ा मटका ताड़ी भरकर लाए। अब वे उस मटके के पास बैठकर कुल्ले करने लगे। देखते-देखते उन्होंने सारी ताड़ी मुँह में लेकर नीचे गिरा दी। मटका खाली कर वे गुरु के पास पहुँचे। गुरुजी ने पूछा - तुमने सारी ताड़ी समाप्त कर दी? शिष्यों की स्वीकृति पाकर वे फिर बोले - इतनी ताड़ी थी उससे तुमको नशा नहीं आया? शिष्यों ने विस्मित होकर कहा - गुरुदेव हमने ताड़ी को गले से नीचे उतारा ही नहीं, तब नशा कैसे होगा?

गुरुजी ने उनकी ही बात से उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा - शिष्यो! तुमने भगवान का भजन किया है, पर ऊपर-ऊपर से। भगवान के नाम को गले के नीचे उतारा ही नहीं तब तुम्हें लाभ कैसे होगा? जबतक भगवद्-भजन के साथ तुम्हारा मन नहीं जुड़ेगा, तुम भगवान के नाम के पीछे पागल नहीं बन जाओगे, तबतक तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। उक्त घटना के संदर्भ में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि धर्म की गहराई में उतरे बिना ध र्माराधना से होने वाला लाभ नहीं मिल सकता। आचार्यश्री तुलसी ने धर्म की गहराई में जाने के लिए शिविर-साधना को एक प्रशस्त प्रक्रिया बताया था। यही कारण है कि अणुव्रत अभियान के तहत शिविर-साधना का आयोजन किया जाता है।

आचार्यश्री तुलसी का यह भी मानना था कि जो व्यक्ति सदा उपभोगवादी संस्कृति में जीता है, वह अध्यात्म का मूल्य नहीं समझ सकता। जो व्यक्ति आटे का धोवन पीता है वह दूध का स्वाद नहीं जान सकता। इसी तरह जो व्यक्ति निरंतर भोजन करता रहता है, वह तपस्या का मूल्याँकन नहीं कर सकता। तपस्या में भोजन-पानी का परिहार भी होता है, पर वही तप है यह

बात नहीं है। दुष्काल में अनेक पशु-पक्षी भूख से मरते हैं। उनका भूखे रहना तप है? तप की मीमांसा करते समय इन बातों पर विचार करना आवश्यक है। बिना विशेष उद्देश्य भूखे रहना बड़ी बात नहीं है, तो अधिक खाना भी बड़ी बात नहीं है। अनुभवी बताते हैं कि भूख से जितने लोग नहीं मरते उससे अधि क भोजन करके मरते हैं। भूखे रहना तप का एक अंग है तो खाने में संयम का प्रयोग करना भी तप है।

अंत में मैं यही कहना चाहूँगा कि आचार्यश्री तुलसी ने हम सबको प्रकाश के परम स्रोत की ओर बढ़ चलने के लिए साधना, संयम, जीवन विज्ञान, प्रेक्षाध्यान आदि का जो मार्ग बताया है, उसके आलोक में हम आगे बढ़ें और विचार करें कि मैं कहीं गलत दिशा में तो नहीं जा रहा हूँ? यदि ऐसा कुछ है, तो इसे सुधारने में तनिक-सी भी देर न लगाएँ। मैं समझता हूँ अपनी भूल को सुधार कर ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि और सम्मान का भाव प्रदर्शित किया जा सकता है। कवि मंगल विजय 'विजय वर्गीय' की 'सविता से प्रार्थना' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों से कुछ हेर-फेर के साथ आचार्यश्री तुलसी की पावन स्मृति को नमन करते हुए उनके बताए रास्ते पर चलते रहने के लिए मैं विनय करता हूँ---

गति न रुक पाए, निरंतर ही सुपथ पर हम चलें,
लोक-पथ के विघ्नकारी, कंटकों को हम दलें,
चुभन सहने का प्रचंड-साहस आप हमें दीजिए
आचार्यश्री तुलसी! तमस से जूझने को, मानसिक बल दीजिए।

पं॰ ओम प्रकाश कौशिक :

जो अणुव्रत आंदोलन से जुड़े एक तपे-तपाए अणुव्रती थे

प॰ ओम प्रकाश कौशिक अब नहीं रहे-दूरभाष पर अपने सुपुत्र सुधीर रंजन से इस एक पंक्ति के दु:खद समाचार से हम अवाक् रह गए, काष्ठवत हो गए। सहसा हमारे कानों से सुनी आवाजों पर हमें विश्वास न हुआ। दरअसल कभी-कभी जब अत्यंत आत्मीय हमारे बीच से अचानक गुजर जाते हैं तो तत्काल विश्वास न होना स्वाभाविक है, पर रह जाती हैं केवल यादों की परछाइयाँ, जो जेहन में कौंधती हैं और मन को बेचैन कर देती हैं। पं. ओम प्रकाश कौशिक जी के देहावसन की खबर सुनकर गन बेचैन हुआ, फिर उनके साथ गुजने पल की यादें एक-एक कर मेरे मानस-पटल पर उभरने लगीं और उन्हें शब्दबद्ध करने पर न केवल मन हल्का हो जाता है, बथ्लक वह शब्दबद्ध किया संस्मरण आमतौर पर उन गीतों-पोतों के लिए अर्थपूर्ण हो जाता है, जाो उसे पढ़ते हैं। लेखक जो संस्मरण लिखता है उसके संदर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण होती है वह है उसके प्रति नजरिया सही या गलत हो सकता है, मगर संस्मरण के लेखक का मन हल्का जरूर होता है।

यह बात सही है कि पं. ओम प्रकाश कौशिक जी का निधन असामयिक हो गया। अभी-अभी नवंबर 2006 के एक तारीख को अणुव्रत भवन में उनसे मिलकर मैं दो नवंबर का पटना के लिए प्रस्थान किया था। उन दिनों में काफी स्वस्थ प्रसन्न थे। 31 अक्टूबर 2006 को अपराह्न 4 बजे नई दिल्ली के राजघाट स्थित गाँधी स्मृति एवं दर्शन समिति के डॉ. बी.एन. पाण्डेय सभागार में जब राष्ट्रीय विचार मंच सहित अणुव्रत महासमिति (अहिंसा समवाय), पटेल फाउंडेशन तथा गाँधी स्मृति एवं दर्शन समिति के संयुक्त तत्वावधान में सत्याग्रह के सौ साल और लौह पुरुष सरदार बल्लभभाई पटेल के 131वें जयंती-समारोह का भव्य आयोजन किया गया था तो पं. कौशिक जी ने तन-मन-धन से उसमें शिरकत किया था और वे स्वयं सभागार में उपस्थित होकर सरदार पटेल तथा महात्मा गाँधी को अपना सम्मान भाव उन्होंने निवेदित किया था। मुझे अच्छी तरह याद है मैंने उनसे सादर मंच पर आसन ग्रहण करने का आग्रह किया था। मात्र दो माह के बाद ही उनके

देहावसन की मुझे खबर मिलती है जबकि उनकी उम्र अभी ऐसी नहीं थी।

सच तो यह है जब उम्र होती है लगता है वक्त थम गया है, जब उम्र नहीं होती, वक्त को पकड़ने और उसे रोक रखने की सारी कोशिशें नाकामायाब हो जाती हैं। पं. ओम प्रकाश कौशिक जी के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। अणुव्रत से पिछले पाँच दशक से जुड़े कौशिक जी ने स्वाभिमान को आहत करने वाला समझौता कभी नहीं किया, चाहे इसके लिए उन्हें कितना ही कष्ट अथवा घाटा उन्हें क्यों न उठाना पड़ा हो। आचार्य श्री तुलसी के सौजन्स से पं. कौशिक जी अणुव्रत से इसलिए जुड़े कि आचार्य श्री तुलसी द्वारा अहिंसा के प्रचार-प्रसार हेतु स्थापित अणुव्रत आंदोलन में उनका अटूट विश्वास था और उसी के अनुरूप उनका आचरण, व्यवहार, स्वभाव और उनके कार्यकलाप थे। पूरी तन्मयता और निष्ठा से उन्होंने अणुव्रत एवं तेरापंथी सभा की लगभग पचास वर्षों से भी अधिक अवधि तक अपनी सेवा प्रदान की। प्रतिदिन नई दिल्ली के अपने उत्तमनगर निवास से बस द्वारा दीन दयाल उपाध्याय मार्ग स्थित अणुव्रत भवन में नियमित रूप से सयम पर दस बजे पूर्वाह्न पधारना और दिनभर अपने दायित्व का निर्वळन कर संध्या छी बजे वस से ही अपने निवास वापस जाना जैसे उन्होंने अपना नियम बना लिया था। तेरापंथी सभा हो या अणुव्रत महासमिति या हो फिर अखिल भारतीय अणुव्रत न्यास-सभी के पदाधिकारियों एवं उनसे जुड़े कर्मचारियों पर उनकी त्रुटि के लिए कभी-कभार बिगड़ते भी थे तो उनके सहकर्मी उसे उनका आशीर्वाद समझ कर शिरोधार्य कर लेते थे और कभी उनके कहे को अन्यथा नहीं लेते थे। यही थी पं. कौशिक जी के व्यक्तित्व की विशेषता। आखिर तभी तो इस शख्स ने आधी सदी तक अपने स्वाभिमान से बिना कोई समझौता किए गुजर कर वहाँ चला गया जहाँ से कोई वापस लौटकर नहीं आया। कौशिक जी अणुव्रत की दुनिया में रहकर किसी से कुछ उधार लेने या किसी की नकल के पक्षधर नहीं रहे। इस प्रसंग में मुझे संगीतकार नौशाद का यह शेर याद आ गया-

"दरे गैर पर भीख माँगे न फन की
जब अपने ही घर में खजाने बहुत हैं।"

पं. ओम प्रकाश कौशिक अपने कर्म के प्रति समर्पित थे। दरअसल व्यक्ति का कर्म ही वह आइना है, जो उसके वास्तविक स्वरूप को दिखाता है। प्रत्येक व्यक्ति कर्म की परिधि से घिरा हुआ होने की वजह से किसी भी काल-खंड में झण मात्र के लिए भी बिना कर्म किए रह नहीं सकता। पं.

ओम प्रकाश कौशिक जी भी एक ऐसे ही अणुव्रती थें जो अपने स्वाभावनुसार कुछ-न-कुछ करते रहते थे। यहाँ तक कि शारीरिक रूप से अशक्त होने पर भी वह मानसिक रूप से कर्मरत रहते थे और यह उनका स्वभाव बन गया था। पैर के ठेहुना के दर्द` वे पिछले कई वर्षों से परेशान थे, गठिया का दर्द कम होन का नाम ही नहीं ले रहा था, फिर भी अपने कर्म को सफलतापूर्वक संपन्न करने के लिए वे एकाग्रभाव से लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरंतर अपने कार्यलय पहुँचकर अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते थे। वस्तुतः वे आध्यत्मिक अथवा लौकिक दोनों लक्ष्य तक पहूँचने के लिए दृढ़-संकल्प रहते थे जिसके लिए भाव, विचार और कर्म करने की तत्परता जैसे अनेक सोपानों की भी आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति कार्य में बाधाओं के आने की कल्पना मात्र से ही कार्य प्रारंभ नहीं करते या फिर कार्य प्रारंभ करने के बाद भी बीच में बाधाएँ आने पर अधूरा ही छोड़ देते हैं-ऐसे व्यक्ति कभी भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकते। दृढ़ संकल्प-शक्ति और विचारों की दृढ़ता ही कौशिक्र जी के व्यक्तित्व की विशेषता थी। उनकी इन्हीं विशेषताओं के कारण अणुव्रत महासमिति की ओर से आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने उन्हें अणुव्रतसेवी सम्मान से सम्मानित किया।

मुझे अच्छी तरह याद है जब पिछले 16 एवं 17 नवम्बर 2002 को नई दिल्ली के दीनदयाल उपाध्याय मार्ग स्थित राजेन्द्र भवन में राष्ट्रीय विचार मंच और उसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' की ओर से 'आजादी के बाद वैचारिक क्रांति के नए आयाम और हमारा दायित्व' विषय को केन्द्र में रखकर जब विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श हेतु दो-दिवसीय राष्ट्रीय अधि वेशन का आयोजन किया गया था उसी वक्त से डॉ. धर्मेंद्र नाथ 'अमन' जी के सौजन्य से हम पं. ओम प्रकाश कौशिक जी के सम्पर्क में आए और जिनके सहयोग से अणुव्रत भवन का अतिथिशाला देश के हर क्षेत्र से पध ारे विद्वतजनों के पतिनिधियों को मुहैया कराया गया था। कौशिक जी ने उक्त अधिवेशन को सफलतापूर्वक संपन्न करने के लिए कोई कोर-कसर नहीं छोड़ रखा था। इस संदर्भ मुझे एंक छोटी घटना याद आ गई और वह यह कि जब मैं रेलवे हिंदी सलाहकार समिति का सदस्था था, रेल मंत्रालय के राजभाषा निदेशालय में उप निदेशक के पद पर आसीन डॉ० सोमदत्त शर्मा जी से मैं बड़ी आत्मीयता से जड़ गया था। यों तो रेलवे के मंत्री, रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष से लेकर उसके छोटे-बड़े प्रायः सभी अधिकारियों-कर्मचारियों के साथ मेरा अच्छा सलूक था, क्योंकि अधिक-से-अधिक लोगों से मिलना और

उनके साथ मिलकर चिारों का आदान-प्रदान करना मेरे स्वभाव का एक अंग बन गया है और इसे मैं अब तक निभाता आ रहा हूँ। हाँ, यह जरूर है कि संयोगवश किसी-किसी के साथ अंतरंगता अधिक हो जाने के कारण उस व्यक्ति के साथ मित्रता स्थायी हो जाती है। डॉ॰ सोमदत्त शर्मा जी के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। रेलवे हिंदी सलाहकार समिति की बैठकें ही या फिर अन्य क्षेत्रीय कार्यालय की राजभाषा समितियों में प्रेक्षक की हैसियत से भाग लेने अथवा राजभाषा संबंधी कार्यों को लकर निरीक्षण करने के संदर्भ में डॉ. सोमदत्त से रेलवे बोर्ड के कार्यालय में उनके समीप बैठकर कार्यक्रम बनाना हमारी आदत बन गई थी। यहाँ तक कि उनके आनंद विहार स्थित निवास में मेरा जाना-आना लगा रहता था और इस प्रकार उनके परिवार का मैं एक सदस्य बन गया और आज तक वह सिलसिला जारी है जबकि श्री सोमदत्त शर्मा जी रेलवे से अवकाश प्राप्त कर चुके हैं। अब तो खैर राष्ट्रीय विचार जिसका मैं राष्ट्रीय महासचिव हूँ, श्री शर्मा जी उसकी राष्ट्रीय राजधानी शाखा के अध्यक्ष पद पर विराजमान हैं। एक दिन ऐसा हुआ कि जब मैं अणुव्रत भवन में पं. ओम प्रकाश कौशिक जी के समीप एक कार्यक्रम को लकर उनसे राय-मशवरा कर रहा था कि अचानक डॉ. सोमदत्त शर्मा जी वहाँ आ पहूँचे। मैंने उनका अभिवादन कर उन्हें नमस्कार किया। कौशिक जी ने मुझसे पूछा कि क्या मैं शर्मा जी को पहले जानता हूँ तो मैंने उन्हें पूर्व की सारी कथा सुनाई। कौशिक जी से मुझे यह जानकर कि शर्मा जी उनके अनुज है, मुझ बड़ा संतोष हुआ, क्योंकि मैं भी अपने को कौशिक जी का अनुज मानता रहा और उन्होंने ने भी मुझे अनुज-सा स्नेह दिया। फिर क्या था, शर्मा जी से मेरी मित्रता और प्रागढ़ हो गई और कौशिक जी के स्नेह-सुझाव का मैं अधि क हकदार बन गया। सचमूच अंत अंत तक जो स्नेह और मार्ग-दर्शन एवं अपेक्षित सहयोग मैंने कौशिक जी से पाया वह विरल कहा जाएगा। अहिंसा समवाय से संबंधित कोई कार्यक्रम हो या फिर अणुव्रत महासमिति अथवा पटेल जयंती-समारोह का आयोजन हो हम इसलिए निश्चित रहते थे कि कौशिक जी की साया मुझ परँ निरंतर रहती थी। कार्यक्रम के पूर्व कोई काम हो अथवा कार्यक्रम के बाद प्रेस तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में प्रेस विज्ञप्ति भेजना हो या फिर कार्यक्रम का दायित्व पं. कौशिक जी के सबल कंधों पर सौंपकर इर्त्मिनान हो जाता था और वे भी ऐसे अग्रज थे कि उन दायित्वों के निर्वहन में कोई कोताही नहीं करते र्थे। सच तो यह है कि वे राष्ट्रीय विचार मंच तथा 'विचार दृष्टि' के भी कार्यालय मंत्री का दायित्व निभाते थे। ऐसे

भरोसेमंद अभिभावक वे मार्गदर्शक का अचानक हमारे बीच रहा है, वह तो कोई मुझसे पूछे। सचमुच आज उनकी अनुपस्थिति में मैं अपने का अहसहाय महसूस कर रहा हूँ, किंतु बड़े भाई डॉ. सोमदत्त शर्मा 'सोम' जी को सामने पाकर मैं थोड़ी राहत का अनुभव इसलिए कर रहा हूँ कि उनसे मुझे भरपूर सहयोग मिलेगा, ऐसा मेरा विश्वास है, कारण कि अब तो उन्हें अपने बड़े भाई स्व. कौशिक जी की जिम्मेवारी भी निभानी है। मैं इस माने में खुशकिस्मत अपने को मानता हूँ कि पं. कौशिक जी के अपने छोटे भाई डॉ. सोमदत्त शर्मा जी को मैं एक लंबे अरसे से जानता रहा हूँ ओर आज भी वे मेरे साथ है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृति उन तमाम सद्वृत्तियाँ, विशिष्ट गुणों का समुच्चित संगम है, जो किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व और चरित्र को परिष्कृत और समृद्ध बनाती है। संस्कृति के मूल में व्यक्ति और समाज का 'संस्कार' होता है, जिससे सात्विक, सर्जनात्मक और अस्वाद्य आनंद की अनुभूति होती है। पं. ओम प्रकाश कौशिक जी भी एक ऐसे ही सात्विक आचार-विचार और संस्कार के व्यक्ति थे जो भारतीय संस्कृति को एक पूर्ण संस्कृति इसलिए मानते थे कि 'भारतीय दृष्टि से प्रकृति के साथ हमारा आध्यात्मिक संबंध है। इसी धारणा ने हमारी कलाओं को विस्तृत फलक प्रदान किया और व्यापक जीवन दृष्टि दी। कौशिक जी स्वयं एक संस्कारी पुरुष होने के नाते दूसरों को भी संस्कारी बनाते थे। उनके निकट संपर्क में जो कोई भी आया उनके निकट संपर्क में जो कोई भी आया उनके संस्कार से अभिभूत हुआ। वे एक ज्योतिषी भी थे तथा विशुद्ध मन से पंडिताई भी करते थे। शादी-विवाह, मरनी-हरनी, यज्ञोपवीत, पूजा-पाठ आदि कार्यक्रमों में न केवल वे तिथि का निर्धारण करते थे, बल्कि अत्यंत आत्मयीतजनों के यहाँ कार्यक्रम भी संपर्क बहुत व्यापक था। व्यापक फलक का यह संस्कृति व्यक्ति समाज और राष्ट्र का प्राणतत्त्व था, जो दृश्यमान न होते हुए भी आज अनुभवगम्य हैं। जिस प्रकार शरीर और अंग-प्रत्यंग दिखाई देते हैं, किंतु वह वास्तविक प्राणतत्त्व अदृश्य होता है, ठीक उसी प्रकार उस व्यक्ति की संस्कृति सदा अपरिवर्तनशील है, जो हमारी भावना में शाश्वत स्वरूप मौजूद है। भौतिकता की चकाचौंध में भी हम कौशिक जी की संस्कृति भूल नहीं सकते। हम वह दिन भूल नहीं सकते जब पिछले 10 दिसंबर, 2005 को दिल्ली के स्कूल ब्लॉक, शकरपुर स्थित प्राचीन शिव मंदिर के प्रांगण में आयोजित अपनी अंजली-प्रवीण के विवाहोत्सव-समारोह में अणुव्रत महासमिति

के राष्ट्रीय अध्यक्ष सह संपादक, 'अणुव्रत' पाक्षिक डॉ॰ महेन्द्र कर्णावट के साथ पं॰ ओम प्रकाश कौशिक अपने सभी सहयोगीयों के साथ उपस्थित होकर वर-वधू को अपनी शुभकामना दे रहे थे। समारोह में उपस्थित बिहर के मुख्यमंत्रे श्री नीतीश कुमार जी से उन सभी अपने अतिथियों का परिचय कराते हुए मुझे गर्व महसूस हो रहा था।

जिस व्यक्ति की उपस्थिति मात्र से ही मैं गोरवान्वित हुआ करता था वह व्यक्ति आचानक मेरी उपस्थिति में ही विगत 13 जनवरी 2007 को नई दिल्ली स्थित उत्तम नगर के निवास में चल बसा उस अनंत-अज्ञान स्थान की ओर जहाँ से कोई लौटता नहीं और पटना में रहकर न तो उनके परिवार के किसी सदस्य के समक्ष मैं अपनी शोक-संवेदना व्यक्त कर सकता और ना ही उनके पुत्रों व भाई सोम जी को सांत्वना! विधि का विधान जो न करा ले!

पं॰ कौशिक जी के निधन का दुखद समाचार सुनकर अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अपने शोक संदेश मं कौशिक जी को एक आस्थाशील और जिम्मेदार कार्यकर्ता बताया। दीर्घकाल तक बहुत निष्ठा और समर्पण भाव से धर्मसंघ की सेवा करते हुए उन्होंने एक कर्मठ और विश्वस्त कार्यकर्ता के रूप में अपनी पहचान बनाई। कौशिक जी वैसे तो मध्य वर्गीय परिवार के थे, मगर मिजाज के धनी थे। उनका पहनावा, पोशाक, खानपान सभी ऐसे थे कि शहंशाही टपकती थी। तेरापंथी सभा तथा अणुव्रत से जुड़े प्राय: सभी लोग उनका सम्मान करते थे, मगर उम्र तमाम फाकामस्ती में ही गुजरी, उन्होंने नई दिल्ली के उत्तमनगर के अपना एक घर बना लिया था और अपने जीवन के अधिकतर समय उन्होंने यहीं गुजारे। उनका स्वर्गवासव भी इसी घर में हुआ। वैसे पं॰ कौशिक शख्सियत बड़ी रौबदार थी। ऐसी रौबदार शख्सियत को राष्ट्रीय विचार मंच तथा उसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' के सभी सदस्यों की ओर से मैं अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ इन पंक्तियों से-

बला-ए-जां हैं कौशिक उनकी हर बात, इबारत क्या, इशारत क्या, अदा क्या।

उत्तर प्रदेश, अलीगढ़ में जन्मे पं॰ ओम प्रकाश कौशिक जी ने अपनी संस्कृति की जो अमिट छाप मुझपर छोड़ रखी है और संस्कार व संस्कृति का जो दीप उन्होंने जलाया है उसे मैं प्रज्ज्वलित करता रहूँगा, कामना है कि जगन्नियंता मुझमें इतनी शक्ति दे। संस्कृति, अहिंसा एवं अणुव्रत के प्रति भक्ति के इस स्वरूप स्व॰ कौशिक जी के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

वीरांगना झलकारी बाई : जो लक्ष्मीबाई का वेषधारण कर रणचंडी बन अँग्रेजों पर टूट पड़ी

सदियों से प्रचलित कहावत-'लड़े सिपाही नाम हवलदार का' आज भी चरितार्थ हो रही है। चाहे पाकिस्तान के साथ इस देश की लड़ाई हुई हो अथवा चीन से, लड़ाई में बहादुरी से देश के लिए कुर्बान करने वाले हजारों ऐसे भारतीय सेना के जवान आज भी गुमनाम हैं। यह तो कहिए कि वर्ष 2007 में जब भारत ने अपने प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं तथा अपनी आजादी की 60वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में जश्न मनाया तो अनेक ऐसे गुमनाम शहीदों को शोधकर्ताओं ने याद किया और देश के विभिन्न क्षेत्रों व भाषाओं में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं ने 1857 विशेषांक निकाला। राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था राष्ट्रीय विचार मंच के मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' ने भी '1857-जंगे आजादी विशेषांक: 33' (अक्टूबर-दिसंबर 2007) का प्रकाशन कर राष्ट्रीय राजधानी नई दिल्ली में राष्ट्रीय स्तर पर 31 अक्टूबर 2007 को लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल की 132वीं जयंती मनाई और इस अवसर पर आयोजित भव्य समारोह व राष्ट्रीयता पर आधारित सांस्कृतिक संध्या में उस विशेषांक का लोकार्पण किया गया। इसके अतिरिक्त मंच ने 1857 को केंद्र में रखकर 'राष्ट्रचेता' नाम्नी एक विशेष स्मारिका भी प्रकाशित किया। मेरे संपादकत्व में प्रकाशित इन दोनों विशेषांकों में 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के साथ-साथ आजादी की लड़ाई से संबंधित विविध आयामों से जुड़ी स्मृतियों को संजोया गया जिसमें वीरांगना झलकारी बाई, जो झांसीवाली रानी लक्ष्मीबाई का वेष धारण कर रणचंडी बन अँग्रेजों पर टूट पड़ी थी, की वीरता पर विस्तार से चर्चा की गई। 'विचार दृष्टि' से अंतरंगता से जुड़े प्रसिद्ध दोहाकार राजभवन सिंह ने 'वीरांगना झलकारी बाई' शीर्षक कविता लिखकर 'राष्ट्रचेता' को पठनीय बनाया।

इसमें दो मत नहीं कि झांसी की रानी लक्ष्मीबाई सहित अनेक वीरांगनाओं के साहस, शौर्य और जीवट के किस्से टंके हुए हैं, जिनमें इनकी शहादतें प्रेरणा के अजस्र स्रोतों के रूप में मौजूद हैं। 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी' की अनुगूँज आज भी लोगों के कंठहार बनी हुई है, किंतु वीरांगना झलकारी बाई ने जिस बहादुरी और वीरता का परिचय 1857 की जंगे आजादी में दिया, उसकी शहादत का अवमूल्यन सही नहीं कहा जाएगा। यह वह झलकारी बाई ही थी जिसने रानी का वेष धारण कर अँग्रेजों

को भ्रमित किया था और उनके दाँत खट्टे किए थे। लक्ष्मीबाई ने महिलाओं की एक अलग टुकड़ी बनाई थी जिसका नाम था 'दुर्गा दल'।

झलकारी बाई झांसी के भोजला गाँव में 22 नवंबर 1830 को जन्मी थी और उनके पिता मूलचंद्र फौज में थे। उनके घर का वातावरण देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत था। पिता ने प्रारंभ से ही झलकारी को सैनिक की शिक्षा दी थी और तीर, भाले, बरछी चलाने, पेड़ों पर चढ़ने, ऊँचाई से छलांग लगाने में पारंगत कर दिया था। एक बार झलकारी बाई 'जंगल' से लकड़ी काट कर ला रही थी कि इसी बीच उसका सामना एक चीते से हो गया। कहा जाता है कि झलकारी ने अपनी कटार से प्रहार कर चीते का काम तमाम कर दिया और उसे कँधे पर लादकर गाँव चली आई। झांसी की सेना में तोपची पुरन कोरी नामक सैनिक से झलकारी बाई की शादी हुई थी। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई जब उसे आशीर्वाद देने गईं, तो झलकारी बाई के नाक-नक्श व कद-काठी देखकर रानी बहुत प्रभावित हुई और फिर उसकी वीरता के किस्से सुनकर लक्ष्मीबाई ने उसे 'दुर्गादल' में भरती कर लिया। झलकारी बाई ने अपनी सेना दुर्गादल की हर महिला को फौलादी बनाकर देश पर मर-मिटने की उनमें तीव्र लालसा जगाई। सन् 1857 में जब अँग्रेजों की सेना ने झांसी के किले में घुसने की तैयारी की, तब चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। ऐसी स्थिति में झांसीवाली रानी लक्ष्मीबाई को किले से बाहर निकलना अत्यंत मुश्किल था, किंतु झलकारी बाई किसी तरह रानी के महल में पहुँच गई और दत्तक पुत्र सहित रानी को किले से बाहर निकालने की उसने योजना बनाई। किला चारों ओर से अँग्रेजों की सेना से घिरा हुआ था। ऐसे में रानी के लिए किले से बाहर निकलना खतरे से खाली नहीं था। झलकारी के कहने पर रानी ने अपने जेबर-जेबरात और कीमती वस्त्र उसे पहना दिए और अपने एक साधारण महिला का वेष धारण कर महल से बाहर निकल गई। रानी का वेष धारण कर झलकारी बाई रणचंडी बन अँग्रेजों पर टूट पड़ी। इसी बीच झांसी के देशद्रोही दुल्हाज ने हयारोज को बता दिया कि जिसे वे रानी लक्ष्मीबाई समझ रहे हैं, वह तो लक्ष्मीबाई की दुर्गादल की कमांडर झलकारी बाई है। अँग्रेजी फौज ने झलकारी को गिरफ्तार कर लिया। झलकारी बाई अँग्रेजों के हाथ पड़ तो गई, लेकिन उनके हाथों वह मरना नहीं चाहती थी। अत: अपनी सखी वीरबाला के हाथों अपनी जीवनलीला समाप्त कर शहीद हो गई।

❖❖❖

बहुत क़रीने से संजोयी जीवन से जुड़ी कथा-स्मृतियाँ

बीते दिनों की यादें इंसान का पीछा नहीं छोड़तीं और फिर जब यादें जाने-माने शख़्सियत से जुड़ी हों, तो उन्हें भुलाना आसान नहीं होता। संस्मरण लेखक के रूप में अपनी अलग पहचान बनाने वाले चर्चित पत्रकार सिद्धेश्वर ने उन व्यक्तित्वों से जुड़ी ऐसी आपबीती घटनाओं की चर्चा की है इन संस्मरणात्मक निबंधों में, जो पाठकों के मानसिक पटल पर सहसा रेखांकित हो आते हैं इनसे गुज़रने के बाद।

- डॉ. हरि सिंह पाल

यशस्वी शख़्सियत के प्रति लेखक की गहरी आत्मीयता की झलक

'हमें अलविदा ना कहें' भाग-1 और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' भाग-2 'विचार दृष्टि' के संस्थापक-संपादक एवं साहित्यकार सिद्धेश्वर जी के संस्मरणात्मक निबंधों के दो विशिष्ट और संग्रहणीय संकलन हैं। कलेवर और साज-सज्जा में नयनाभिराम तथा तथ्यों से भरपूर यह दोनों किताब एक महत्त्वपूर्ण लेखक की संस्मरण- यात्रा की दास्तान मात्र नहीं, अपितु हिंदी साहित्य के विशिष्ट काल-खंड का विश्वसनीय ऐतिहासिक दस्तावेज भी हैं।

- प्रो. (डॉ.) साधु शरण

संस्मरणात्मक निबंधों में घिसे-पिटे ढर्रे को तोड़ने का प्रयास

समाज में बदलाव लाने के लिए निरंतर प्रयासरत सिद्धेश्वर जी मामूली सुविधाओं के होते हुए भी 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' जैसी संस्मरण विधा की दो किताबें लिखकर घिसे-पिटे ढर्रे को उन्होंने तोड़ने की कोशिश की है और उन तमाम लोगों को यह उम्मीद दिला सके हैं कि बदलाव का सपना उसके लिए भी सच हो सकता है।

- आचार्य रामविलास मेहता

रचनात्मकता की नई उवर्राभूमि की तलाश

संस्मरणात्मक निबंध संग्रह की ये दोनों पुस्तकें 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' समय-समय पर लेखक सिद्धेश्वर जी द्वारा 'विचार दृष्टि' पत्रिका में लिखे गए संस्मरणों के संकलन हैं। संग्रह बहुश्रुत और बहुप्रचारित रचनात्मकता की सतही तार्किकता के साथ प्रस्तुत नहीं, बल्कि तेज़ी से बदलती हुई दुनिया में नए शिल्प का वह आवरण लिए हुए हैं, जो न केवल रचनात्मकता की नई उर्वरा भूमि की तलाश करते हैं, अपितु एक गंभीर पाठक की कल्पनाशीलता को परिमार्जित करने का दुस्साहस भी।

- प्रो. (डॉ.) पी. लता

संस्मरणों में खुदरेपन के साथ खूबसूरत मानवीय भावबोध

सिद्धेश्वर जी ने अपने संस्मरणात्मक निबंधों में नायकों के जीवन-संघर्ष को बड़ी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है जिनमें समय की धड़कन सुनी जा सकती है। लेखक ने संस्मरणों की अभिव्यक्ति में दृष्टिकोण के स्तर पर भी जो ईमानदारी बरती है, वह काबिलेतारीफ है। लेखक की दृष्टि बहुत दूर तक तक गई है। इसलिए यह सिर्फ नायकों की जीवन गाथा के दृश्यों का संग्रह भर नहीं है, बल्कि पूरा समाज उनसे अपनी धड़कने पाता है।

- डॉ. शाहिद जमील

अमूल्य विभूतियों की रचनात्मकता को ऊँचाइयाँ प्रदान करने का सफल प्रयास

संस्मरणात्मक निबंध संग्रह की इन दो पुस्तकों 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' में लेखक के सभी संस्मरणात्मक निबंधों को संकलित किया गया है और इस प्रकार उन्होंने एक बार फिर अपनी गौरवशाली परंपरा को आगे बढ़ाने में अपना रचनात्मक सहयोग प्रदान किया है। मैं समझता हूँ कि इनका प्रयास काफ़ी हद तक सफल रहा है और देश के विभिन्न क्षेत्रों की विभूतियों को ये बहुत हद तक स्मरण कर पाए हैं।

- डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'

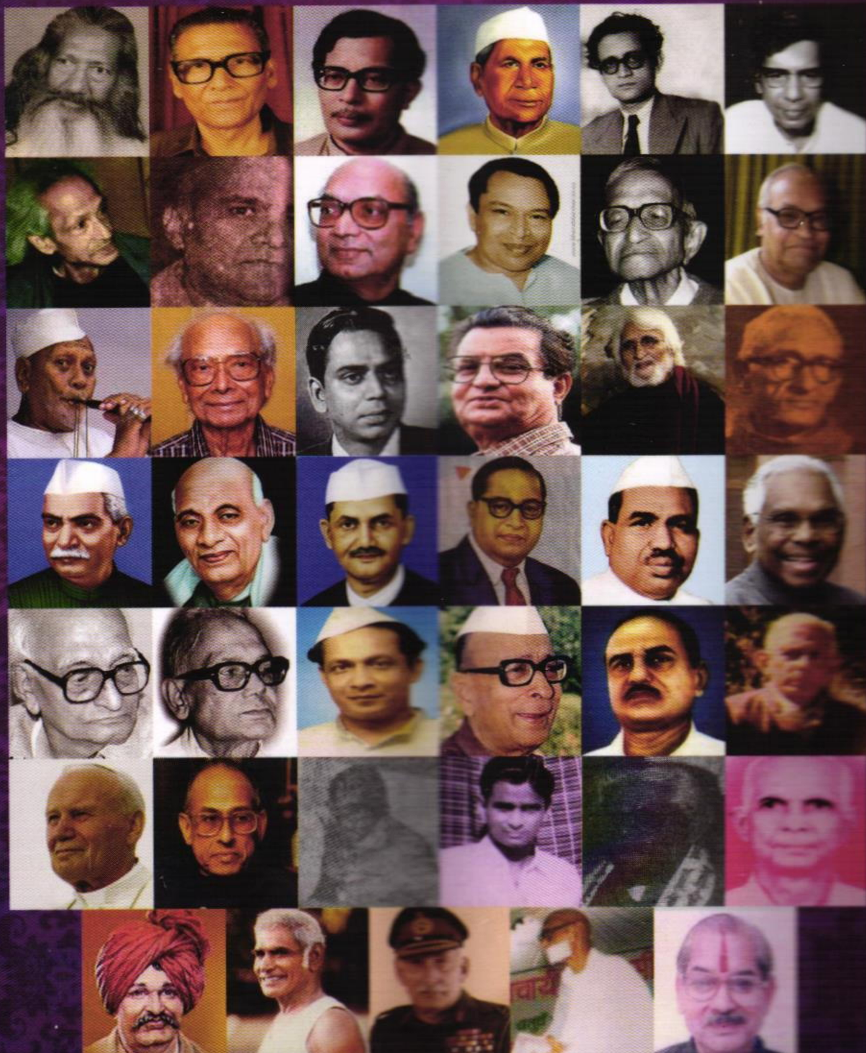

लेखक के सहयोगी एवं शुभेच्छु

प्रकाशक - सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन
दिल्ली-92